अहिंसा और अणुव्रत

सिद्धान्त और प्रयोग

जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा और अणुव्रत

(सिद्धान्त और प्रयोग)

(अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा बी.ए. पाठ्यक्रम के अन्तर्गत
'जीवन-विज्ञान और जैन विद्या' विषय के लिए स्वीकृत)

निदेशन

आचार्य तुलसी

आचार्य महाप्रज्ञ

समाकलन :

मुनि सुखलाल

आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

जैन विश्व भारती

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाकलन :
मुनि सुखलाल
डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूँ-341306 (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूँ

ISBN 81-7195-024-8

पंचम संस्करण : 2007

मूल्य : 100/- रुपये

मुद्रक : कला भारती नवीन शाहदरा दिल्ली-32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाथेय

विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय शिक्षा के ये तीन संस्थान हैं। इनमें प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी के उद्देश्य पर गम्भीर चिन्तन आवश्यक है। यदि वह केवल अच्छी आजीविका के उद्देश्य से अध्ययन करता है तो यह उद्देश्य व्यापक नहीं है। तर्कशास्त्र की भाषा में उद्देश्य में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष नहीं होना चाहिए।

अध्यापक और प्राध्यापक यदि विद्यार्थी को कला, शिल्प और कर्मदक्ष बनाने के उद्देश्य से ही पढ़ाते हैं तो यह भी विशुद्धि नहीं है। उद्देश्य होना चाहिए जीवन का सर्वांगीण अथवा संतुलित विकास। अर्थार्जन की योग्यता प्राप्त करना जीवन का बाह्यपक्ष है। भावात्मक संतुलन का विकास करना आंतरिक पक्ष है। अध्ययन का उद्देश्य हो सकता है—दोनों पक्षों का संतुलित विकास।

शिक्षा के क्षेत्र में दोनों पक्षों के संतुलन की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है, इसीलिए समाज में अनैतिकता का चक्र चल रहा है, हिंसा बढ़ रही है। यदि प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को नैतिकता अथवा अणुव्रत की शिक्षा दी जाए और अहिंसा के प्रयोग कराएँ जाए तो हिंसा और अनैतिकता—दोनों स्थितियों में परिवर्तन की सम्भावना की जा सकती है।

अजमेर विश्वविद्यालय ने 'जीवन विज्ञान और जैनविद्या' के स्नातक-स्तरीय विषय को स्वीकृति देकर इस क्षेत्र में एक नया आयाम खोला है।

आचार्यश्री तुलसी के दिशादर्शन में जीवन विज्ञान और अहिंसा-प्रशिक्षण के क्षेत्र में अनेक प्रयोग चल रहे हैं। जैन विश्वभारती संस्थान (डीम्ड युनिवर्सिटी) उन प्रयोगों के लिए प्रयोग-स्थली बन रही है। वे प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक बनें, यह हमारी महत्त्वाकांक्षा नहीं, सदकांक्षा है। मुनि सुखलालजी और आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश' ने प्रस्तुत पुस्तक का समाकलन करने में काफी श्रम किया है। उनका श्रम विद्यार्थी वर्ग के जीवन का प्रकाश-सेतु बने।

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

अहिंसा एक जीवंत सत्य है, पर उसे लोकोत्तर विकास के साथ जोड़कर अधिकांश धार्मिकों ने उसे क्रियाकांडों में ही परिसीमित कर दिया। उसका परिणाम भी सामने आया। लोकोत्तर विकास हुआ या नहीं हुआ, पर लोक-व्यवस्था अवश्य चरमरा गई। कुछ राष्ट्र जहाँ अनैतिकता के चक्रव्यूह में फंसकर निस्तेज हो गए वहाँ कुछ राष्ट्र संकीर्ण स्वार्थवाद में फँसकर दूसरों के लिए सिरदर्द बन गए। कुल मिलाकर आज पूरी मानवजाति एक संकट में फँस गयी है। युद्ध, शोषण, भेदभाव आदि जीवन के साथ जुड़ गए हैं। ऐसी विकट एवं भयावह स्थिति में आज से 45 वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के रूप में संयम का एक आंदोलन शुरू किया। जाति, रंग, राष्ट्र आदि से ऊपर उठकर चरित्र-शुद्धि का एक अनूठा आंदोलन बन गया। राष्ट्र के सभी वर्गों के लोगों ने इसका समादर किया और धीरे-धीरे अणुव्रत नैतिकता का एक पर्याय बन गया। लाखों लोगों ने इसका परिचय प्राप्त कर इसे जीवन में आचरित करने का संकल्प लिया। नैतिकता के क्षेत्र में यह न केवल एक प्रभावी आन्दोलन है अपितु इसने अपना एक लम्बा और यशस्वी इतिहास बनाया है। लोक-चेतना को जागृत एवं संयमित बनाना ही इसका उद्देश्य रहा है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि अब शिक्षा-क्षेत्र में भी इस विचार को आदर मिल रहा है। अजमेर विश्वविद्यालय ने स्नातक द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में इसे एक पृथक् प्रश्न-पत्र के रूप में शामिल कर एक श्लाघनीय पहल की है। जहाँ एक ओर शिक्षा जगत् में भौतिकता प्रभावी है, वहीं अजमेर विश्वविद्यालय का यह कदम सम्पूर्ण मानवता के लिए वरदान सिद्ध होगा। आज इस तरह के साहसपूर्ण निर्णय की न केवल आवश्यकता है अपितु अत्यधिक उपयोगिता भी है। इस दिशा में अजमेर विश्वविद्यालय का यह निर्णय मील का पत्थर साबित होगा तथा अन्य विश्वविद्यालय भी इसका अनुकरण कर शिक्षा-जगत् में क्रांतिकारी परिवर्तन कर अभिशप्त मानवता को त्राण दिलाने में अहं भूमिका अदा करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञ के विपुल वाङ्मय में अणुव्रत से संदर्भित विचारों की एक समृद्ध सम्पदा है। विश्वविद्यालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए इनके मौलिक विचारों को एक पाठ्य-पुस्तक में संकलित करने का प्रस्ताव हमारे सामने आया। सागर को गागर में समेटना बहुत कठिन होता है किन्तु छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस दिशा में तत्परता से कार्य प्रारंभ किया गया। जिसके फलस्वरूप इस पुस्तक को एक उपयोगी आकार मिला।

आचार्यश्री एवं युवाचार्यश्री की जिन पुस्तकों के संदर्भ इस संकलन में लिये गए हैं, वे हैं–

अणुव्रत के आलोक में	–आचार्य तुलसी
अणुव्रत-दर्शन	–युवाचार्य महाप्रज्ञ
अहिंसा तत्त्व-दर्शन	–युवाचार्य महाप्रज्ञ
गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का	–आचार्य तुलसी

महाश्रमण मुनिश्री मुदितकुमारजी एवं मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी के चिन्तन और मनन का तो लाभ मिला ही, साथ ही इसके प्रयोग पक्ष पर लेखनी चलाकर उन्होंने इस कार्य को आसान बना दिया। मुनिश्री किशनलालजी के आसन, प्राणायाम और यौगिक क्रिया सम्बन्धी प्रयोगों का आकलन भी इसमें हुआ है। हमें आशा एवं विश्वास है कि अहिंसा और अणुव्रत के अध्ययन में छात्रों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

26–11–91 **मुनि सुखलाल**

लाडनूँ, राज. **आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

खंड प्रथम : सिद्धांत

1. अहिंसा का सिद्धांत 1–16

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा तत्त्व-दर्शन, पृ. 3)

1. अहिंसा का स्वरूप 1–3

अहिंसा का आदि-स्रोत, सामाजिक अस्तित्व और अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा।

2. विभिन्न भारतीय-दर्शनों में अहिंसा 3–11

आत्मौपम्य-दृष्टि, अहिंसा के दो रूप, अहिंसा की परिभाषा, भारतीय दर्शनों में अहिंसा।

3. अहिंसा का विश्लेषण 11–16

अहिंसा का आदि-स्रोत, सामाजिक अस्तित्व और अहिंसा, आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा।

2. अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप 17–50

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 1)

1. हमारी जीवन शैली और अहिंसा 17–24

व्यावहारिक अहिंसा, हिंसा का भाव आकस्मिक नहीं, मूल्यांकन का दृष्टिकोण, पारमार्थिक अहिंसा, अहिंसा का संकेत, अहिंसा का मूलाधार, मूल को पकड़ें, आवश्यक है संतुलन।

2. अहिंसा और आहार 24–31

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 30)

आहार से जुड़े कुछ तत्त्व, भोजन से जुड़ी समस्याएँ, भोजन : दो पहलू, आदमी हत्यारा क्यों बनता है?, मूड क्यों बिगड़ता है?, तिनका मूसल बन गया, भावनात्मक असंतुलन का मुख्य घटक : आहार, अन्न और मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सम्बन्ध, अहिंसा का महत्त्वपूर्ण सूत्र, हिंसा पर अंकुश का मार्ग, आहार का एक पहलू—अनाहार, आहार और स्वास्थ्य, चिन्तन की दयनीय स्थिति।

3. अहिंसा और आसन **31–38**

—युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 38)

आवश्यक है श्रम, कल्पना इक्कीसवीं शताब्दी की, आसन और अहिंसा, सही निदान को प्राथमिकता, सबसे ज्यादा मूल्य है भाव का, प्रश्न है भावतंत्र को मजबूत बनाने का, बात कल्पना से परे, युद्ध पहले मस्तिष्क में, अहिंसा : शारीरिक दृष्टि, विष-निष्कासन का साधन : आसन, अहिंसा का सम्बन्ध है आसन से।

4. अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण **38–46**

—युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 46)

एक विरोधाभास, प्रश्न-चिह्न : अहिंसक के सामने, आस्था मत बदलो, संस्कारगत है हिंसा, गलत दृष्टिकोण से बचें, अनिवार्य है अहिंसा का प्रशिक्षण, प्रशिक्षण का विशेष प्रयोग, मुक्त हो बंधनों से, जरूरत है जागरूक प्रयत्न की, गुणवत्ता पर ध्यान, जरूरत है विचार क्रांति की।

5. हिंसा : मानसिक तनाव और नशा **46–48**

—युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 39)

मानसिक तनाव का हेतु, नशे की आदत की फलश्रुति, असामंजस्य इच्छा और क्रिया में, अहिंसा के विकास का सशक्त साधन।

6. जीवन मरण से जुड़ी हुई हिंसा और अहिंसा **48–50**

—युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 21)

रहस्यपूर्ण संवाद, बालमरण : अस्वस्थता का चिह्न, निष्कर्ष एक ही है, साध्य-साधन की शुद्धि, अहिंसा है मोह-विलय की साधना।

3. अहिंसा और नि:शस्त्रीकरण **51–73**

—युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 3)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. महावीर की अहिंसा और नि:शस्त्रीकरण **51–54**

हिंसा का प्रयोग एक हथियार के रूप में, अहिंसा की प्रथम आचार-संहिता, मूल है भावनात्मक शस्त्र, अस्तित्व का संकट।

2. वर्तमान नि:शस्त्रीकरण **54–56**

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जीत के बाद हार की खामोशी, नि:शस्त्रीकरण की त्रिपदी, रूस और अमेरिका, अहिंसा के आधार-स्तम्भ, छिपे हिमखंड को देखना।

3. युद्ध और अहिंसा **56–58**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 57)

युद्ध एक अवधारणा, शस्त्र का निर्माण, हिंसा का बीज प्रत्येक प्राणी में, अहिंसक समाज-रचना का आधार, अनाक्रमण की दीक्षा।

4. शस्त्र-विवेक **58–59**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अस्तित्व तत्त्व-दर्शन, पृ. 16)

5. पर्यावरण और उसका संतुलन **59–65**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और अहिंसा, पृ. 16)

पर्यावरण-असंतुलन, समस्या का कारण, भविष्य विश्व का, क्यों बिगड़ रहा है संतुलन, पर्यावरण-विज्ञान : अहिंसा, भविष्यवाणी भगवती सूत्र की, धोखा खा रहा है आदमी, काल की उदीरणा न हो, समाधान-सूत्र, सीमातीत उपभोग, संकल्प लें, वर्तमान संदर्भ।

6. वनस्पति जगत् और हम **65–70**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अस्तित्व और अहिंसा, पृ. 24)

जीवन का नया दौर, प्राण शक्ति : मुख्य आधार, आत्मतुला, अभय का अवदान, बीमारी का कारण, महत्त्वपूर्ण स्वीकृति, कृत्रिम क्षुधा से बचें, अर्थशास्त्र का सूत्र, प्रश्न आवश्यकता का, विराम कहाँ होगा?, महावीर का अहिंसा-दर्शन, विषय : आवर्त।

7. हम अकेले नहीं हैं **70–73**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 9)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यावरण का मौलिक सूत्र, कोई भी अकेला नहीं, सामंजस्य का सूत्र अहिंसा, पर्यावरण असंतुलन क्यों ?, वर्तमान समस्या, हिंसा और अहिंसा का प्रारंभिक बिन्दु, अहिंसा का पहला सिद्धांत।

4. अहिंसा और शांति **74-104**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 65)

1. सामाजिक जीवन की समस्या और सह-अस्तित्व **74-82**

विरोध : समाज की प्रकृति, विरोध-परिहार का मार्ग : अनेकान्त, अनेकान्त का निष्कर्ष, एक शाश्वत युगल : विरोध और अविरोध, सह-अस्तित्व का दार्शनिक सम्बन्ध, सह-अस्तित्व के तीन सूत्र, आश्वासन की नींव का समझौता, अहिंसा और सह-अस्तित्व, अहिंसा : वर्तमान मानस, जातिवाद : सह-अस्तित्व में बाधक, व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्नता क्यों ?, सब मनुष्य समान हैं, भाषाई आधार पर प्रान्तों का बटवारा : एक बड़ी भूल, भेद : अभेद, अहिंसा का प्राणभूत सिद्धांत, भेद है उपयोगिता : अभेद है वास्तविकता, समाज का मूल आधार : सह-अस्तित्व, समस्या है परस्परता का अभाव, जरूरी है प्रशिक्षण और प्रयोग।

2. आर्थिक जीवन और सापेक्षता **82-91**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 75)

इच्छा : प्राणी का लक्षण, असीम इच्छा : एक समस्या, मार्क्सवाद की उत्पत्ति का मूल बीज, उपार्जन और स्वामित्व, भोग : परिग्रह का फल, आर्थिक जीवन का एक पहलू : शोषण, कर्मवाद : एक अवधारणा, अपराध का कारण : आर्थिक असंतुलन, निर्धनता भी अपराध का कारण, अपराध : बिना श्रम किये पाने की मनोवृत्ति, हिंसा क्यों ?, परिग्रह के लिए हिंसा, अशांति : अभाव और अतिभाव, पहली समस्या है आर्थिक, समाधान का सूत्र : सापेक्षता, सापेक्षवाद : नया संदर्भ, अध्यात्म सापेक्षता, सामाजिक समस्या और सापेक्षता, क्षमता : स्वामित्व, इच्छा-परिमाण : अर्थ की सीमा, कम्यून का दोष, वैयक्तिकता : व्यक्तिवाद, आध्यात्मिक सापेक्षवाद, समस्या का समाधान : स्वामित्व का सीमांकन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. भावनात्मक स्वास्थ्य 91-99

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा के अछुते पहलू, पृ. 108)

स्वभाव-निर्माण की प्रक्रिया, सामायिक : स्वभाव निर्माण का संकल्प, संवेग से जुड़ा है व्यवहार, पाचन क्रिया और स्वभाव, स्वभाव और अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ, स्वभाव और अंतर्द्वन्द्व निवृत्ति, स्वभाव एक पर्याय है, संकल्प स्वभाव परिवर्तन का, सबसे ज्यादा मूल्यवान् भावनात्मक स्वास्थ्य।

4. अहिंसा और शांति 99-102

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 77)

प्रश्न है अहिंसा की प्रतिष्ठा का, हिंसा : कारणों की खोज, अहिंसक संस्थाओं का अपना मंच हो, अहिंसा की सफलता के सूत्र।

5. मस्तिष्क नियंत्रण और जैविक घड़ी 102-104

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अहिंसा और शांति, पृ. 108)

5. अणुव्रत का स्वरूप 105-124

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 13)

1. अणुव्रत-दर्शन 105-107

व्रत अणु क्यों ?, व्रत और समाज-कल्याण, अणुव्रत नया तत्त्व है या प्राचीन ?

2. व्रतों की भाषा और भावना 108-115

–आचार्य तुलसी (अणुव्रत के आलोक में, पृ. 39)

3. व्रत और अप्रमाद के संस्कार, व्रत का आधार 115

4. अणुव्रत रचनात्मक है या निषेधात्मक 115-119

5. प्रतिरोधात्मक शक्ति 119-121

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत-दर्शन, पृ. 27)

6. अणुव्रत की प्रेरणा 121-122

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत-दर्शन, पृ. 37)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. व्रत साधना : सामाजिक मूल्य **122–124**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत-दर्शन, पृ. 39)

6. अणुव्रत आंदोलन **125–151**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 45)

1. अणुव्रत का आन्दोलन क्यों? **125–132**

व्यवस्था-सुधार या वृत्ति-सुधार।

2. अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक **132–133**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 55)

3. अणुव्रती की पात्रता **133–135**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 56)

व्यक्ति-निर्माण की दिशा, नैतिक श्रद्धा का जागरण, संख्या और व्यक्तित्व, संघटन या विघटन।

4. अणुव्रत आन्दोलन का प्रसार **135–139**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 60)

5. अणुव्रत के संदर्भ में नैतिकता **139–143**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 69)

नैतिकता क्या है?, क्या नैतिकता परिवर्तनशील है?, अनैतिकता का मूल क्या है?, नैतिक-विकास क्यों?, नैतिक-विकास की भूमिका।

6. अध्यात्म और नैतिकता **143–150**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 75)

नैतिकता की समस्या : निष्ठा का अभाव, समस्या का मूल, निष्ठा : स्वरूप और आधार, निष्ठा की कमी : संदर्शन और निदर्शन, गतिशीलता की अपेक्षा, एकाग्रता का अभ्यास।

7. क्रांति का नया आयाम **150–151**

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 114)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. अहिंसक समाज-रचना **152-172**

-युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 87)

1. अहिंसा की पृष्ठभूमि **152-154**

2. अहिंसा की सफलता **154**

3. अहिंसा और स्वतंत्रता **154**

4. राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा-अणुव्रत **156-159**

5. आध्यात्मिक समतावाद **159-163**

आत्मतुला का विस्तार

6. अहिंसक समाज-संरचना की संभावना **163-166**

हिंसक समाज और अहिंसक समाज, पुरुषार्थ का संतुलन, व्यक्ति और समाज, अहिंसा : संस्कार-परिवर्तन की प्रक्रिया।

7. अहिंसक समाज-व्यवस्था **166-172**

-युवाचार्य महाप्रज्ञ (अणुव्रत दर्शन, पृ. 107)

अहिंसक समाज-व्यवस्था : तीन भूमिकाएँ, शासन मुक्त या शासन युक्त ?, व्यक्तिगत स्वामित्व, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा क्या होगी ?, सुरक्षा की निर्भरता, मूल्यों का परिवर्तन।

खंड द्वितीय : प्रयोग

1. कायोत्सर्ग **175-192**

-मुन किशनलाल (जीवन-विज्ञान)

2. आसन

-मुनि किशनलाल (आसन और प्राणायाम)

आसन क्या और क्यों ?

आसन और शक्ति-संवर्धन, आसन और स्वास्थ्य, आसन का उद्देश्य।

आसन-प्राणायाम के आवश्यक विधि-निषेध

सावधानियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन

1. शशांकासन, 2. अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, 3. बद्ध पद्मासन, 4. योगमुद्रा, 5. पश्चिमोत्तानासन, 6. गोदुहासन, 7. सिंहासन, 8. उष्ट्रासन, 9. चक्रासन।

3. अनुप्रेक्षाएँ **193–241**

–आचार्य तुलसी (गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का)।

–युवाचार्य महाप्रज्ञ (अमूर्त्त चिंतन)

मैत्री की अनुप्रेक्षा **193–197**

प्रयोग विधि, स्वाध्याय और मनन–स्वयं सत्य खोजें; सबके साथ मैत्री करें; मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव; सरस जीवन की प्रक्रिया–मृदुता; मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना; खमतखामणा का वास्तविक अर्थ; इकोलॉजी : अहिंसा जगत् का विकास।

करुणा की अनुप्रेक्षा **197–202**

प्रयोग-विधि; मनन और स्वाध्याय–क्रूरता की समस्या : करुणा का समाधान; करुणा का अजस्र-स्रोत।

अभय की अनुप्रेक्षा **202–208**

प्रयोग-विधि; मनन और स्वाध्याय–अप्रमाद और अभय; अभय की मुद्रा; अपराध को पकड़ने का वैज्ञानिक उपकरण; जागृति का मूल अभय; अभय की निष्पत्ति वीतरागता।

सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा **208–214**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन–कष्ट सहिष्णुता; भगवान् महावीर की सहिष्णुता के सूत्र; परिवर्तन की प्रक्रिया–सहिष्णुता; मनोबल की शिक्षा–सहिष्णुता; सहिष्णुता का अभाव।

संकल्प–शक्ति की अनुप्रेक्षा **214–219**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन–संकल्प की शक्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मतुला की अनुप्रेक्षा **219–224**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन – तराजू के दो पल्ले; अभय का अवदान; महत्त्वपूर्ण स्वीकृति; क्रूरता की पृष्ठभूमि; जटिल है लोभ की वृत्ति; क्या करुणा जागेगी ?; कहाँ है दिल और दिमाग ?; कल्पना-सूत्र; शोषण-परिहार का सिद्धांत।

अहिंसा अणुव्रत की अनुप्रेक्षा **224–227**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन – अहिंसा की सम्भावना; अहिंसा का पराक्रम।

सत्य की अनुप्रेक्षा : अचौर्य की अनुप्रेक्षा **227–233**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन – सत्य क्या है ?; सत्य का उद्घाटन; सत्य का अणुव्रत; स्वाध्याय और मनन – अचौर्य की दिशा; अप्रामाणिकता का उत्स; प्रामाणिकता का आचरण।

ब्रह्मचर्य – अणुव्रत की अनुप्रेक्षा **233–237**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन – ब्रह्मचर्य का महत्त्व; ब्रह्मचर्य की शक्ति।

अपरिग्रह अणुव्रत की अनुप्रेक्षा **237–241**

प्रयोग-विधि; स्वाध्याय और मनन – अपरिग्रह और विसर्जन; परिग्रह का मूल; अपरिग्रह-चेतना का विकास।

4. रंगों का ध्यान **241**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड प्रथम
सिद्धांत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. अहिंसा का सिद्धांत

1.1 अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा का आदिस्रोत

अहिंसा की स्थापना का पहला दिन सुन्दर अतीत के गर्भ में है, इसलिए वह हमें ज्ञात नहीं है। अज्ञात के विषय में हम या तो कल्पना कर सकते हैं या अनुमान। कल्पना और अनुमान अपने-अपने संस्कारों के अनुसार चलते हैं, इसीलिए सारे कल्पनाकार और अनुमाता किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते।

फिर भी अहिंसा की व्याप्ति और स्वीकृति अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में अधिक है, इसलिए उसका अस्तित्व जैनदर्शन और धर्म की परम्परा में खोजना ही अधिक वास्तविक होगा।

सामाजिक अस्तित्व और अहिंसा

सामाजिक अस्तित्व से पहले यौगलिक जीवन की पद्धति प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री का सहजीवन था। वे लोग प्राकृतिक सम्पदा के सहारे जीते थे। खाने, रहने और पहनने-ओढ़ने के लिए वृक्षों पर निर्भर थे। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि वे वृक्षोपजीवी थे।

आवश्यकताएं कम थीं, इसलिए प्रवृत्तियां भी कम थीं। जनसंख्या कम थी। इसलिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरलता से हो जाती थी।

इसलिए यौगलिक मनुष्यों के सामने संघर्ष की स्थितियां नहीं थीं। वे शांत जीवन जीते थे। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ उपशान्त थे। संग्रह नहीं था, इसलिए न चोरी थी, न हिंसा और न लड़ाइयां। न कोई विधि-विधान था, न शासन और न कोई व्यवस्था। वे मुक्त और स्वावलम्बी जीवन जीते थे।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ नया मोड़ आ गया। तब प्राकृतिक वन-सम्पदा उनकी आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं रही। संघर्ष और छीना-झपटी के अंकुर पनपने लगे। इस परिस्थिति में सामाजिक जीवन और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

प्रारम्भ में कुलों और कुलकरों की व्यवस्था हुई। कृषि, व्यापार और सुरक्षा के प्रवर्तन के साथ-साथ आवश्यकताएं और प्रवृत्तियां दोनों बढ़ गईं।

जहां अनेक आवश्यकताएं और अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, वहां संग्रह-वृत्ति का विकास होता है। संग्रह के परिपार्श्व में हिंसा, असत्य और चोरी को भी विकसित होने का अवसर मिलता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ हिंसा आदि भी विकसित हुईं। हिंसा आदि के विकास से नव-निर्मित समाज में अव्यवस्था फैली, उसे कुलकर नहीं संभाल सके। उस परिस्थिति में राजतंत्र का उदय हुआ। दण्ड के द्वारा हिंसा आदि की रोकथाम और व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। यह हिंसा और उसके दमन की आदिम कहानी है।

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप में संगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकता हुई। दूसरे मनुष्य को मारने, सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ में अपने परिवार के मनुष्यों को न मारने की वृत्ति रही होगी, फिर क्रमशः अपने पड़ोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्य को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरों और पक्षियों को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिंसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई, इसलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही।

सामाजिक जीवन, आवश्यकताओं का विकास और प्रवृत्तियों का विकास—यह सामाजिक विकास का प्रवाह-क्रम है। इनमें दो विरोधी धाराएं विकसित होती हैं। जैसे—

1. हिंसा और अहिंसा,
2. सत्य और असत्य,
3. चौर्य और अचौर्य,
4. स्वार्थ और परार्थ।

यदि हिंसा आदि तत्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन उदित होने से पहले ही अस्त हो जाता और यदि अहिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन गतिशील नहीं बनता। इस तथ्य की स्वीकृति वास्तविकता की अभिव्यक्ति मात्र होगी कि हिंसा और अहिंसा—ये दोनों तत्त्व सामाजिक अस्तित्व को धारण किए हुए हैं। ये दोनों भिन्न दिशागामी हैं, इसलिए इन्हें विरोधी धाराएं कहा जा सकता है किन्तु दोनों एक लक्ष्य (समाज-विकास) गामी हैं, इस स्तर पर इन्हें अविरोधी धाराएं भी कहा जा सकता है।

आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा

कोई भी विकास एकपक्षीय धारा में अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता है। हर विकास की प्रतिक्रिया होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी तत्त्व का विकास-क्रम प्रारम्भ होता है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान बनाया । उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है । यह जगत् चेतन और अचतेन–इन दो सत्ताओं का सांसर्गिक अस्तित्व है । उस दिन सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतन्त्र के सामने आत्मतंत्र का प्रथम सूत्रपात हुआ । इस सूत्रपात ने अहिंसा आदि का मूल्य-परिवर्तन कर डाला । सामाजिक अस्तित्व के स्तर पर उसका मूल्य सापेक्ष और समीम था, वह आत्मिक अस्तित्व के स्तर पर निरपेक्ष और नि:सीम हो गया । सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था प्राणातिपात का आंशिक निषेध–मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना, और न मारने का लक्ष्य था, सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थायित्व ।

आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ प्राणातिपात का सर्वथा निषेध–किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करना । प्राणातिपात के सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति यानी परिपूर्ण आत्मोदय।

मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिंसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गई ।

व्यापक मर्यादा में इस भाषा को अव्याप्त माना गया कि प्राणातिपात ही हिंसा है और अप्राणातिपात ही अहिंसा है । वहां हिंसा और अहिंसा की परिभाषा की आधार-भित्ति अविरति और विरति बन गई । अविरति–यानी वह मानसिक ग्रन्थि जो मनुष्य को प्राणातिपात करने में सक्रिय करती है, जब तक उपशान्त या क्षीण नहीं होती तब तक हिंसा का बीज उन्मूलित नहीं होता । इसलिए हिंसा का मूल अविरति है, प्राणातिपात उसका परिणाम है । यह व्यक्त हिंसा उस मानसिक ग्रंथि या अव्यक्त हिंसा के अस्तित्व में ही संभव है । विरति-हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रंथि की मुक्ति जब हो जाती है , तब हिंसा का बीज उन्मूलित हो जाता है । अहिंसा का मूल विरति है, अप्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त अहिंसा हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रन्थि की मुक्ति होने पर ही विकासशील बनती है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व में अहिंसा के अर्थ,उद्गम और लक्ष्य में आमूलचूल परिवर्तन हो गया ।

1.2 विभिन्न भारतीय दर्शनों में अहिंसा

जैन ग्रंथों अहिंसा विचार

वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े हैं ।[1]

जो धर्म मोक्ष के अनुकूल है, उसे अनुधर्म कहते हैं, वह धर्म अहिंसा है। कष्टों के सहन को भी वीतराग ने धर्म कहा है ।[2]

1. आचारांग 1/1/36 : पणया वीरा महावीहिं।

2. सूत्रकृतांग 1/2/1/14 : अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए—यही ज्ञानियों के ज्ञान—वचनों का सार है । अहिंसा, समता—सब जीवों के प्रति आत्मवत्-भाव—इसे ही शाश्वत धर्म समझो।[1]

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा को भगवान् ने जीवों के लिए कल्याणकारी देखा है । सर्वजीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है ।[2]

अहिंसा का स्वरूप

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं । पृथ्वी आदि हरेक में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव हैं ।[3]

'उपर्युक्त स्थावर जीवों के उपरान्त त्रस प्राणी हैं, जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है । ये ही जीवों के छह वर्ग हैं । इनके सिवा दुनिया में और जीव नहीं हैं।'

'जगत् में कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर । एक पर्याय में होना या दूसरी पर्याय में होना कर्मों की विचित्रता है । अपनी-अपनी कमाई है जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं ।'

'एक ही जीव, जो एक जन्म में त्रस होता है, दूसरे जन्म में स्थावर हो सकता है । त्रस हों या स्थावर, सब जीवों को दु:ख अप्रिय होता है—यह समझकर मुमुक्षु सब जीवों के प्रति अहिंसा-भाव रखें ।'[4]

मनसा, वाचा और कर्मणा जो स्वयं जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या जो जीव-हिंसा का अनुमोदन करता है, वह प्रतिहिंसा को जगाता हुआ वैर की वृद्धि करता है ।[5]

ऊर्ध्व, अध: और तिर्यक्—तीनों लोकों में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उन सबके प्राणातिपात से विरत होना चाहिए । सब जीवों के प्रति वैर की शांति को ही निर्वाण कहा है ।[6]

---

1. सूत्रकृतांग, 1/1/4/10 : एवं खु नाणिणो सारं, जैन हिंसई किंचण। अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥
2. दशवैकालिक 6/9 : अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।
3. सूत्रकृतांग 1/11/5
4. सूत्रकृतांग 1/1/8
5. वही, 1/1/1/3 : सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहिं घायए।
   हणन्तं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो।
6. वही, 1/1/1/3 : उड्ढं अहे च तिरियं, जे केइ तसथावरा।
   सव्वत्थ विरइं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन, वचन और काया–इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है । ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है ।[1]

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिए निर्ग्रन्थ प्राणीवध का वर्जन करते हैं ।[2]

सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है । वध सबको अप्रिय है, जीना सबको प्रिय है । सब जीव लम्बे जीने की कामना करते हैं । सभी को जीवन प्रिय लगता है ।[3]

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवों के प्रति दुर्व्यवहार करते हुए पाप-कर्म का उपार्जन करते हैं ।[4]

जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है, वह अपनी आत्मा को दण्ड देने वाला है । वह दूसरे प्राणियों का हनन करके परमार्थतः अपनी आत्मा का ही हनन करता है ।[5]

आत्मौपम्य-दृष्टि

सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में तुल्य होती है । अहिंसा की भावना को समझने और बलवान् बनाने के लिए यह आत्म-तुला का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है । इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया है–छह जीव-निकाय को अपनी आत्मा के समान समझो ।[6]

'प्राणीमात्र को आत्म-तुल्य समझो ।'[7]

'हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर – वह तेरे जैसा ही सुख-दुख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा

1. दशवैकालिक 8/3 : तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए॥
2. वही, 6/10 : सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं॥
3. आचारांग 1/2/63, 64 : सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।
4. सूत्रकृतांग 1/2/63, 64
5. आचारांग, 1/7/9
6. दशवैकालिक 10/5 : अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाये।
7. सूत्रकृतांग 1/10/3 : आय तुले पयासु .....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, विचार कर- वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दुख देने का विचार करता है, विचार कर–वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश में करने की इच्छा करता है विचार कर–वह तेरे जैसे ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर–वह तेरे जैसा ही प्राणी है ।'[1]

'सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है, न किसी को मारता है, और न किसी की घात करता है ।'

'जो हिंसा करता है उसका फल पीछे भोगना पड़ता है । अत: किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करो ।'

'जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, कंकर, आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, तर्जन करे, दु:ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दु:ख होता है । जैसे मृत्यु से लेकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दु:ख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है- यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए । यह धर्म ध्रुव और शाश्वत है ।' पाश्चात्य विद्वान जे.एस. मिल ने कहा कि पड़ौसी को आत्मवत् समझो और गांधीजी के अनुसार जैसी अपेक्षा दूसरों से अपने लिए करते हो वैसा ही वर्ताव उनके प्रति करो । आत्मौपम्य दृष्टि की सार्थकता यही है ।

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है - हिंसा न करना । न+हिंसा–इन दो शब्दों से अहिंसा शब्द बना है । इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विध्यात्मक–दोनों हैं । राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है । सत्-प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म-सेवा, उपदेश, ज्ञान-चर्चा आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विध्यात्मक अहिंसा है। संयमी के द्वारा अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानी हिंसा नहीं है । निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा में सत्-क्रियात्मक सक्रियता होती है । यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है । गहराई में पहुंचने पर बात कुछ और है । निषेध में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निषेध होता ही है । निषेधात्मक अहिंसा में सत्-प्रवृत्तिऔर सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नहीं होगी। इसलिए निषेधात्मक-अहिंसा में सत्वृत्ति की अपेक्षा रहती हे, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म । सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नहीं हो सकती, यह निश्चय-दृष्टि की बात है । व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है ।

1. आचारांग, 1/5/101-103

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो. तान-युन शान ने अहिंसा के दो रूपों की चर्चा करते हुए लिखा है - 'अहिंसा भारतीय एवं चीनी संस्कृति का सामान्यतया प्रमुख अंग है । भारत में निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या प्रचलित है और चीन में विध्यात्मक स्वरूप की।' गांधीजी ने भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था–'इस देह में जीवन-धारण करने में कुछ न कुछ हिंसा होती है । अतः श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा में हिंसा न करना रूप निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या की गई है।'[1]

आत्म तुला के मर्म को समझे बिना हिंसा-वृत्ति नहीं छूटती । इसीलिए अहिंसा में मैत्री-रूप विधि और अमैत्री–त्याग-रूप निषेध–दोनों समाए हुए हैं।

सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ–इन शब्दों में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त–विधेयात्मक औरनिषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है- 'सब में अपने आपको देखो।' निषेधात्मक में एकता का संदेश है- 'सब में एक आपको देखो ।' निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है –'किसी को भी हानि मत पहुंचाओ ।' सबमें अपने आपको देखने का अर्थ है–सबको हानि पहुंचाने से बचना । यह हानि-रहितता सबमें एक की कल्पना से विकसित होती है।[2]

स्थानांग-सूत्र में संयम की परिभाषा बताते हुए लिखा है–सुख का व्यपरोपण या वियोग न करना और दुःख का संयोग न करना–संयम है ।[3]

आचारांग-सूत्र में धर्म की परिभाषा बताते हुए लिखा है–सब प्राणियों को मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उनको अधीन मत करो, दास-दासी की तरह पराधीन बनाकर मत रखो, प्राण-वियोग मत करो । यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ तीर्थंकरों ने उसका उपदेश किया है ।[4] यह भी निवृत्ति रूप अहिंसा है ।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा–भगवन् ! जीवों के सात-वेदनीय कर्म का बन्ध कैसे होता है ?

भगवान् ने कहा–प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करने से, दुःख न देने से, शोक न उपजाने से, खेद उत्पन्न नहीं करने से, वेदना न देने से, न मारने से, परिताप न देने से जीव सातवेदीय कर्म का बन्ध करते हैं ।[5]

1. अमृत बाजार पत्रिका, पृ. 18, दिनांक 31 अक्टूबर, 1944
2. हिन्दुस्तान, दिनांक 28 मार्च, 1953, पृ. 40 : भगवान महावीर – उनका जीवन और संदेश ।
3. स्थानांग 4/4
4. आचारांग 1/4/1, 2 : सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परितवेयव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुए, नियए, सासए ...
5. भगवती 7/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुकम्पा से यानी सन्ताप आदि न देने से सुख-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है । यही तत्त्व इसके पूर्ववर्ती पाठ में मिलता है ।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! जीवों के अकर्कश वेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं?

भगवान् ने कहा—प्राणातिपार्त-विरति यावत् परिग्रह की विरति से क्रोधत्याग यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के त्याग से जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं।[1]

भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति रूप अहिंसा का भी विधान किया है, किन्तु सब प्रवृत्ति अहिंसा नहीं होती । चारित्र में जो प्रवृत्ति है, वह अहिंसा है । अहिंसा के क्षेत्र में आत्मलक्षी प्रवृत्ति का विधान है और संसारलक्षी या पर-पदार्थ-लक्षी प्रवृत्ति का निषेध । ये दोनों क्रमशः विधि-रूप अहिंसा और निषेधरूप अहिंसा बनते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—समिति—सत्व्यापार, यह प्रवृत्ति धर्म है और गुप्ति—असत्-व्यापार का नियंत्रण, यह निवृत्ति धर्म है ।[2]

'सर्व प्राणियों के साथ मैत्री रखो'[3] —यह भी प्रवृत्ति रूप अहिंसा का विधान करता है ।

वस्तु-तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझ कर पीड़ित नहीं करते । वे समझते हैं—जैसे कोई दुष्ट पुरुष मुझे मारता है, गाली देता है, बलात्कार से दास-दासी बना अपनी आज्ञा का पालन कराता है, तब मैं जैसा दुःख अनुभव करता हूं, वैसे ही दूसरे प्राणी भी मारने-पीटने, गाली देने, बलात्कार से दास-दासी बना आज्ञा-पालन करने से दुःख अनुभव करते होंगे । इसलिए किसी भी प्राणी को मारना, कष्ट देना, बलात् आज्ञा मनवाना उचित नहीं ।[4]

इस प्रकार आत्मार्थी आत्मा की रक्षा करने वाला, आत्मा की शुभ प्रवृत्ति करने वाला, संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला, आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का उद्धार करने वाला साधु अपनी आत्मा को सब पापों से निवृत्त करे ।[5]

अहिंसा की परिभाषा

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा अहिंसा है। प्राचीन ऋषि महर्षियों से लेकर वर्तमान के महापुरुषों तक ने न केवल अहिंसात्मक भावना पर बल दिया अपितु अहिंसा को आदर्श बनाने का हर संभव प्रयास किया है। भारत के प्रायः सभी दर्शनों में अहिंसा की अवधारणा मिलती है । विविध विद्वानों एवं दार्शनिकों ने अहिंसा को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

1. भगवती 7/6 2. उत्तराध्ययन 24/26

3. उत्तराध्ययन 6/2 : मेत्तिं भूएसु कप्पए ।4. सूत्रकृतांग 2/1/15 5. वही, 2/2/42

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि ने अहिंसा के प्रतिफल पर प्रकाश डालते हुए यह कहा है कि 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:' अर्थात् अहिंसाप्रतिष्ठ व्यक्ति की सन्निधि में सब प्राणी वैरविहीन होते हैं । बौद्ध धर्म, दर्शन में भी अहिंसा को प्राण माना गया है।

गौतम बुद्ध के अनुसार मैत्री और करुणा अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति प्रेम और सभी जीवों के प्रति दया का भाव ही अहिंसा है। उन्होंने अहिंसात्मक कर्म को सम्यक् कर्म बतलाया है तथा अहिंसा के मार्ग में बाधक शस्त्र प्राणी, मांस, मदिरा और विष के व्यापार को त्याज्य कहा है। सम्यक् अजीव के अन्तर्गत इन्हें वर्णित बतलाया है।

तेरापंथ के आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु अहिंसा के गूढ़ विचारक, अनुपम उपदेशक और अनन्य उपासक थे। उनके अनुसार हिंसा रहित शुद्ध अहिंसात्मक भाव ही अहिंसा है। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि अन्य वस्तुएं परस्पर मिल सकती हैं किन्तु अहिंसा में हिंसा कभी नहीं मिल सकती।

अहिंसा के आधुनिक व्याख्याकार महात्मा गांधी के शिष्य पाश्चात्य विद्वान् के लांजा डेलवास्टो के अनुसार "समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।" 'बन्दूक सिर तोड़ सकती है किन्तु सिर फेर नहीं सकती।' अहिंसा कायरों की चादर नहीं अपितु वीरों का भूषण है। 'अहिंसा धर्म केवल ऋषियों एवं संतों के लिए ही नहीं है। यह सर्व साधारण जनता के लिए है।' ये कथन गांधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचार को ही परिपुष्ट करते हैं।

जैन दर्शन में अहिंसा का जितना सूक्ष्म चिन्तन एवं विश्लेषण मिलता है उतना अन्यत्र नहीं है। अन्य दर्शनों में अहिंसा सम्बन्धी अवधारणा में कथमपि शिथिलता है। अहिंसा सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करने वाले कुछ विद्वान् भी अहिंसा का अंकन परिस्थितियों के आधार पर करते हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसा के अमोघ अस्त्र को अपनाया था और आजीवन इस व्रत का पालन भी किया था। इस महनीय शस्त्र को अपनाकर भारत की आजादी जैसे दु:साध्य लक्ष्य को प्राप्त किया था। उनकी इस उपलब्धि पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वायसराय लार्ड माउन्टबेटन ने कहा था कि जो कार्य पचास हजार सिपाही नहीं कर सकते थे वह कार्य गांधीजी ने अहिंसा के शस्त्र से कर दिखाया। सब अस्त्र-शस्त्र एक तरफ और गांधीजी का अहिंसा शस्त्र एक तरफ। किन्तु अहिंसा के इस पुजारी को भी परिस्थितियों ने इतर दृष्टिकोण अपनाने को बाध्य किया था। रात भर पीड़ा से कराहते हुए बकरे की पीड़ा हरने के उद्देश्य से उसे जहर का इन्जेक्शन दिलाने की वकालत उन्होंने की थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु जैन दर्शन में किसी भी परिस्थिति में अहिंसात्मक अवधारणा में कथमपि बदलाव स्वीकार नहीं किया गया है। यहां 108 प्रकार की अहिंसा का चित्रण मिलता है। मन, वचन और काय की तीन अहिंसा है। कृत, कारित, अनुमोदित से नौ प्रकार की अहिंसा हुई। क्रोध, मान, माया, लोभ के शमन से 9 × 4 = 36 प्रकार की अहिंसा दृष्टिगोचर होती है और मृदु, मध्य और तीव्र की दृष्टि से 36 × 3 = 108 प्रकार की अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण जैन दर्शन में मिलता है। अहिंसा मात्र किसी के घात से बचना ही नहीं अपितु वाणी से न किसी को ठेस पहुंचाना और न ही मन में किसी प्रकार की दुर्भावना लाना है। एक सौ आठ प्रकार की अहिंसा का चार्ट इस प्रकार है :—

मन	वचन	काय	3
कृत	कारित	अनुमोदित	9
क्रोध शमन	मान शमन	माया शमन—लोभ शमन	36
मृदु	मध्य	तीव्र	108

भारतीय दर्शनों में अहिंसा

अहिंसा की परिभाषाएं विभिन्न विचारकों द्वारा विभिन्न भाषाओं में की गई हैं, तब भी उनका तत्त्व एक है।

भगवान् महावीर ने कहा है:

'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।'

—प्राणी मात्र के प्रति जो संयम है, वही (पूर्ण) अहिंसा है।

सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

पाणे न हाने न च घातयेय,न चानुमन्या हनतं परेसं।
सव्वेसु भूतेसु निधाय दंडं,ये थावरा ये च तसंति लोके ॥

—त्रस या स्थावर जीवों को न मारें, न मरावें और न मारने वाले का अनुमोदन करें।

यजुर्वेद में कहा है:

'विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'।

—मैं समूचे संसार को मित्र की दृष्टि से देखूं।

'तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोह:'।

पातंजल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सर्व प्रकार से, सर्व-काल में, सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना, उसका नाम अहिंसा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'गीता' में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है:

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम् ॥

—ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर—भरा हुआ देखकर हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है और इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्णरूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त होता है, यानी उसे इस विश्व के बृहत्तम तत्त्व ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः ॥

—मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट नहीं पहुंचाना—इसी को महर्षियों ने अहिंसा कहा है।

महात्माजी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है:

'अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।'[1]

पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।[2]

1.3 अहिंसा का विश्लेषण

अहिंसा के पुराने और नए सभी आचार्यों ने यही बताया है कि कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, वाचा, कर्मणा—प्राणीमात्र को कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है किसी भी आचार्य ने अपनी परिभाषा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा की छूट नहीं दी है और न उनकी हिंसा को अहिंसा बताया है।

इस निर्णय के अनन्तर ही जटिल समस्या यह रहती है कि ऐसी अहिंसा को पालता हुआ मानव जीवित कैसे रह सके? इसके समाधान में विभिन्न विचारधाराएं चल पड़ीं। जैनाचार्यों ने इसका उत्तर यह दिया कि पूर्ण संयम किए बिना कोई भी मानव पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। पूर्ण संयमी के सामने मुख्य प्रश्न अहिंसा है जीवन-निर्वाह का प्रश्न उसके लिए गौण होता है। उसे शरीर से मोह नहीं होता शरीर उसे तब तक मान्य है, जब तक कि वह अहिंसा का साधन रहे, अन्यथा उसे शरीरत्याग करने में कोई भी संकोच नहीं होता। जैसा कि आचारांग में बताया है:

1. मंगल प्रभात, पृ. 81।
2. गांधीवाणी, पृ. 37।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'इह संति-गया दविया, णावकंखंति जीविकं'

—संयमी पुरुष अन्य प्राणियों की हिंसा के द्वारा अपना जीवन चलाना नहीं चाहते।

अपूर्ण संयमी पूर्ण हिंसा से नहीं बच सकता। अत: उसके लिए हिंसा के दो भेद किए गए हैं :

(1) अर्थ-हिंसा।

(2) अनर्थ-अहिंसा।

अर्थ-हिंसा यानी जीवन-निर्वाह के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा। गृहस्थ इसको न त्याग सके तो अनर्थ हिंसा को तो अवश्य त्यागे, पर यह नहीं कि अपनी दुर्बलता से हिंसा करनी पड़े और उसे अहिंसा या धर्म समझे।

मश्रूवाला ने अहिंसा के विशुद्ध और व्यवहार्य—ये दो भेद कर व्यवहार्य अहिंसा की परिभाषा करते हुए लिखा है:

बुराई से रहित और भलाई के अंश से युक्त न्याय स्वार्थ-वृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है। यह आदर्श या शुद्ध अहिंसा नहीं है।

लौकिक दृष्टि की प्रधानता से जिस प्रकार जैन तार्किकों ने इन्द्रिय-मानस-ज्ञान, जो कि वास्तव में परोक्ष है, को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है, वैसे ही उक्त परिभाषा में लोकप्रियता की रक्षा करते हुए अर्थ-हिंसा को व्यवहार्य अहिंसा का रूप दिया मालूम होता है, क्योंकि लोक-दृष्टि में सब हिंसा या सब स्वार्थ-दृष्टि बुरी नहीं मानी जाती। समाज जिसको अनैतिक मानता है, वह बुरी मानी जाती है। लोकदृष्टि में हिंसा अनैतिक और अनैतिक कार्य के रूप में बदल जाती है। सामाजिक न्याय और औचित्य की सीमा तक ही हिंसा को नैतिक रूप मिलता है, तथा अन्याय और अनौचित्य की सीमा में हिंसा अनैतिक हो जाती है। उदाहरण के रूप में—एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की हत्या कर रहा है, उस समय वहां एक तीसरा व्यक्ति चला आया। उसने आक्रान्ता को समझाया। आक्रान्ता ने उसकी बात नहीं मानी, तब वह उस दुर्बल का पक्ष ले आक्रान्ता के सामने आ गया और उसने आक्रान्ता को मार डाला। सामाजिक नीति या व्यवस्था के अनुसार दुर्बल को बचाने वाला हिंसक नहीं माना जाता प्रत्युत उसका वैसा करना कर्त्तव्य समझा जाता है और दुर्बल की सहायता न करना अनुचित माना जाता है। धार्मिक सीमा इससे भिन्न है। आक्रान्ता को उपदेश देना धर्म को मान्य है। वह उपदेश न माने, उस स्थिति में उसे मार डालना धार्मिक मर्यादा के अनुकूल नहीं। उपदेशक का काम है—हिंसक की हिंसा छुड़ाना न कि हिंसक की हिंसा को मोल लेना—हिंसक के बदले स्वयं हिंसा करना।

एक प्राणी की रक्षा के लिए दूसरे प्राणी को मारना या कष्ट पहुंचाना अहिंसा की दृष्टि से क्षम्य नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने हिंसा करने के कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि– 'कुछ व्यक्ति, इसने मुझे पहले मारा था, इसलिए मारते हैं, कुछ यह मुझे मार रहा है, इसलिए मारते हैं और कुछ यह मुझे मारेगा इसलिए मारते हैं, यह सब हिंसा है।'

इस प्रकार जितने भी विशुद्ध अहिंसा के विचारक हुए हैं, उन्होंने दूसरों के द्वारा अहिंसा पालन करवाने की सीमा निरवद्य उपदेश को ही बतलाया।

आत्म रक्षा

रक्षा का सामान्य अर्थ है बचाना। इससे सम्बन्ध रखने वाले महत्त्व-पूर्ण प्रश्न चार हैं–रक्षा किसकी ? किससे ? क्यों ? और कैसे ? प्रत्येक प्रश्न के दो-दो विकल्प बनते हैं:

(1) रक्षा शरीर की या आत्मा की ?

(2) रक्षा कष्ट से या हिंसा से ?

(3) रक्षा जीवन को बनाए रखने के लिए या संयम को बनाए रखने के लिए?

(4) रक्षा हिंसात्मक पद्धति से या अहिंसात्मक पद्धति से ?

अहिंसात्मक पद्धति द्वारा संयम को बनाए रखने के लिए हिंसा से आत्मा को बचाने की वृत्ति का नाम है–आत्म-रक्षा।

हिंसात्मक पद्धति द्वारा जीवन को बनाए रखने के लिए कष्ट से बचाव होता है, वह शरीर-रक्षा है।

वास्तव में शरीर-रक्षा और आत्म-रक्षा–ये दोनों लाक्षणिक शब्द हैं। इनका तात्पर्यार्थ है–हिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा विपदा से बचने का प्रयत्न करना शरीर-रक्षा है और हिंसा से बचने का प्रयत्न करना आत्म-रक्षा है।

साध्य जैसे शुद्ध हो, वैसे साधन भी शुद्ध होना चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए साध्य और साधन दोनों अहिंसात्मक होने चाहिए। थोड़े में यूं कहा जा सकता है कि आत्म-रक्षा का अर्थ है–राग-द्वेषात्मक आदि असंयममय वृत्तियों से बचना। इसका साध्य है–आत्म-मुक्ति। इसके साधन हैं:

1. धार्मिक उपदेश,
2. मौन या उपेक्षा,
3. एकान्त-गमन।

हिंसा करना उचित नहीं, इस प्रकार हिंसक को समझाना, उसकी हिंसा करने की भावना को बदलने का प्रयत्न करना, धार्मिक उपदेश है।

धार्मिक उपदेश द्वारा प्रेरणा देने पर भी वह न समझे तो मौन हो जाना, उसकी उपेक्षा करना, यह दूसरा साधन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक उपदेश काम न करे और मौन न रखा जा सके, उस स्थिति में वहां से हटकर एकान्त में चले जाना, यह तीसरा साधन है।

भगवान् महावीर ने हिंसा से बचने के ये तीन साधन बताए हैं। ये तीनों अहिंसात्मक हैं, इसलिए आत्म-रक्षा की मर्यादा के अनुकूल हैं। अहिंसात्मक साधनों द्वारा कष्टों से बचाव किया जा सकता है, हिंसा से नहीं।

हिंसक के प्रति हिंसा बरतना, बल प्रयोग करना, प्रलोभन देना—यह अहिंसा की मर्यादा में नहीं आता। अहिंसा की मर्यादा है कि अहिंसक हर स्थिति में अहिंसक ही रहे। वह किसी भी स्थिति में हिंसा की बात न सोचे। अहिंसक पद्धति से हिंसा का विरोध करना अहिंसा-धर्मी का कर्तव्य है। वह अहिंसा के लिए अपने प्राणों का त्याग कर सकता है परन्तु अहिंसा के लिए हिंसा का मार्ग नहीं अपना सकता। दोनों प्रकार की रक्षा के आठ विकल्प बनते हैं :

1. जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
2. संयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
3. जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
4. संयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
5. जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
6. संयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
7. जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
8. संयम के लिए अहिंसात्क पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

इनमें पहले चार विकल्प शरीर-रक्षा के हैं।

विकल्प एक—जीवन को बनाए रखना— यह अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य है— संयम का विकास करना।

संयम का विकास जीवन-सापेक्ष है। जीवन ही न रहे, तब संयम का विकास कौन करे ? अत: संयम का विकास करने के लिए जीवन को बनाए रखना आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को बनाए रखना भी अहिंसा का उद्देश्य है—यह फलित होता है। यह प्रश्न हो सकता है किन्तु अहिंसा का सीधा संबंध संयम से है, इसलिए इसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जीवन बना रहे और संयम न हो तो वह अहिंसा नहीं होती। संयम की सुरक्षा में जीवन चला जाए तो भी वह अहिंसा है। आगे के संयम के लिए वर्तमान का असंयम संयम नहीं बनता। आगे की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अहिंसा नहीं बनती। इसलिए जीवन को बनाए रखना—यह अहिंसा का साध्य या उद्देश्य नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधन-मीमांसा में इतना ही होगा कि अहिंसा के साधन हिंसात्मक नहीं हो सकते।

अहिंसा का स्वरूप है– असंयम से बचना, संयम करना। कष्ट संयम हो सकता है, और सुख असंयम, इसलिए कष्ट से बचाव करना और सुख प्राप्त करना यह अहिंसा का स्वरूप नहीं बन सकता। उपवास व अनशन जैसी कठोर तपस्याएं कष्टकर अवश्य हैं, फिर भी अहिंसात्मक हैं। भोगोपभोग सुख है, फिर भी हिंसा है। अहिंसा की दृष्टि संयम की ओर होनी चाहिए। अमुक कष्ट से बचा या नहीं बचा, अहिंसा के लिए यह शर्त नहीं होती। उसकी शर्त है–असंयम से बचा या नहीं। पहले विकल्प के तीनों रूप शरीर-रक्षा की कोटि के हैं।

विकल्प दो – इनमें साध्य सही है। साधन की प्रक्रिया साध्य के प्रति भ्रम उत्पन्न करती है। संयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधन करते जाएं, वहां संयम नहीं रहता। इसलिए संयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाना मानसिक भ्रम जैसा लगता है।

विकल्प तीन – जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य मुख्य होने पर हिंसा से बचाव करने की बात गौण हो जाती है। संयम जीवन से अलग नहीं होता। संयम को बनाए रखने के साथ जीवन का अस्तित्व अपने आप आता है। जीवन को बनाए रखने के साथ संयम का अस्तित्व स्वयं नहीं आता है। इसलिए अहिंसा का रूप जीवन के अस्तित्व को प्रधानता नहीं देता। उसमें संयम की प्रधानता होती है।

विकल्प चार – संयम को बनाए रखने के लिए हिंसा से बचाव करना, यह सही है किन्तु हिंसा से कैसे बचा जाए, उसका विवेक होना चाहिए। हिंसा से बचाव करने के लिए हिंसात्मक साधन अपनाए जाएं, वहां न संयम बना रहता है और न हिंसा से बचाव होता है। इसलिए चौथा विकल्प भी आत्म-रक्षा की भावना नहीं देता।

विकल्प पांच – पांचवें विकल्प में साधन-पद्धति को छोड़ शेष अहिंसा की दृष्टि के अनुकूल नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकल्प छह-सात — छठे विकल्प में कष्ट से बचाव करने और सातवें में जीवन को बनाए रखने की बात मुख्य है, इसलिए ये भी अहिंसा के शुद्ध रूप का निर्माण नहीं करते। इन दो (6-7) और पांचवें विकल्प को व्यावहारिक या सामाजिक अहिंसा कहा जाता है।

आठवां विकल्प — अहिंसा का पूर्ण शुद्ध रूप है।

अभ्यास

1. समाज व्यवस्था के लिए अहिंसा की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए उसके आध्यात्मिक स्वरूप की व्याख्या करें ।
2. अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा के भेद को दर्शाते हुए अनर्थ हिंसा से बचने का मार्ग सुझायें ।
3. किसी को नहीं मारना ही अहिंसा है या उसका कोई अन्य अर्थ भी है? यदि हां, तो उसे विस्तार से समझायें।

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप

2.1 हमारी जीवन-शैली और अहिंसा

एक प्रश्न पैदा हुआ कि मनुष्य में हिंसा का जन्म कैसे हुआ ? उसके पुरखे आपस में मिलजुल कर रहना सीख गए थे। प्राइमेट कुल के नर-वानर आपस में मिलजुल कर रहते थे। उनसे पहले स्तनधारी प्राणी आपस में मिल-जुलकर रहना सीख चुके थे। जब आपस में सब मिलकर रहते थे तो फिर मनुष्य में हिंसा का जन्म कैसे हुआ ? यह एक प्रश्न है और है अनुत्तरित प्रश्न। इस पर काफी खोज हुई है, पर इसका समाधान हुआ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है और मिल-जुलकर रहता है। सामाजिक जीवन का अर्थ है संबंध का जीवन। अनेक संबंध स्थापित हुए हैं। संबंधों के अनेक आधार हैं। मनुष्य में काम है, इसलिए उसने परिवार बनाया है। उसने अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए परिवार का गठन किया है, संबंध स्थापित किया है। उसमें स्नेह है इसलिए अपने मित्रों का वर्ग तैयार किया है। उसमें अहं है, अतः विशिष्टता का चयन किया है। ये सारे संबंध उपयोगिता के आधार पर बने। आपस में मिलजुल कर रहते हैं, इतने मात्र से अहिंसा की कल्पना कर लेना शायद संगत बात नहीं है। इन सारे संबंधों से व्यावहारिक अहिंसा फलित हुई है। एक आदमी दूसरे आदमी को नहीं सताता। पड़ौसी पड़ौसी को नहीं सताता। परिवार का आदमी परिवार को नहीं सताता। क्या यह अहिंसा है ? अगर अहिंसा है तो थोड़ी स्वार्थ की पूर्ति न होने पर पता लगे कि क्या होता है ? कैसे रंग खिलता है ? जीवनशैली और अहिंसा से सम्बन्धित तथ्य इस प्रकार हैं।

स्वार्थ से जुड़ी अहिंसा

पति और पत्नी का स्वार्थ जुड़ा हुआ है। पति पत्नी को नहीं सताता और पत्नी पति को नहीं सताती। किन्तु जहां स्वार्थ की टक्कर होती है वहां पति-पत्नी में भी झगड़ा हो जाता है। भाई-भाई को नहीं सताता किंतु जहां स्वार्थ की टक्कर होती है वहां वे झगड़े पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी अनेक घटनाएं मिलती हैं कि पति-पत्नि को मार देता है और पत्नि-पति को मार देती है।

यदि साथ में रहने को अहिंसा मान लें तो हिंसा की बात हो ही नहीं सकती। यह व्यावहारिक अहिंसा है। यानी अहिंसा का एक व्यावहारिक प्रयोग है, पारमार्थिक नहीं। व्यावहारिक अहिंसा के पीछे स्वार्थ जुड़ा हुआ होता है, उसमें स्वार्थ निहित होता है। स्वार्थ पर आधारित अहिंसा वास्तविक नहीं होती। एक दूसरे को नहीं सताना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दूसरे को चोट नहीं पहुंचाना और एक दूसरे को नहीं नकारना—यह स्वार्थ पर आधारित होता है। यह वास्तविक अहिंसा नहीं होती, किंतु व्यावहारिक कही जा सकती है। यह हमारे संबंधों पर निर्भर करती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसका यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि वह अहिंसक समाज का समर्थक है। अहिंसा को उसने मात्र अपनी उपयोगिता के स्तर पर स्वीकार किया है। जब काम प्रबल होता है, अहं प्रबल होता है, हिंसा उसके लिए वर्जनीय नहीं रहती।

व्यावहारिक अहिंसा

भगवान् ऋषभ के दो पुत्र भरत और बाहुबली का अहं टकराया और महायुद्ध शुरू हो गया। भरत ने दूत भेजा कि बाहुबली उसकी आज्ञा स्वीकार करे। दूत गया और भरत का निवेदन सामने रखा। बाहुबली का अहं जाग उठा। उसने कहा—मेरी भुजा में प्रबल पराक्रम है। मैं किसी की आज्ञा को शिरोधार्य नहीं करूंगा। उसने दूत की बात ठुकरा दी और युद्ध शुरू हो गया। भाई का संबंध, अहिंसा का संबंध नहीं होता। वह स्वार्थ, उपयोगिता और काम-प्रेरित संबंध होता है। उसके पीछे ममत्व की प्रेरणा थी। उसके पीछे प्रेरणा थी उपयोगिता की। जैसे ही ममत्व और उपयोगिता में टकराहट आई, अहिंसा हिंसा में बदल गई। व्यावहारिक अहिंसा उपयोगिता प्रेरित या स्वार्थ प्रेरित अहिंसा है। इस स्थिति में यह प्रश्न पैदा होता है कि मनुष्य में हिंसा का जन्म कैसे हुआ ? मुझे लगता है—यह प्रश्न ही मूलत: सही नहीं है। यह एक भ्रान्त धारणा से उपजा हुआ प्रश्न है। यदि हमारी धारणा सही हो तो यह प्रश्न पैदा ही नहीं होता।

आज के सारे समाज की जीवन-शैली व्यावहारिक अहिंसा से प्रभावित जीवन-शैली है। इसलिए जब कभी हिंसा भड़क उठती है एक समाज में, एक जाति में, एक संप्रदाय में और एक परिवार में, तब जहां-तहां हिंसा की चिनगारियां उछलती नजर आती हैं। हमारे जीवन की शैली जब तक व्यावहारिक अहिंसा से प्रभावित रहेगी, तब तक ऐसा होता रहेगा। अहिंसा पर अनुसंधान करने वाले लोगों ने इस प्रश्न को उपस्थित किया है। मुझे लगता है, उन्होंने परमार्थ की अहिंसा को समझा नहीं है। केवल व्यावहारिक अहिंसा के आधार पर यह प्रश्न पैदा किया और यह मान लिया कि समाज का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ है। अगर अहिंसा नहीं होती तो मिलजुल कर नहीं रहते। यह बात ठीक है कि मिलजुल कर रहना भी एक विशेष प्रयोग है। ऐसे भी प्राणी हैं जो मिलजुल कर रहना नहीं जानते, प्रयोग करना नहीं जानते। हिंस्र पशु कभी अपना समाज नहीं बनाते तो दूसरा वर्ग ऐसा है, जो मिलजुल कर रहना जानता है और अपना समाज बना लेता है, एक दूसरे का सहयोग करता है। यह अहिंसा की भूमिका नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा का भाव आकस्मिक नहीं

मनुष्य में हिंसा का जन्म हुआ है। यह आकस्मिक नहीं है। उसके पीछे अनेक कारण हैं। जब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास समाज में नहीं होगा, हमारी जीवन-शैली पारमार्थिक अहिंसा, वास्तविक अहिंसा से प्रभावित नहीं होगी, तब तक समाज में चल रही हिंसा को कम नहीं किया जा सकेगा। हमें इस सत्य को समझना है कि पारमार्थिक अहिंसा क्या है ? वास्तविक अहिंसा क्या है ? जिससे हम जीवन की शैली को प्रभावित करना चाहते हैं और वर्तमान जीवन की शैली को बदलना चाहते हैं। पारमार्थिक अहिंसा का आधार है—आत्मा। सब आत्माओं की समानता। जैसी मेरी आत्मा वैसी ही हर प्राणी की आत्मा। न केवल मनुष्य की आत्मा, पर हर प्राणी की आत्मा वैसी ही है जैसी कि मेरी है। यह आत्मा की समानता का सिद्धांत ही पारमार्थिक अहिंसा का आधार बन सकता है। जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मेरी है, वैसी ही सब प्राणियों की है। इसलिए मुझे किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए, सताना नहीं चाहिए, किसी का अधिकार नहीं छीनना चाहिए और किसी को मारना नहीं चाहिए। वह चेतना जब तक नहीं जाग जाती, तब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास नहीं होता। जब तक उस अहिंसा का विकास नहीं होता, तब तक समाज में जो छीना-झपटी, लूट-खसौट, मार-धाड़ चल रही है, एक दूसरे पर प्रहार और कष्ट देने का व्यवहार चल रहा है, उसे बंद तो किया ही नहीं जा सकता, कम भी नहीं किया जा सकता।

मूल्यांकन का दृष्टिकोण

तैमूरलंग क्रूर शासक था। वह अत्याचारी था। उसे विश्वास था कि मैं अपनी क्रूरता के द्वारा, कठोर दण्ड के द्वारा प्रजा को बदल दूंगा। उसने इस सचाई को नहीं समझा कि आदमी कठोरता से नहीं बदलता। जब तक उसका हृदय नहीं बदल जाता, जब तक मस्तिष्कीय परिवर्तन नहीं होता, तब तक वह बदलता नहीं है। उसका हिंसा में विश्वास था, क्रूरता में विश्वास था, दंड में विश्वास था और उसने वैसे ही प्रयोग किए। बहुत लोगों को सताया। मारना मामूली बात थी उसके लिए। एक बार उसके सामने दो गुलामों को पेश किया गया। मौत की सजा सुना दी। तीसरा जो बंदी बनाकर लाया गया, वह था कवि अहमद। तैमूरलंग ने पूछा—तुम तो कवि हो, मूल्यांकन करना जानते हो, बताओ, जिन दो गुलामों को फांसी दी है उनका मूल्य कितना ? कवि अहमद बोला—पांच-पांच सौ अशर्फियां। तैमूरलंग मूड में था, आगे पूछ बैठा, बताओ, मेरा मूल्य कितना ? अब इस बात का ऐसे क्रूर शासक के सामने उत्तर देना कठिन था। पर वह भी कवि था, कवि-हृदय था, सत्य को खोजने का प्रयत्न करने वाला था। उसने कहा—आपका मूल्य है केवल पचीस अशर्फियां। शासक यह सुनकर क्रोध से जल उठा। गुलाम का मूल्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो पांच सौ अशर्फियां और मेरा मूल्य मात्र पचीस अशर्फियां ! जल-भुन गया, पर करे क्या ? कवि से कहा, इतने बड़े कवि बने हो पर इतना भी नहीं जानते कि पचीस अशर्फियां का मूल्य तो मेरी पोशाक का होगा। कवि ने कहा, मैंने बिलकुल ठीक कहा है। आपकी पोशाक का मूल्य ही मैंने बताया है। तैमूर ने पूछा—मेरा मूल्य क्या कुछ भी नहीं है ? कवि ने कहा, बिलकुल नहीं। जो आदमी क्रूर है, जिसमें दया नहीं और जो किसी को अपने समान समझता नहीं, जिसमें कोई सहानुभूति की भावना नहीं, जिसमें कोई न्याय नहीं, उस आदमी का दुनिया में कोई मूल्य नहीं होता। आप निश्चित मानें मैंने आपका मूल्य जीरो आंका है, आपकी पोशाक का मूल्य ही पचीस अशर्फियां आंका है। आपका कोई मूल्य नहीं है।

पारमार्थिक अहिंसा

हमारा मूल्यांकन का एक दृष्टिकोण है। जो व्यक्ति परमार्थ की भूमिका पर मूल्य आंकता है वह बाहरी बात का मूल्य बहुत कम आंकता है। उसकी दृष्टि में मूल्य होता है अन्तर की वृत्तियों का। वह देखता है कि व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियां कैसी हैं ? उसकी भूमिका कैसी है ? उसने किसी भूमिका पर काम शुरू किया है ? अहिंसा के बारे में हम बहुत कम सोचते हैं, बात बहुत करते हैं। इसलिए करते हैं कि अहिंसा के बिना समाज सुख और शांति से जी नहीं सकता। समाज को जरूरत है अहिंसा की, इसलिए कि वह सुख से जी सके। समाज को जरूरत है अहिंसा की, इसलिए कि वह शांति के साथ जी सके, स्वस्थ रह सके। व्यावहारिक अहिंसा के आधार पर हमने इस जरूरत का अनुभव किया किन्तु हमारी एक भूल रह गई। हमने पारमार्थिक अहिंसा की ओर बहुत कम ध्यान दिया। आत्मा की सानुभूति और समानता के बिन्दु का कम से कम हमने स्पर्श किया है।

प्रेक्षा-ध्यान का एक सूत्र है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का। साधक को कहा गया— "संपिक्खए अप्पगमप्पएणं"— आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। इसका अर्थ क्या है ? यह परमार्थ की ओर संकेत करता है। केवल स्वार्थ पर ही आधारित जीवन-शैली की ओर मत देखो, केवल उपयोगिता के आधार पर जीवन-शैली की ओर मत देखो, जीवन का एक दूसरा पहलू भी है। उसे भी देखना सीखो। हमने दूसरे पहलू को देखना कभी सीखा नहीं। एक आंख ही हमारी काम करती है। हम एक पहलू को ही जानते हैं, देखते हैं, पहचानते हैं। जीवन का दूसरा पक्ष भी है जो बराबर का पक्ष है, पर हमारी आंख सदा मुंदी की मुंदी रहती है। हमने सही अर्थ नहीं समझा अहिंसा का, हमने ध्यान नहीं दिया इस पर।

एक छोटी-सी कहानी है। दामाद ससुराल में गया। गांव का व्यक्ति था और ससुराल शहर में था। गांव में तो रोटियां बड़ी-बड़ी बनाते हैं और शहर में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोटी-फुलके छोटे बनाते हैं। वह जब खाने को बैठा तो पूरी की पूरी रोटी का एक-एक ग्रास लेने लगा। सब हंसने लगे। उसकी पत्नी भी बैठी थी। उसने सोचा—बड़ा भद्दा लगेगा कि कितना अनजान है, गंवार है, कुछ जानता ही नहीं है। पूरी की पूरी रोटी का एक ही ग्रास लेता है, एक ही कौर लेता है। उसने सोचा कि क्या करें ? पुराना जमाना था। इतने लोगों के बीच कहना भी अच्छा नहीं लगता। उसने संकेत से और इशारे से समझाना शुरू किया। दो अंगुली से संकेत दिया कि दो-दो टुकड़े करके खाओ, पूरी रोटी एक साथ मत खाओ। उसने संकेत को ठीक समझा नहीं। सोचा, शायद यहां की परंपरा है कि एक-एक रोटी खाना ठीक नहीं है। उसने दो-दो खाना शुरू कर दिया। एक के बजाय दो रोटियां एक साथ चलने लगीं। लोग हंसने लगे। पत्नी ने लज्जा से मुंह ढक लिया।

अहिंसा का संकेत

हमने भी अहिंसा के संकेत को समझा नहीं। अहिंसा का संकेत है—दोनों पक्षों को देखो। एक ही पक्ष को मत देखो, दोनों को देखो। व्यवहार को देखते हो तो परमार्थ को भी देखो। दूसरे को देखते हो तो अपने आपको भी देखो। इस संकेत को हम नहीं समझ पाए। जो एक पक्ष था व्यवहार को देखना, दूसरे को देखना, इससे हम व्यवहार में अधिक चले गए और दूसरे को अधिक देखने लग गए। हम स्वयं अपना विश्लेषण करें। हम पूरे दिन दूसरे को देखते हैं कि दूसरा क्या करता है। दूसरा हमारे लिए क्या कर रहा है। कोई भी गलती होती है तो आदमी अपने आपको बचा लेता है, गलती दूसरे पर आरोपित करता है। उसने ऐसा कर दिया है। रसोई में घी का बर्तन पड़ा है। बहू चली, ठोकर लगी और घी ढुल गया। सास बोली, अंधी है, देखकर नहीं चलती। घी को नीचे गिरा दिया ? यह दूसरे पर दोषारोपण हो गया। दो-चार दिनों के बाद वहीं बर्तन पड़ा था। सास जा रही थी, ठोकर लगी और घी नीचे गिर गया। तत्काल सास बोली, कितने बेवकूफ लोग हैं, रास्ते का ध्यान ही नहीं रखते, बर्तन को बीच में रख देते हैं। यह दोषारोपण भी हुआ दूसरे पर। अपने आपको आदमी बचा लेता है। इस बचाने वाली वृत्ति ने सचमुच अहिंसा की कब्र खोद दी। जाने-अनजाने इस व्यावहारिक अहिंसा की धारणा ने पारमार्थिक अहिंसा की अन्त्येष्टि कर दी। हमने उसको भुला दिया।

आज हम सारे समाज का विश्लेषण करें, प्रत्येक व्यक्ति का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि पारमार्थिक अहिंसा के लिए चिन्तन का कोई अवकाश नहीं है। दूसरे पहलू के लिए, दूसरे पक्ष के लिए हमने सारी खिड़कियां और सारे दरवाजे बंद कर दिए हैं। केवल व्यवहार की बात चल रही है। और हमारा प्रश्न भी है कि मनुष्य में हिंसा का जन्म कैसे हुआ ? व्यवहार की भूमिका पर चलते-चलते अगर हिंसा का जन्म नहीं होगा तो और कब होगा ? कैसे वाली बात हमारे सामने क्यों आती है ? हमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दो शब्दों—व्यवहार और परमार्थ पर विशेष ध्यान देना है। यदि हमारा ध्यान इन पर केन्द्रित होगा तो मनोवैज्ञानिकों, प्राणी-वैज्ञानिकों और आनुवंशिकी वैज्ञानिकों द्वारा उठाया गया यह प्रश्न समाधान पा सकेगा। हिंसा के बीज कोई बाहर नहीं हैं। हिंसा का जन्म आज नहीं हुआ है। हिंसा का जन्म पहले से ही हो चुका है। इस व्यवहार की अहिंसा ने हिंसा के प्रश्न पर आवरण डाल दिया है। जब भाई-भाई बड़े स्नेह के साथ रहते हैं, पति-पत्नी बड़े स्नेह के साथ रहते हैं, एक बड़े नगर में हजारों-हजारों, लाखों-लाखों लोग बड़े स्नेह और प्यार के साथ रहते हैं, तो हम एक भ्रांति में चले जाते हैं कि कितनी अहिंसा है ! कोई हिंसा ही नहीं है ! यह भ्रान्ति जब टूटती है तब प्रश्न पैदा होता है कि हिंसा का जन्म कैसे हुआ ?

हम भ्रान्ति में जी रहे हैं। यह अहिंसा नहीं है। न भाई-भाई में अहिंसा है और न पिता-पुत्र में अहिंसा है, न पड़ोसी-पड़ोसी में अहिंसा है और न बृहत्तर लगने वाले समाज में अहिंसा है, मात्र एक उपयोगिता का धागा है। वह धागा है, तब तक ठीक चलता है। जब धागा टूटता है तो हिंसा भड़क उठती है। राजनीति में मित्रता का अर्थ है— स्वार्थों का सामंजस्य। जब तक स्वार्थ नहीं टकराते, तब तक मित्रता। स्वार्थ टकराया, फिर युद्ध तैयार। मित्रता होती नहीं है। वास्तविक मित्रता नहीं होती राजनीति में और समाज में। इसलिए अहिंसा के प्रश्न पर बहुत गंभीरता से विचार करना आवश्यक है।

अहिंसा का मूल आधार

मैं मानता हूं, ध्यान का अभ्यास इस परमार्थ की दिशा में एक प्रस्थान है। ध्यान का अर्थ है अपने आपको देखना। अपने आपको देखने का अर्थ है अहिंसा के मूल आधार को देखना, मूल आधार को खोजना। जब तक हम अपने आपको नहीं देखेंगे, तब तक अहिंसा के मूल आधार को नहीं खोज पाएंगे। हमारी अहिंसा की खोज अधूरी रहेगी और वह कभी पूरी नहीं होगी।

हमें सीखना है अपने आपको देखना। आज एक कठिनाई है कि ध्यान को हमने ठीक अर्थ में शायद समझा नहीं है। अगर ठीक अर्थ में समझते तो पढ़ना जितना अनिवार्य मानते हैं, ध्यान को उससे ज्यादा अनिवार्य मानते।

आज के पिता के सामने लड़के को पढ़ाने की अनिवार्यता है, अपनी लड़की को पढ़ाने की अनिवार्यता है। वे समझते हैं कि लड़का नहीं पढ़ेगा तो पैसा नहीं कमा पाएगा। जीविका ठीक से नहीं चलेगी। लड़की नहीं पढ़ती है तो अच्छा वर या अच्छा घर नहीं मिलेगा। पढ़ाई की अनिवार्यता है, ध्यान की कोई अनिवार्यता नहीं है। व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला आदमी हर बात का मूल्यांकन व्यवहार के स्तर पर करता है। परमार्थ की उसे कोई चिन्ता नहीं है। परमार्थ उसके लिए अनिवार्य नहीं बनता। कितना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा होता कि हमारी दोनों आंखें बराबर खुली होतीं! हमारे मस्तिष्क के दोनों पटल बराबर सक्रिय होते ! हमारे दोनों हाथ बराबर काम करते!

मूल को पकड़ें

पारमार्थिक अहिंसा की खोज वैज्ञानिक उपकरणों के आधार पर नहीं हो सकती, इतिहास के आधार पर भी नहीं हो सकती, आनुवंशिकी विद्या के आधार पर भी शायद नहीं हो सकती। वह हो सकती है अपनी अन्तरात्मा के अनुसंधान से। मैं क्या हूं ? मेरे भीतर क्या है ? किन वृत्तियों के स्तर पर मैं जी रहा हूं ? कौन-कौन-सी वृत्तियां हिंसा को उभार रही हैं ? क्या उन वृत्तियों का शमन किया जा सकता है? जब तक यह आध्यात्मिक विश्लेषण नहीं होगा, अहिंसा की खोज संभव नहीं बन पाएगी, क्योंकि हिंसा और अहिंसा का प्रश्न हमारे अन्तःकरण से जुड़ा हुआ है, बाहर से भी जुड़ा हुआ है। बाहर से नहीं जुड़ा हुआ है, ऐसा मुझे नहीं लगता किंतु मूल में भीतर से जुड़ा हुआ है। मूल नीचे होता है और शाखाएं ऊपर होती हैं। किंतु उलट गया। शाखाएं नीचे चली गईं और मूल ऊपर आ गया। आज शाखाएं हमें मूल लग रही हैं। शाखाएं कभी मूल नहीं हो सकतीं। मूल हो सकती है जड़। जो जड़ की बात है वह है मनुष्य की वृत्तियां। हमने केवल परिस्थितियों को मान लिया। आज का सारा चिंतन परिस्थिति के आधार पर चल रहा है। किसी भी समाजविज्ञानी से पूछो, किसी भी अर्थशास्त्री से पूछो या किसी मनोविज्ञानी से पूछो कि हिंसा का मूल क्या है ? हिंसा की जड़ क्या है ? यही उत्तर मिलेगा कि वातावरण, परिस्थिति का चक्र। यही मूल है, जड़ है। जैसी परिस्थिति, जैसा वातावरण, वैसा ही आदमी बनता है और वैसा ही आचरण करता है। हमारे व्यवहार का निर्धारण जो परिस्थिति के आधार पर होने लगा है, इसका अर्थ है—जो मूल था वह तो ऊपर आ गया और जो शाखाएं थीं वे नीचे चली गईं। मूल शाखा बन गया और शाखा मूल बन गई। यह एक भ्रम पैदा हुआ है। इस भ्रम को तोड़ना है।

आवश्यक है संतुलन

जब तक यह भ्रम नहीं टूटेगा, आंख साफ नहीं होगी, धुन्धलाहट कम नहीं होगी, तब तक वास्तविक सत्य को नहीं देख पाएंगे।

ध्यान का प्रयोग उस भ्रम को तोड़ने का प्रयास है। जैसे-जैसे व्यक्ति अपने भीतर की गहराइयों में जाता है वैसे-वैसे कुछ नई सचाइयां सामने आती हैं, और वे सचाइयां, जिनकी शायद वैज्ञानिक व्याख्या न की जा सके। क्या आप सोचते हैं कि इन सब की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है ? ऐसा सोचेंगे तो बहुत बड़ा भ्रम होगा। कुछ सचाइयां हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। बहुत सारी सचाइयां हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती, पर वे सत्य हैं। अनेक स्थितियां हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, किंतु घटना घटित होती है। क्या हम घटना को झूठा मान लें ? व्याख्या नहीं हो सकती इसलिए क्या घटना को अवास्तविक मान लें? घटना सामने घटित हो रही है, उसे हम कैसे अस्वीकार करेंगे, चाहे हम व्याख्या दे सकें, न दे सकें ? अपने भीतर की बहुत सारी घटनाओं की व्याख्या शायद न कर सकें, किन्तु वे सचाइयां हैं। उनमें कोई संदेह नहीं। और वे सचाइयां हमारे सामने प्रगट होती जाती हैं। हम अपने भीतर को देखने का सवाधान प्रयोग करें, सचेष्ट प्रयोग करें, गहराई में जाकर अपने आपको देखें, जीवन में एक संतुलन बनाएं, दोनों पक्षों को बराबर बनाएं। व्यावहारिक पक्ष के बिना हमारा काम नहीं चलता। उसे चलने दें, किंतु उसके साथ-साथ पारमार्थिक पक्ष को भी उजागर करें। जिस दिन व्यावहारिक अहिंसा और पारमार्थिक अहिंसा—इन दोनों का संतुलन बनेगा उस दिन 'मनुष्य में हिंसा का जन्म कैसे हुआ' इसका उत्तर दिया जा सकेगा तथा हमारी जीवन शैली के लिए अहिंसा की उपादेयता को समझा जा सकेगा।

2.2 अहिंसा और आहार

जीवन के दो आधारभूत तत्त्व हैं—श्वास और आहार। श्वास का अर्थ है जीवन। आहार का अर्थ है जीवन। इन दोनों के बिना जीवन चलता नहीं। श्वास बंद, जीवन की यात्रा सम्पन्न। आहार बन्द तो कुछ ही दिनों में जीवन की यात्रा संपन्न। मनुष्य ही नहीं, प्रत्येक प्राणी आहार और श्वास के बल पर जीता है। एक छोटे से छोटा वनस्पति का प्राणी भी श्वास लेता है, आहार लेता है, इसीलिए जीता है। आहार जीवन का आधारभूत तत्त्व है।

आहार से जुड़े कुछ तत्त्व

आहार के विषय में विमर्श होता रहा है। इस विमर्श के अनेक कोण रहे हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार पर विचार किया गया कि स्वस्थ व्यक्ति का आहार कैसा होना चाहिए ? इस पर बहुत सूक्ष्मता से चिन्तन किया। ऋतु के आधार पर भी मीमांसा प्राप्त है। सर्दी की ऋतु का आहार एक प्रकार का होता है और गर्मी की ऋतु का आहार भिन्न प्रकार का होता है। वर्षा ऋतु का आहार इन दोनों से भिन्न प्रकार का होता है। इससे भी सूक्ष्म विचार किया गया कि ये तो वर्ष में आने वाली तीन ऋतुएं हैं, पर एक दिन में भी ये तीनों ऋतुएं आती हैं। प्रातःकाल का आहार कैसा होना चाहिए ? मध्याह्न का आहार कैसा होना चाहिए ? सायंकालीन आहार कैसा होना चाहिए ? इस प्रकार अनेक पहलुओं से आहार पर चिन्तन किया गया।

आहार का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य के साथ भी जोड़ा गया। विचार किया गया कि ब्रह्मचारी का आहार कैसा होना चाहिए ? सात्त्विक वृत्ति में जीने वाले का आहार कैसा होना चाहिए ? व्यक्ति की भावनात्मक धारा को सात्त्विक रखने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौन-सा आहार उपयोगी होता है ? इन सब आधारों पर आहार के विषय में अनेक विधियां और वर्जनाएं दी गईं। बताया गया—अमुक प्रकार का भोजन करना चाहिए और अमुक प्रकार का भोजन नहीं करना चाहिए।

आहार की यह चर्चा न तो स्वास्थ की दृष्टि से है और न ब्रह्मचर्य की दृष्टि से । यहां चर्चा का एकमात्र पहलू है अहिंसा। क्या आहार का और हिंसा का कोई सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध की खोज करनी है। सूक्ष्म बात को खोजने में बड़ी कठिनाई आती है, बड़ा श्रम करना होता है।

एक गंजा आदमी हजामत कराने के लिए नाई की दुकान पर गया। उसने नाई से पूछा—हजामत के क्या लोगे ? नाई बोला—तीन रुपये। उसने कहा—सबसे दो-दो रुपये ले रहे हो, फिर मेरे से तीन क्यों ? नाई ने कहा—हजामत के तो दो ही रुपये लूंगा, पर एक रुपया तुम्हारे बाल ढूंढने का लगेगा। गंजे सिर पर बालों को खोजना भी एक समस्या है। उसमें श्रम करना पड़ता है।

हमें सम्बन्ध की खोज करनी है कि आहार में और हिंसा में तथा आहार में अहिंसा में क्या सम्बन्ध है ? यह सम्बन्ध की खोज महत्त्वपूर्ण पहलू है।

भोजन से जुड़ी समस्याएं

आदमी जो भोजन करता है, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। भोजन के द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। वैज्ञानिकों ने चालीस प्रकार के न्यूरो-ट्रांसमीटरों का पता लगा लिया है। ये सारे भोजन से बनते हैं।

भोजन के द्वारा एमिनो एसिड आदि अनेक प्रकार के एसिड बनते हैं। यूरिक एसिड जहर है। वह भी भोजन से बनता है। हमारी प्रवृत्ति और भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्त्व शरीर में बनते हैं। अत: इस बात को जानना होगा कि किस प्रकार का भोजन करने से क्या बनता है ? जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वैसा भोजन करने पर मानसिक समस्याएं पैदा होती हैं, भावनात्मक उलझनें बढ़ती हैं, हिंसा की वृत्ति बढ़ती है।

भोजन : दो पहलू

प्राचीन काल में भोजन के इस पहलू पर बहुत विचार किया गया कि क्या खाने से क्या होता है। आज के वैज्ञानिक ने इस पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी बहुत ध्यान दिया है कि किस प्रकार के भोजन की पूर्ति न होने पर क्या होता है? दोनों पहलू हमारे सामने हैं—(1) किस वस्तु के खाने से क्या होता है ? (2) किस वस्तु की पूर्ति न होने पर क्या होता है ? एक प्राचीन पहलू है और एक नया पहलू है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक आदमी बहुत चिड़चिड़ा है। चिड़चिड़ा क्यों है, इसकी खोज करने पर पता लगता है कि उसमें विटामिन "ए" की कमी है। प्रति सौ क्यूबिक सेंटीमीटर में चीनी की मात्रा 90 से 110 मिलिग्राम होनी चाहिए। इतनी आवश्यक होती है। जिसमें इससे कम चीनी होती है, उसके शरीर पर असर आ जाता है। यदि अधिक कम होती है तो भावनात्मक असर आता है। उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। यहां तक कि वह वह आदमी हत्यारा बन जाता है।

आदमी हत्यारा क्यों बनता है ?

एक महिला बैठी थी। एक व्यक्ति आया, उस पर गोली चलाई। वह मर गई। व्यक्ति पकड़ा गया। जज ने पूछा—महिला को क्यों मारा ? वह बोला—मुझे पता नहीं है कि मैंने महिला की हत्या क्यों की ? उस महिला को देखते ही मन में इच्छा जागी कि इसे मार डालना चाहिए। मैंने अपनी इच्छा की पूर्ति कर दी। उस व्यक्ति की डाक्टरी जांच हुई। डाक्टर ने जांच में पाया कि उस व्यक्ति की रक्तधारा में चीनी की बेहद कमी थी। इसका निष्कर्ष निकाला गया कि चीनी की अधिकतम कमी के कारण उस व्यक्ति के मन में हत्या की बात पैदा हुई। दूसरा कोई कारण नहीं था।

आज की खोज के संदर्भ में यह नई बात सामने आती है। शरीर में चीनी की, नाईटिन की या विटामिन की कमी होती है तो आदमी हत्यारा, चिड़चिड़ा बन जाता है। अनेक आदमी निराशा से ग्रस्त हो जाते हैं। यह रसायनों की कमी के कारण होता है। आदमी डरता है। वह निरन्तर भयग्रस्त रहता है। भय लगने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनके एक कारण है—विटामिन "बी" की कमी। इस प्रकार अनेक रसायन भय, अवसाद, हत्या आदि वृत्तियों को पैदा करने वाले होते हैं।

मूड क्यों बिगड़ता है

आजकल एक विशेष रसायन पर बहुत खोज हो रही है। वह है 'ट्रिप्टोफेन'। यह सेराटोनिन का निर्माण करता है। आदमी का मूड बिगड़ता है। इसका मूल कारण है ट्रिप्टोफेन । (TRYPTOPHAN) की कमी या सेराटोनिन (SERATONIN) की कमी । यदि यह तत्त्व पर्याप्त मात्रा में होता है तो न मूड बिगड़ता है, न भय लगता है। इससे पीड़ा सहन करने की क्षमता भी बढ़ती है। आज हल्की सी पीड़ा को सहना भी कठिन होता है। आदमी तत्काल डाक्टर की शरण में जाता है, मानो वह सहना भूल ही गया हो। यह बड़ी समस्या है। यदि ट्रिप्टोफेन और सेराटोनिन की मात्रा पर्याप्त रूप में होती है तो सहन करने की क्षमता बढ़ती है, पीड़ा को सहने की शक्ति बढ़ती है।

आजकल मांसाहार बहुत प्रचलित है। मांसाहार के विषय में एक तर्क सामने आता है कि मांस और अण्डे में प्रोटीन बहुत होता है। इस प्रोटीन की अधिक मात्रा ने मनुष्य को अधिक बीमार बनाया है, उसके मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ा है। उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक रोगों से आक्रान्त किया है। अधिक मात्रा में व्यवहृत प्रोटीन लाभप्रद नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक दिन में 10-15 ग्राम प्रोटीन आवश्यक होता है। पर मांसाहार करने वाले या अंडा खाने वाले अधिक प्रोटीन खाते हैं। वह लाभप्रद नहीं होता। वे प्रोटीन के आधार पर ही मांसाहार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं, शाकाहार में इतना प्रोटीन नहीं मिल सकता, इसलिए मांसाहार करना उचित है। पर वे भूल जाते हैं कि शरीर के लिए उतना प्रोटीन अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी है। प्रोटीन में भी प्राणिज प्रोटीन तो अत्यन्त हानिकारक होता है। वनस्पति प्रोटीन उपयोगी होता है, पर वह भी मात्रा में लिया हुआ। बाजरे से जो प्रोटीन प्राप्त होता है, उसके समक्ष मांस का प्रोटीन नगण्य है। बाजरे का प्रोटीन स्वास्थ्यप्रद होता है और मांस का प्रोटीन रोग लाता है। मांसाहारी और अण्डा खाने वाला व्यक्ति जितनी भयंकर बीमारियों से ग्रस्त होता है, उतना शाकाहारी कभी नहीं होता। मांसाहारी के लिए मादक वस्तुओं का प्रयोग अनिवार्य बन जाता है, क्योंकि मांस को पचाने के लिए या तो अधिक नमक काम में लेना पड़ता है या फिर अल्कोहल का सेवन करना होता है। इनके सेवन से या तो गुर्दे की बीमारी को निमंत्रण दिया जाता है या लीवर और हार्ट की बीमारी को निमंत्रण दिया जाता है। मदिरा का सीधा असर लीवर और फेफड़े पर होता है। नमक की अधिक मात्रा गुर्दे को खराब कर देती है, रक्तचाप बढ़ जाता है। आज की अनेक बीमारियों का सीधा सम्बन्ध है भोजन से। ब्लडप्रेशर, हार्टट्रबल, अल्सर, केन्सर, किडनी की विकृति—इन बीमारियों के अन्यान्य कारणों में भोजन भी एक मुख्य कारण है। आज मात्रा की बात को भुलाकर आदमी अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चला रहा है। प्रोटीन एक उपयुक्त मात्रा में आवश्यक है, आदमी ने इसको भुलाकर तिनके को मूसल बना डाला।

तिनका मूसल बन गया

राजस्थानी कहावत है—"तिनके को मूसल बना देना।" एक व्यक्ति अपने सुसराल गया। भोजन करने बैठा। थाल में भोजन परोसा गया। वह थाल एक पट्ट पर रख दिया और पास में मूसल भी रख दिया। वह व्यक्ति समझ नहीं पाया कि भोजन के साथ मूसल का क्या संबंध है। उसने सभी से पूछा, पर किसी ने भी सही समाधान नहीं दिया। उस घर में एक बुढ़िया थी। उसकी उम्र 90 वर्ष की थी। उससे पूछा—मां ! भोजन के साथ मूसल रखने का क्या तात्पर्य है ? बुढ़िया बोली—बेटा ! मूल बात यह है कि पुराने जमाने में यहां मेहमान को सरसों की भाजी और रोटी परोसी जाती थी। सरसों की भाजी में डंठल बहुत रहते थे। भाजी खाने वालो के दांतों में वे डंठल फंस जाते थे। इसलिए भोजन के साथ तिनका रखने का रिवाज था, जिससे कि मेहमान उस तिनके से दांतों में फंसा भाजी का डंठल निकाल ले। आज न सरसों की भाजी परोसी जाती है और न सामान्य रोटी ही। सब कुछ बदल गया तो तिनके की परम्परा भी बदल गई और उसके स्थान पर लाठी या मग्गल की परम्परा चालू हो गई। इस प्रकार तिनका मूसल बन गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर के लिए कुछ मुख्य तत्त्वों की आवश्यकता होती है जैसे प्रोटीन, वसा, कार्बेट आदि। प्रोटीन आवश्यक है किन्तु आज का भोजन प्रोटीनमय बन गया । इसलिए अनेक बीमारियां पनपने लगीं। घुटने का दर्द भी अधिक प्रोटीन के सेवन से होता है। अधिक प्रोटीन की लालसा ने व्यक्ति को मांसाहार की ओर प्रेरित किया है। आज विद्यालयों में बच्चे को प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है कि अण्डों में प्रोटीन अधिक रहता है। उससे स्वास्थ्य अच्छा रहता है ।

भावनात्मक असंतुलन का मुख्य घटक : आहार

आज आहार के विषय में नई-नई खोजें सामने आ रही हैं। उनसे भ्रान्तियां टूटी हैं और टूटती जा रही हैं। आज माना जाने लगा है कि अधिक प्रोटीन खाना हानिकारक है। अण्डे का और मांस का सेवन करना बीमारी को निमंत्रण देना है। यह भोजन बीमारियां ही नहीं बढ़ाता, भावात्मक स्थिति को भी बिगाड़ देता है। भावात्मक स्थितियों की गड़बड़ी में दो मुख्य तत्त्व हैं—मांसाहार और मादक वस्तुओं का सेवन। आज की एक बीमारी है— मज्जाक्षय। इससे हड्डियां इतनी जल्दी टूट जाती हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। पैर फिसला, गिरा और हड्डी टूटी। इसका मूल कारण है मज्जाक्षय। हड्डी का सार तत्त्व है—मज्जा। यह कमजोर होती जा रही है। मज्जाक्षय के दो बड़े कारण हैं—भावात्मक असंतुलन और अतिश्रम। अति कामुकता और क्रोध भी मज्जाक्षय के कारण हैं। क्रोध के आवेश में मांसपेशियों का संकुचन और फैलाव होता है। इससे मज्जा का क्षय होता है।

वर्तमान व्यक्ति में जो भावात्मक असंतुलन है, उसका आहार भी एक मुख्य घटक है। व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं।

अन्न और मन का संबंध

आहार के तीन प्रकार हैं—राजसिक आहार, तामसिक आहार और सात्त्विक आहार। जीवन का भोजन के साथ गहरा संबंध है। इसलिए कहा गया है—जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। अन्न और मन का संबंध गहरा है। दूसरे शब्दों में, अन्न और भावों का गहरा संबंध है इसीलिए भोजन संबंधी अनेक वर्जनाएं की गईं। तामसिक भोजन नहीं करना चाहिए, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए, प्याज़-लहसुन आदि का वर्जन करना चाहिए। मांस और मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिए, आदि-आदि। योद्धाओं और हिंसकों के लिए मांस-मदिरा की छूट थी, क्योंकि क्रूर हुए बिना दूसरों का कत्लेआम नहीं किया जा सकता। योद्धा को क्रूर होना होता है तभी वह अपने शत्रुओं को घास की भांति काट सकता है। उनके लिए तामसिक आहार की उपयोगिता बताई। सात्त्विक आहार करने वाले के मन में करुणा जाग जाती है। वह दूसरे को मार नहीं सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांस-मंदिरा प्रयोग सीमित दायरे में था, पर आज यह समाज-व्यापी बन गया। सभी क्षत्रिय और योद्धा बन गए। यह सभी में चल पड़ा, इसलिए बहुत हानि हुई है।

अहिंसा का महत्वपूर्ण सूत्र

अहिंसा के प्रश्न पर विचार केवल धर्म की दृष्टि से नहीं, किन्तु शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से कर रहे हैं। वैज्ञानकि दृष्टिकोण यह है कि किस प्रकार के भोजन से शरीर में क्या-क्या रसायन बनते हैं, एसिड बनते हैं ? कौन-कौन से विष किस-किस प्रकार की वृत्ति पैदा करते हैं ? आदमी थोड़ा-सा श्रम करता है और थक जाता है। यह थकान श्रम करने से नहीं आती, परन्तु शरीर में संचित जहरीले द्रव्यों के कारण आती है। जब यूरिक एसिड का जमाव अधिक होता है, आदमी थोड़े से श्रम में भी थककर चूर हो जाता है। शरीर की रक्त-प्रणालियों में एसिड जम जाता है और वह रक्त के संचार में अवरोध पैदा करता है। इन विष-द्रव्यों को शरीर में जमा न होने देना—यह है अहिंसा और आहार का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र।

हिंसा पर अंकुश का मार्ग

शरीर में विष-द्रव्य बनेंगे, उन्हें रोका नहीं जा सकता। शरीर है तो भोजन करना ही होगा। भोजन में दोनों प्रकार के द्रव्य होते हैं—अम्लांत और क्षारांत। एक अम्ल होता है और एक क्षार होता है। आज अम्लांत भोजन अधिक है और क्षारान्त कम। अम्लता से विष-द्रव्य बढ़ते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता किन्तु वे संचित न हों, यह सावधानी बरती जाए तो अहिंसा के लिए रास्ता साफ हो जाता है और हिंसा की प्रवृत्तियों पर अंकुश लग जाता है।

प्रश्न है—विष द्रव्यों का निष्कासन कैसे किया जाए ? इस प्रश्न के उत्तर में सबसे पहले यह सावधानी बरतनी होगी कि विष-द्रव्य कैसे कम हों, अधिक मात्रा में न बढ़ें। दूसरी बात यह हो कि जो विष-द्रव्य जमा हो जाते हैं, उनको कैसे निकालें?

आहार का एक पहलू—अनाहार

इस संदर्भ में आहार के दूसरे पहलू पर विचार करना होगा। वह पहलू है—अनाहार, उपवास। उपवास आहार का ही एक पहलू है। खाना और न खाना—दोनों जुड़े हुए हैं। विष-द्रव्यों के निष्कासन का सबसे अच्छा उपाय है—उपवास। यह धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और भावात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। ये विष-द्रव्य भावनाओं को विकृत करते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा —

'रसापगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंती, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रसों का–दूध, दही, नवनीत, चीनी आदि का–अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। ये रस विकार पैदा करते हैं, आदमी को दृप्त बनाते हैं। जहां दृप्ति होती है वहां काम वासनाएं उभरने लगती हैं और वे व्यक्ति को उसी तरह पीड़ित करती हैं, जैसे स्वादु फल वाले पेड़ को पक्षी पीड़ित करते हैं।

आहार और स्वास्थ्य

अधिक रसों का सेवन नहीं करना चाहिए। सब रस-त्याग की बात से मांसाहार के त्याग की बात स्वत: प्राप्त हो जाती है। मनुष्य को इस तथ्य के प्रति अधिक सावधान रहना चाहिए कि किस प्रकार के भोजन से भावात्मक स्वास्थ्य कैसा होता है ? आज आदमी केवल यह देखता है, सोचता है कि किस प्रकार के भोजन से शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह भ्रान्ति है। यह एक पहलू हो सकता है पर यही सब कुछ नहीं हो सकता। भोजन के तीन परिणाम होने चाहिए–शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और भावात्मक स्वास्थ्य। भोजन का चुनाव करते समय हमारा विमर्श होना चाहिए कि यह भोजन भावात्मक स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला है या घटाने वाला ? दूसरा विमर्श यह हो कि यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है या हानिकारक है ? तीसरा विमर्श यह हो कि यह भोजन शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपकारक है या हानिकारक ? यदि केवल शारीरिक स्वास्थ्य के पहलू को ही ध्यान में रखकर भोजन का चुनाव किया जाता है तो बात बनती नहीं। यदि भावात्मक स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो शारीरिक स्वास्थ्य से क्या होगा ?

भोजन के विमर्श का पहला बिन्दु है–भावात्मक स्वास्थ्य। भावात्मक स्वास्थ्य का सीधा संबंध है अहिंसा से। जिनका भावात्मक स्वास्थ्य जितना अच्छा होगा, वह उतना ही अच्छा अहिंसक होगा। जो भावात्मक दृष्टि से बीमार होगा, वह हिंसक होगा, अपराधी होगा, हत्यारा होगा । ये अपराध और हत्याएं भावात्मक अस्वास्थ्य के कारण होती हैं।

चिन्तन की दयनीय स्थिति

आज चिंतन के क्षेत्र में एक दयनीय स्थिति बनी हुई है। आज सब कुछ शरीर की दृष्टि से सोचा जाता है। उसके बाद नम्बर आता है मन का। मन के विषय में बहुत कम सोचा जाता है, किंतु भावात्मक दृष्टि से सोचा तो नहीं के बराबर है।

आज के विचार का पहलू है–शरीर, फिर मन और फिर भावना। इसे बदलना जरूरी है। विचार का मुख्य पहलू होना चाहिए भावना, फिर मन और फिर शरीर। जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है भावना। जैसा भाव वैसा मन और जैसा मन वैसा शरीर। अनेक विकार भाव के कारण उत्पन्न होते हैं। अनेक बीमारियां भाव के कारण होती हैं। जब भाव मन को प्रभावित करता है, मन बीमार हो जाता है। जब मन बीमार हो जाता है, शरीर बीमार बन जाता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार का पेरामीटर क्या है ?

तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और उपाधि । व्याधि है—शरीर की व्यथा, आधि है—मानसिक व्यथा और उपाधि है—भावात्मक व्यथा। प्रश्न है—पहले किस पर चोट करें ? सामान्यत: शरीर पर चोट करने की ही बात सामने आती है। किन्तु गहरे में उतर कर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि सबसे पहले चोट करनी चाहिए उपाधि पर, भावात्मक व्यथा पर। काम, क्रोध, अहं, ईर्ष्या, माया, लोभ—ये सब भावात्मक दोष हैं। सबसे पहले इन पर चोट होनी चाहिए। इन पर चोट किए बिना भावनाओं को स्वस्थ नहीं रखा जा सकता। भावनाओं के स्वास्थ्य के साथ भोजन का प्रश्न जुड़ा हुआ है। भोजन कैसा हो, यह विवेक होना चाहिए।

आज के आहार का पेरामीटर है—स्वादिष्ट, दिखने में सुन्दर, चटपटे आदि। इसके आगे कोई सोचता ही नहीं। न भोजन का संयोजन करने वाला सोचता है, न भोजन करने वाला सोचता है और न खाने वाला सोचता है।

ध्यान-साधक के लिए भोजन का विवेक बहुत आवश्यक है। जीवन विज्ञान का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है जीवन-शैली को बदलना। जीवन-शैली को बदलने का महत्त्वपूर्ण पहलू है आहार को बदलना । आहार में परिवर्तन आना चाहिए । यह परिवर्तन भावात्मक परिवर्तन का हेतु बनता है। भावात्मक स्वास्थ्य अच्छा होगा तो हिंसा की वृत्तियां अपने आप क्षीण होंगी, अहिंसा का विकास होगा।

2.3 : अहिंसा और आसन

हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध अनेक घटकों से है। हिंसा की वृत्ति बढ़ने में अनेक तत्त्व काम करते हैं। अहिंसा के विकास में भी अनेक तत्त्व काम करते हैं।

हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध या इस भाषा में कहें कि हिंसा और अहिंसा की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध हमारी मुद्राओं से भी है। हम किस प्रकार बैठते हैं, किस प्रकार खड़े होते हैं और किस प्रकार सोते हैं इनके साथ भी उसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

आसन : एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम

योगासन एक बहुत पुरानी विधा है। हठयोग में आसनों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । जैन परम्परा में भी उनका बड़ा महत्त्व रहा है। बौद्ध ध्यानपद्धति विपश्यना ने आसनों को स्वीकार नहीं किया किन्तु जैन परम्परा में और हठयोग की परम्परा में आसनों को बहुत मूल्य दिया गया । आसन केवल स्वास्थ्य के लिए ही नहीं किए जाते, केवल मांसपेशियों को स्वस्थ बनाने के लिए ही नहीं किए जाते, उनका और ज्यादा प्रभाव है। उनसे मांसपेशियां सक्रिय और स्वस्थ बनती हैं, रक्त का अभिसरण सम्यक् प्रकार से होता है, शारीरिक क्रियाएं स्वस्थ बन जाती हैं। इतना ही नहीं उनके द्वारा नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितंत्र भी प्रभावित होता है। उनके द्वारा भावनाओं पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक है श्रम

युग की समीक्षा करें तो एक नई स्थिति सामने आती है, जो इस युग की विशिष्ट देन है। प्राचीनकाल में मांसपेशियों पर दबाव ज्यादा पड़ता था और नाड़ी-तंत्र पर दबाव कम पड़ता था। आदमी अपने हाथ से काम करता, श्रम करता। जब श्रम होता है तो मांसपेशियों पर अधिक दबाव पड़ता है किन्तु नाड़ी-तंत्र को विश्राम ज्यादा मिलता है। आज उलटा हो गया। इतने साधन और सुविधाएं हो गईं, जिनसे मांसपेशियों को तो बहुत आराम मिल रहा है, किन्तु नाड़ी-तंत्र पर अत्यधिक दबाव पड़ रहा है। यह एक भिन्न प्रकृति बन गई। पैदल चलने की जरूरत नहीं, वाहन तैयार है। पंखा झलने की जरूरत नहीं, बिजली का पंखा तैयार है। न हाथ की मांसपेशियों को श्रम देने की जरूरत है और न पैर की मांसपेशियों को श्रम देने की जरूरत है। इतने सुविधा के साधन बन गए कि मांसेपशियां अच्छी तरह से आराम करें। व्यावसायिक, औद्योगिक तथा दूसरे-दूसरे चिंतन के प्रकारों से तनाव, भय आदि इतने ज्यादा व्याप्त हैं कि नाड़ी-तंत्र पर सीमा के अतिरिक्त दबाव पड़ रहा है। यह एक उलटी समस्या हो गई और 21 वीं शताब्दी की जो कल्पना की जा रही है, उसमें यह समस्या और अधिक भयंकर बन जाएगी। कम्प्यूटर का युग आएगा, रोबोट का युग आएगा तो मांसपेशियों को बिलकुल तनाव देने की जरूरत नहीं रहेगी। यह यन्त्र-मानव घर का सारा काम कर देगा। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। न पंखे के लिए बटन दबाने की जरूरत, न बिजली जलाने की जरूरत। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। कैसा अच्छा युग है ! कितनी सुविधा का युग है कि कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। यह स्वर्गीय कल्पना जैसी बात लगती है। कितना आराम होगा आदमी को ! इस कल्पना के आधार पर आदमी का भविष्य कितना जटिल होगा, यह नहीं सोचा ! यदि ऐसा होगा तो मांसपेशियां बिलकुल निकम्मी हो जाएंगी। एक ओर मांसपेशियों का निकम्मापन होगा तो दूसरी ओर चिंतन, विचार और नाड़ी-तंत्र पर अत्यधिक दबाव बढ़ जाएगा। पहला दबाव निठल्लेपन का होगा। आदमी फिर करेगा क्या ?

कल्पना इक्कीसवीं शताब्दी की

21 वीं शताब्दी की जो कल्पना की जा रही है, शायद वह मनुष्य के लिए वरदान नहीं होगी। अगर वैसा हुआ तो आदमी भी एक यंत्र का पुर्जा बन जाएगा इससे ज्यादा उसका मूल्य नहीं होगा।

इस सारी स्थिति और प्रकृति को बदलने के लिए, संतुलन बनाने के लिए शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम—दोनों में संतुलन बना रहे, यह आवश्यक है मस्तिष्क को सक्रिय रखने के लिए मानसिक श्रम बहुत आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मांसपेशीय श्रम बहुत आवश्यक है। दोनों का संतुलन बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे। उस संतुलन की दृष्टि से योगासनों का बहुत मूल्य है। योगासन संतुलन बनाते हैं। वे मांसपेशियों को भी स्वस्थ बनाते हैं और साथ-साथ मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाते हैं। दोनों में संतुलन रहता है।

आसन और अहिंसा

हमें हिंसा और अहिंसा की चर्चा करनी है। हिंसा और अहिंसा का आसनों से क्या संबंध है ? इस संबंध को खोजना है। हमारे शरीर में बहुत प्रकार के एसिड बनते हैं। उनकी मात्रा बढ़ती है तो संतुलन बिगड़ता है और आदमी की मनोवृत्ति बदल जाती है। वह क्रोधी, अपराधी और क्रूर हत्यारा तक बन सकता है।

योगासन के द्वारा एसिड में संतुलन स्थापित किया जा सकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि संतुलन स्थापित करने में ये बहुत उपयोगी हैं। जब हमारे रक्त में, मस्तिष्क में, मूत्र में एनिमो एसिड की मात्रा बढ़ जाती है तो आदमी हिंसक बन जाता है, क्रूर बन जाता है और हत्यारा बन जाता है। इनकी मात्रा में एक संतुलन स्थापित करना योगासन के द्वारा संभव है। आसनों के द्वारा वैसा किया जा सकता है और वह संतुलन होता है तो आदमी संतुलित हो जाता है। हिंसा की मनोवृत्ति पैदा करने में इन एसिडों का बहुत बड़ा हाथ है। कुछ रसायन और ये एसिड आदमी को उग्र बना देते हैं, व्यक्ति की मनोवृत्ति बदल जाती है, आदमी क्रूर और हत्यारा बन जाता है।

हम अहिंसा की दृष्टि से विचार करें और यह सोचें कि किस प्रकार व्यक्ति को अहिंसक बनाया जा सकता है ?

सही निदान को प्राथमिकता

एक बीमार आदमी की जांच की जाती है, निदान किया जाता है कि बीमारी क्या है ? उस निदान के लिए अनेक यंत्र हैं। वैसे ही मानसिक स्वास्थ्य और भावात्मक स्वास्थ्य के लिए हमें निदान करने की जरूरत है। क्या-क्या कारण हैं, कौन-कौन से हेतु हैं और कौन-कौन से तत्त्व अधिक सक्रिय हो गए हैं, जिसके कारण यह बच्चा या यह युवक क्रूर बन गया, उग्र बन गया, अपराधी बन गया, हत्यारा बन गया। इन सारे कारणों की खोज जरूरी है। यदि निदान ठीक हो गया तो उपचार ठीक किया जा सकेगा। बीमारी कुछ होती है, निदान कुछ होता है और इलाज कुछ हो तो कुछ बनता नहीं है। सही बीमारी और सही निदान हो तो ही काम चल सकता है।

एक व्यक्ति वैद्य के पास पहुंचा और बोला– आंख में दर्द है। वैद्य ने दवा दे दी। उसने फिर पूछा– वैद्यजी ! आंख में लगेगी तो नहीं ? वैद्य ने कहा– एक बार तो जलन होगी, फिर ठंडी हो जाएगी। वह घर पर आया और दवा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठ पर मलने लगा। अचानक वैद्य वहां पहुंच गया। उसने देखा और कहा– अरे! दवा तो आंख की दी थी, तुम पीठ पर मल रहे हो ? उसने कहा– आपने ही कहा था कि आंख में लगेगी। अत: पीठ पर मल लेता हूं, वहां जलन नहीं होगी। आंख हो या पीठ– दोनों शरीर के ही तो अंग हैं।

यह विपर्यय, यह झूठा भ्रम बहुत चलता है। मानसिक स्वास्थ्य और भावात्मक स्वास्थ्य के बारे में भी ऐसी बहुत भ्रांतियां चल रही हैं। ठीक निदान नहीं हो रहा है। ठीक निदान हो और ठीक कारणों का पता लगा सके तो कोई कारण नहीं कि हिंसा बढ़े, अपराध बढ़े और हत्याएं बढ़े। सही निदान नहीं हो रहा है और सही उपचार नहीं हो रहा है। मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है, भावात्मक स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है, अपराध और हत्याएं बढ़ती जा रही हैं। निदान और उपचार करने की जरूरत है। उस उपचार में योगासनों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सबसे ज्यादा मूल्य है भाव का

हमारे शरीर में कुछ ऐसे सूक्ष्म रसायन हैं, जो हमारे विचारों और भावों को प्रभावित करते हैं। उनमें पिच्यूटरी, पिनियल, थाइरायड और एड्रीनल– इन चार ग्रन्थियों के स्राव बहुत प्रभावित करते हैं। इनका स्राव बहुत थोड़ा-सा होता है। इतना थोड़ा कि जिसका कोई पता ही नहीं चलता। किन्तु ये स्राव हमारे विचारों, भावों को बहुत प्रभावित करते हैं। ये शरीर को तो प्रभावित करते ही हैं, किन्तु भावतंत्र को भी प्रभावित करते हैं। इनमें असंतुलन होता है तो सारी मानसिक और भावात्मक व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। इन पर नियन्त्रण करने के लिए योगासनों का बहुत ज्यादा मूल्य है। बहुत लोग केवल पाचन-तंत्र, श्वसन-तंत्र आदि-आदि को ठीक करने के लिए योगासनों का प्रयोग करते हैं। वे चाहते हैं कि पाचन ठीक हो, श्वास की प्रणाली ठीक हो और रक्त-संचार ठीक होता रहे। इन दृष्टियों से योगासनों का प्रयोग करते हैं। यह कोई गलत बात नहीं है। हर आदमी शरीर को स्वस्थ रखना चाहता है। यह आवश्यक भी है, किन्तु हम भुला देते हैं इस बात को कि शरीर का जितना मूल्य है उससे ज्यादा मूल्य है मन का और उससे भी ज्यादा मूल्य है– भावों का। शरीर का संचालन भाव करते हैं। भाव का सबसे ज्यादा मूल्य है। मन का संचालन भी भाव करते हैं। हम भाव पर जब ध्यान नहीं देते हैं, भावात्मक स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देते हैं तो शारीरिक स्वास्थ्य बहुत कमजोर बन जाता है।

प्रश्न है भावतंत्र को मजबूत बनाने का

एक आदमी बहुत हट्टा-कट्टा है। किसी ने आकर एक संवाद दे दिया, तुम्हारा इकलौता बेटा दुर्घटना-ग्रस्त हो गया। उस समय क्या होता है ? शरीर तो बहुत मजबूत है, बहुत हृष्टपुष्ट है, पर उस संवाद से उसका सारा शरीर ढीला पड़ जाता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैर उठते नहीं, हाथ कांपने लग जाते हैं, दिमाग चकरा जाता है। सारा शरीर लड़खड़ा जाता है। शरीर इतना मजबूत था, क्या हुआ ? शरीर तो अब भी वैसा ही है, कोई फर्क नहीं आया। शायद आधा किलो वजन भी नहीं घटा है। उतना ही शरीर, किन्तु भाव-तंत्र थोड़ा-सा गड़बड़ाया और शरीर लड़खड़ा गया। शरीर का संचालक है भावतंत्र और दूसरे नम्बर पर है भावतंत्र द्वारा संचालित मानसतंत्र। ये शरीर के संचालक हैं। लोग भी बड़े अजीब हैं कि जो मूल संचालक है उस ओर ध्यान कम देते हैं और जो सीधा दिखता है उस ओर ध्यान ज्यादा जाता है। जो पहले आता है उसकी ओर हमारा ध्यान ज्यादा जाता है और जो पीछे आता है उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। यह बड़ी अजीब दुनिया है और अजीबोगरीब है हमारी मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति को बदलना भी बहुत जरूरी है। भावतंत्र शक्तिशाली बना रहे। भावतंत्र शक्तिशाली होता है तो आदमी के सारे कार्य ठीक हो जाते हैं।

बात कल्पना से परे की

एक बड़ी मार्मिक घटना है, कल्पना से बाहर की बात है। एक बड़ा व्यापारी था। उसका इकलौता बेटा पढ़ने जा रहा था। तेज रफ्तार से कार आई, बच्चे को कुचल कर निकल गई। कोर्ट में केस चला। पिता का नम्बर आया गवाही के लिए। पिता बहुत संतुलित आदमी था। उसने चिन्तन किया। मेरा लड़का तो चला गया, वह तो वापस आने का नहीं। ड्राइवर को कड़ी सजा होगी, इसका परिवार आधारहीन हो जाएगा। मुझे जितना कष्ट हुआ है, इसके परिवार को भी उतना ही कष्ट होगा। एक संवेदनशीलता का धागा जुड़ा। उसने संवेदना के स्तर पर चिन्तन किया और सोचा कि हुआ सो हो गया। मुझे इसको बचा लेना है। न्यायाधीश ने पूछा, बताओ कैसे हुई दुर्घटना ? व्यापारी ने कहा, दुर्घटना हुई है। इसमें ड्राइवर का कोई दोष नहीं है। यह कार बिलकुल ठीक चला रहा था। लड़के की ही गलती थी। वह दौड़ कर कार के सामने आ गया और मर गया। बात समाप्त। ड्राइवर बिलकुल बच गया।

क्या ऐसा होना संभव है ? क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि बाप का इकलौता बेटा ड्राइवर की गलती से कुचल गया और बाप ही यह साक्षी देता है कि ड्राइवर की कोई गलती नहीं थी। यह संभव नहीं है। संतुलित व्यक्ति ही केवल ऐसा कर सकता है।

युद्ध पहले मस्तिष्क में

यह संतुलन अंतःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव-संतुलन से पैदा हो सकता है। उन पर हमारा नियंत्रण हो। उन्हें नियंत्रित करने में योगासनों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। एड्रीनल ग्लैण्ड उत्तेजना के लिए काफी काम करती है। उस पर नियंत्रण हो तो काफी संतुलन हो जाता है। शशांकासन एक आसन है। इसका प्रयोग करने से एड्रीनल पर नियंत्रण पाया जा सकता है। वह नियंत्रण को काफी संतुलित बना देता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यदि प्रतिदिन इस आसन का प्रयोग किया जाए तो बहुत सारी वृत्तियों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। जितने निषेधात्मक भाव और जितनी मूर्च्छा की प्रकृतियां हैं उनको प्रगट करने का काम एड्रीनल ग्लैण्ड के आसपास होता है। वह उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। अगर उस पर हमारा नियंत्रण होता है तो व्यक्ति बहुत शांत और संतुलित बन जाएगा, उतावलापन नहीं होगा, कोई अधीरता नहीं होगी, जल्दबाजी में काम नहीं होगा। आज के युग की विशेषता है उतावलापन, अधीरता और जल्दबाजी। उस जल्दबाजी के कारण आदमी कभी क्रोध में चला जाता है, कभी अहंकार में चला जाता है और कभी-कभी दूसरी निषेधात्मक प्रवृत्तियों में चला जाता है। यदि हमारा एड्रीनल ग्लैण्ड पर नियंत्रण होता है तो हिंसात्मक दृष्टियां कम होती हैं, हिंसात्मक उत्तेजनाएं कम हो जाती हैं। क्या हिंसा घटना के आधार पर होती है ? कुछ लोग कहते हैं कि इतनी छोटी-सी बात थी और इतना बतंगड बन गया, पहाड़ बन गया। यह तो स्वभाव है हिंसा का।

सारे संसार के इतिहास में जितने भी बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं, वे कोई बड़ी बात को लेकर नहीं हुए। छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर महायुद्ध और विश्वयुद्ध हुए हैं। दो विश्व-युद्ध हो गए। इनके पीछे कौन-सी बड़ी घटना थी ? प्राचीनकाल में हजारो-हजारों वर्षों में, अनेक बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं। कोई बड़ी बात नहीं, छोटी बात के आधार पर बड़ी लड़ाइयां लड़ी गईं। बड़ी बात इतनी साफ होती है कि उसके लिए लड़ने की कोई जरूरत ही नहीं होती। बड़ी बात की लड़ाई तुरन्त समाप्त हो जाती है। पर कोमा की लड़ाई, अर्द्धविराम की लड़ाई बड़ी खतरनाक होती है। उसमें बड़ा विवाद होता है कि कोमा वहां लगनी चाहिए या यहां ? कहां लगनी चाहिए– इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। विराम– फुलस्टोप देने में कोई कठिनाई नहीं है, बात समाप्त हुई और वहां विराम हो गया। छोटी बात पर बड़ा विवाद हो जाता है। लड़ाई के लिए घटना की जरूरत नहीं। लड़ाई पैदा होती है मस्तिष्क में और लड़ाई का अंत होता है मस्तिष्क में। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट में यह वाक्य उद्धृत किया गया कि युद्ध पहले मस्तिष्क में होता है, फिर समर-भूमि में लड़ा जाता है। यह बिल्कुल सही बात है।

अहिंसा : शारीरिक दृष्टि

इस बात पर शारीरिक दृष्टि से विचार करें। मस्तिष्क का एक हिस्सा है भावनात्मक तंत्र, जिसे हाइपोथेलेमस कहा जाता है, जो लिंबिक ब्रेन का एक पार्ट है। इसमें दूसरा एड्रीनल ग्लैण्ड और तीसरा पिच्यूटरी या पिनियल। इनका साझा है। इन सबका योग मिलता है तो हिंसा, लड़ाई, युद्ध– ये सब भड़क उठते हैं। इस साझा को तोड़ दिया जाए। इनमें से किसी एक पर कन्ट्रोल कर लिया जाए तो साझा टूट जाएगा और हिंसा की बात गौण बन जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्राट्, अशोक ने कलिंग में लाखों व्यक्तियों की हत्या की थी। उसने बड़े युद्ध लड़े। हजारों सैनिक मारे गए। बाद में वह बदल गया और इतना बदला कि अशोक एक अहिंसा का दूत बन गया। शांति का संदेश-वाहक बन गया। उसने शांति का संदेश मात्र हिन्दुस्तान में ही नहीं, बाहर भी अनेक देशों में पहुंचाया। यह वही अशोक था जो एक दिन महान् लड़ाकू योद्धा और नर-संहार करने वाला था और वही अशोक शांतिप्रिय और धर्म का वाहक बन गया। यह कैसे हुआ परिवर्तन ? उस समय उसका नाड़ीतंत्र और ग्रन्थि-तंत्र दूसरी ओर काम कर रहा था, हिंसा की ओर उन्मुख था। जब उस पर नियंत्रण हुआ तो वह आमूलचूल बदल गया, शांतिप्रिय हो गया। अहिंसा का पुजारी बन गया।

विष निष्कासन का साधन : आसन

बदलने के अनेक कारण हैं। हिंसक से अहिंसक होने के अनेक कारण हैं। उन कारणों में योगासन भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इनके अभ्यास के द्वारा उस तंत्र को बदला जा सकता है जो हिंसा का तंत्र है। उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

योगासनों का यह कार्य है और इनके द्वारा यह हो सकता है। थाइरायड पर नियंत्रण करना है तो सर्वांगासन का प्रयोग लाभप्रद है। सर्वांगासन के द्वारा इसे संतुलित बनाया जा सकता है।

ये आसन हमारे नाड़ीतंत्र को, ग्रन्थितंत्र को और एमिनों एसिड को भी संतुलित बनाते हैं। आसन शरीर में एकत्रित होने वाले बहुत सारे विजातीय तत्त्वों को भी बाहर करते हैं। शरीर में जो विष जमा होते हैं, उन्हें निकालने का एक उपाय है उपवास तो दूसरा उपाय है योगासन।

अहिंसा का सम्बन्ध है आसन से

अहिंसा की दृष्टि से इन योगासनों का बहुत बड़ा मूल्य है। हिंसा का संबंध है हमारे नाड़ीतंत्र से, हिंसा का संबंध है हमारे ग्रन्थितंत्र से और हिंसा का संबंध है अम्लों से। इन सबसे संबंध है। हिंसा पर नियंत्रण करने में आसनों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन्हें पहचानना है। इन्हें जानना है। बहुत बार पहचानने में गलती हो जाती है, आदमी जानबूझकर पहचानने में गलती कर देता है।

छोटी सी घटना है। एक युवती खड़ी थी बस स्टेण्ड पर। वहां एक आदमी आया और बोला, बहिनजी ! मैंने आपको कहीं देखा तो है ? वह उसकी बात को ताड़ गई। वह समझ गई कि ऐसा कहने के पीछे इसकी कौन-सी भावना काम कर रही है। उसने कहा, आप ठीक कह रहे हैं। मैं पागल-खाने में नर्स हूं। वह युवक बेचारा सकपका गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहचानने में बड़ी भूल हो जाती है। आदमी पहचान नहीं कर सकता। अपने भावावेश के कारण मिथ्या और गलत पहचान कर लेता है। हमें उन भ्रान्तियों से बचना है। गलत पहचान से बचना है और यथार्थ को समझना है। यथार्थ की दृष्टि से चिंतन करें तो योगासनों का ठीक मूल्यांकन होगा। जीवन विज्ञान के साथ योगासन अनिवार्यतया जुड़े हुए हैं और हम इन्हें अनेक दृष्टियों से आवश्यक मानते हैं। कोई व्यक्ति ध्यान करता है। ध्यान का पाचनतंत्र पर असर आता है। पाचनतंत्र थोड़ा कमजोर बनता है। यदि योगासन न करें तो पाचनतंत्र और अधिक बिगड़ जाता है। ध्यान के साथ योगासन करना अत्यन्त आवश्यक है। उससे पाचनतंत्र बिलकुल स्वस्थ बना रहता है।

शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और भावनात्मक दृष्टि से आसनों का अपना महत्त्व है। इसीलिए जीवन विज्ञान का वह एक अनिवार्य अंग बना हुआ है। इन योगासनों के द्वारा किसी प्रकार वृत्ति को और भावनाओं को बदला जा सकता है, यह एक गंभीर अध्ययन का विषय है। उतनी सूक्ष्मता में जाएं या न जाएं, मोटी-मोटी बात समझ में आ जाए तो वृत्ति-परिवर्तन की दिशा में, अहिंसा के विकास की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है।

2. अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण

पुलिस एकेडमी के परिसर में सूर्योदय होते-होते सैकड़ों-सैकड़ों पुलिस के जवान और ट्रेनिंग देने वाले अधिकारी खड़े हो जाते हैं मैदान में और उनका घंटों प्रशिक्षण चलता है। कुछ सशस्त्र पुलिस वाले और कुछ शस्त्र के बिना अभ्यास करने वाले। यह रोज का रिहर्सल, प्रतिदिन का पूर्वाभ्यास उनका निर्माण करता है कि वे हिंसा से निपट सकें, हिंसक साधनों के द्वारा हिंसा को दबा सकें और हिंसा से हिंसा को निर्मूल कर सकें। सैनिक छावनियों में सैकड़ों सैनिकों की पंक्ति लगती है और उन्हें घंटों तक अभ्यास कराया जाता है। सारी पद्धति सिखाई जाती है। हिंसा के लिए कितना प्रयत्न हो रहा है ! मनुष्य के मस्तिष्क को प्रशिक्षित किया जा रहा है कि कैसे शस्त्र का प्रयोग किया जाए ? कैसे मारा जाए ? कैसे हिंसा से हिंसा का सामना किया जाए ? कैसे आक्रमण किया जाए ? कैसे प्रत्याक्रमण किया जाए ? इतनी सूक्ष्म जानकारी और इतनी ट्रेनिंग है कि वर्षों तक चलती रहती है और उसकी पुनरावृत्तियां कई वर्षों तक होती रहती हैं। कभी उसे पुराना नहीं होने दिया जाता, बासी नहीं होने दिया जाता। इतना नया-नया विकास हो रहा है ! नए प्रक्षेपास्त्र आ गए। नए आग्नेय अस्त्र, नए वाहन आ गए। यदि एक वर्ष पिछड़ जाए, बासी हो जाए, तो वह किसी काम का नहीं रहता। उसे तात्कालिक रहना पड़ता है। आज की नवीनतम तकनीक का ज्ञाता होकर रहना पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक विरोधाभास

सुना जाता है कि कुछ पश्चिमी देशों में आतंकवाद का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। मन में एक विकल्प उठता है कि हिंसा के लिए व्यक्ति को इतना ट्रेंड किया जा रहा है, प्रशिक्षित किया जा रहा है तो क्या अहिंसा के लिए ट्रेनिंग की कोई आवश्यकता ही नहीं है ? ऐसा लगता है नहीं है। अहिंसा को हमने बिलकुल परित्यक्ता बना दिया है।

हम बात करते हैं अहिंसा की और समाज में सारी तैयारी है हिंसा की। मेल कहां होगा ? जिसके लिए कोई तैयारी नहीं, उसके लिए तो बहुत चर्चा करते हैं, आवश्यकता बतलाते हैं। आज समाज को अहिंसा की बहुत जरूरत है पर हमारा सारा प्रयत्न हिंसा के लिए हो रहा है। हिंसा के लिए शस्त्रों का निर्माण, हिंसा के लिए ट्रेनिंग, हिंसा का प्रशिक्षण। हमारी चाह तो एक दिशा में और प्रयत्न बिलकुल विपरीत दिशा में। क्या यह एक विरोधाभास नहीं है ? जीवन की विसंगति नहीं है ? ऐसी विसंगति पर हंसी भी आती है और मन में खेद भी होता है। यदि समाज में उत्पीड़न नहीं होता तो अहिंसा की बात किसी को सूझती भी नहीं। जब जापान में अणु-अस्त्रों का प्रयोग हुआ तो सारा विश्व हिंसा के महाप्रलय से भयभीत और आतंकित हो गया। अहिंसा की तरफ उसका ध्यान आकर्षित हुआ। उस समय हिंसा में आस्था रखने वाले लोगों की आस्था भी हिल गई और एक ही प्रश्न सामने आया कि यदि यही क्रम चालू रहा तो एक दिन मनुष्य जाति का बिलकुल संहार हो जाएगा।

प्रश्नचिह्न अहिंसक के सामने

पौराणिक कहानियों में कहा जाता है कि शंकर प्रलय करते हैं। अणुबम तो महाशंकर बन गया, जिसने इतना बड़ा प्रलय कर डाला। जो अहिंसा में विश्वास रखने वाले थे, उन लोगों ने विश्वशांति का अभियान शुरू किया। शांति के लिए प्रयत्न, निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न, युद्धवर्जना के लिए प्रयत्न किए, किन्तु शस्त्रों का निर्माण और अधिक बढ़ गया। वैसे शस्त्रों का निर्माण हुआ, जो महाप्रलयंकारी हैं। केवल अणुअस्त्र ही नहीं, उससे भी भयंकर अस्त्रों का निर्माण शुरू हो गया। स्टारवार की कल्पना सामने आ गई, जो बहुत ज्यादा घातक है। नक्षत्रीययुद्ध, आकाशीययुद्ध– इनकी भी कल्पना सामने आ गई। विकास होता गया अस्त्रों के निर्माण का। एक ओर अस्त्रों के निर्माण की चर्चा बहुत तेजी पर है तो दूसरी ओर अहिंसा की चर्चा भी बहुत तेजी पर है। एक हाथ में घोड़ा नहीं रखना चाहता। वह एक हाथ में घोड़ा रखेगा तो एक हाथ में गधा रखेगा। गधा ऐसा बेवकूफ जानवर होता है, भोला होता है कि चाहे जो कुछ कर लो। घोड़ा तेज होता है। गधा रखना भी शायद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जरूरी समझा हो। एक ओर भयंकर अस्त्रों का निर्माण और दूसरी ओर अहिंसा की चर्चा। ये दोनों हमारे इस विसंगति भरे समाज में और विरोधाभासी जीवन में एक साथ चल रहे हैं। लोग कह रहे हैं कि दो विरोधी बातें एक साथ नहीं हो सकतीं, किन्तु ये दोनों बिल्कुल विरोधी बातें आज पूरे समाज में व्याप्त है। मात्र हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारे संसार में दोनों बातें एक साथ चल रही हैं।

इस स्थिति में जो लोग अहिंसा में आस्था रखते हैं, उनके सामने यह प्रश्नचिह्न है कि क्या वे अहिंसा की चर्चा ही करें ? केवल बात ही करें ? अहिंसा का कोरा उपदेश ही दें या इससे आगे अपना कदम बढ़ाएं ? ऐसा लगता है कि प्रयत्न गहरा नहीं हो रहा है एतदर्थ कुछ विशेष बातें ज्ञातव्य हैं–

1. आस्था मत बदलो

एक संन्यासी के सामने भक्त बैठा था। वह बड़ा विचित्र भक्त था। आज एक देवता को मानता, कल दूसरे को मानता और परसों तीसरे को मानता। रोज नए देवता को मानता। हमारे धार्मिक जगत् में देवताओं की भी कमी नहीं है और मानने वालों की भी कमी नहीं है। वह रोज बदलता रहता, पर सफल कहीं नहीं हुआ। एक दिन उसने पूछा– संन्यासी जी ! मैं इतनी भक्ति करता हूं और रोज देवताओं की मनौती मनाता हूं, पर सफलता कभी नहीं मिली। इसका कारण क्या है, आप बतलाएं ? संन्यासी ने उत्तर नहीं दिया। बातचीत हो रही थी। इतने में एक दूसरा भक्त आ गया और आकर बोला कि पहले मेरी सुनें। मुझे जल्दी खेत में जाना है। इनके कोई काम है नहीं। बड़े लोग हैं, पर मैं तो किसान हूं। पहले आप मेरी बात का उत्तर दें। संन्यासी ने कहा– क्या बात है ? उसने कहा– मैंने दस दिन पहले खेत में कुआं खोदा, पानी नहीं निकला, उसके पास ही दूसरा खोदा तो भी पानी नहीं निकला, तीसरा खोदा तो भी पानी नहीं निकला। दस दिन हो गए। खोदता चला जा रहा हूं, पानी नहीं निकल रहा है ? संन्यासी ने कहा– भले आदमी ! इतने गड्ढे क्यों खोदे ? एक ही खोदते और गहराते चले जाते तो पानी अपने आप निकलता। छोटे–छोटे चाहे 100 कुएं खोदो, पानी निकलेगा नहीं। गहरा खोदने पर एक कुआं भी पानी दे देगा और सौ छोटे–छोटे गड्ढे खोदने पर पानी की एक बूंद भी प्राप्त नहीं होगी। उसने सुना। वह बोला– मैं जा रहा हूं, मेरा समाधान हो गया। उसका समाधान ही नहीं हुआ, पहले वाले का भी समाधान हो गया।

2. संस्कारगत है हिंसा

आस्था को बदलो मत। रोज नए तेवर मत लाओ। आस्था को इतना गहर बनाओ, अपने आप कुएं में पानी निकल आए। मुझे लगता है– अहिंसा में हमारी आस्था तो है पर उस आस्था में गहराई नहीं है। कहीं कोई थोड़ी सी घटना होती है और हिंसा भड़क उठती है। वह सफल हो जाती है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कह देते हैं कि आखिर अहिंसा से हुआ क्या ? हिंसा हुई, सामना हुआ, बदला लिया गया और बात समाप्त हो गई। हिंसा सफल हो गई। अहिंसा सफल नहीं होती। अहिंसा में कोई आस्था नहीं है। इसका कारण है– अधिकांश आदमी हिंसा का मुखौटा पहने हुए हैं पर अहिंसा में आस्था रखने वाले कम हैं । आस्था जगाने वाला अहिंसा का प्रशिक्षण नही है । मै यह मानता हूं--जब तक मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं होता, तब तक कोई भी आदमी किसी भी विषय में आस्थावान बन नहीं सकता । आवश्कता है प्रशिक्षण की । हिंसा से हमारा दिमाग बहुत प्रशिक्षित है। एक छोटे बच्चे का मस्तिष्क भी हिंसा से प्रशिक्षित है। एक बच्चा है आठ बरस का, सात बरस का, उसे कोई दूसरा गाली देगा तो वह तत्काल उसे गाली दे देगा। वह जानता है कि गाली का प्रतिकार है गाली। किसी ने ढेला फेंका तो वह पत्थर फेंकने का प्रयत्न करेगा । वह इस बात को जानता है, उसका मस्तिष्क इतना प्रशिक्षित है कि ढेले का जवाब ईंट या पत्थर से दिया जा सकता है। यह प्रशिक्षण आनुवांशिकता से प्राप्त है। हिंसा का ऐसा प्रशिक्षण मिल रहा है कि उसे सिखाने की जरूरत नहीं है ।

3. गलत दृष्टिकोण से बचें

हिंसा के लिए हमारा मस्तिष्क बहुत प्रशिक्षित है। इस आधार पर यह माना लिया गया कि हिंसा समस्या का समाधान है। अहिंसा समस्या का समाधान है – इसमें हमारा विश्वास नहीं है । आज की भाषा है – सरकार जनता की बात तब तक नहीं सुनेगी,जब तक कि जनता भी हिंसा पर उतारू न हो जाए और जनता भी सरकार की बात तब तक नहीं सुनेगी जब तक कि पुलिस की गोली न चल जाए। एक हिंसा की बात समझती है और दूसरी गोली की बात समझती है। इतना गहरा विश्वास पैदा हो गया कि हिंसा के बिना कोई काम बन ही नहीं सकता। इस स्थिति में अहिंसा की बात करना, केवल उपदेश देना बहुत सार्थक नहीं लगता। अभी जो मैं चर्चा कर रहा हूं वह जीवन-यात्रा की हिंसा और अहिंसा की चर्चा नहीं कर रहा हूं। जीवन-यात्रा में खाने में हिंसा होती है। व्यापार में हिंसा होती है, खेती में हिंसा होती है। उसकी चर्चा नहीं कर रहा हूं। उस हिंसा की चर्चा कर रहा हूं जो हिंसा समाज के लिए बहुत उपद्रवकारी और सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने वाली हिंसा है, जो समाज को आतंकित और भयभीत करने वाली हिंसा है। आज वह हिंसा काफी मात्रा में चल रही है। दो दिन पहले एक भाई ने कहा– अमेरिका या कुछ दूसरे देशों में यह स्थिति है कि व्यक्ति घर से बाहर गया और शाम को राजी खुशी घर आ गया तो वह सोचता है कि आज तो राजी खुशी घर आ गया हूं। न जाने कहां-कब चलते-चलते हत्या हो जाए। किन्तु आजकल हमारे यहां भी आस-पास यह स्थिति बन गई कि व्यक्ति बाहर जाता है और घर पहुंचता है तो सोचता है कि राजी खुशी आ गया। पता नहीं कब क्या हो जाए। रात को सोता है पता नहीं जागेगा या नहीं। ये सारी हिंसक घटनाएं समाज को आतंकित और भयभीत कर देती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. अनिवार्य है अहिंसा का प्रशिक्षण

इस हिंसा से मुक्ति पाने के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण बहुत आवश्यक है। क्या कभी सोचा गया कि जैसे सशस्त्र पुलिस और सेना की जमात खड़ी की जा रही है वैसे ही अहिंसक सैनिकों की जमात खड़ी करने की जरूरत है ? जैसे प्रतिदिन हजारों-हजारों लोगों को शस्त्राभ्यास कराया जाता है, मारने की ट्रेनिंग दी जाती है, वैसे ही क्या न मारने की ट्रेनिंग देना आवश्यक नहीं है ? एक पक्ष पर तो इतना भार दे दिया गया और इतना बल दे दिया गया और दूसरे पक्ष को इग्नोर कर दिया, नकार दिया या अस्वीकार कर दिया। इस स्थिति में अगर हमारे समाज में हिंसा बढ़ती है, अपराध बढ़ते हैं, हत्याएं बढ़ती हैं, मारकाट होती है तो हमें आश्चर्य क्यों करना चाहिए ? हमने एक विकल्प को सर्वथा छोड़ दिया, निर्विकल्प बन गए। यह स्थिति बहुत खतरनाक होती है। मैं सोचता हूं, शायद एक नया विचार हो सकता है, नई कल्पना हो सकती है। पर यह बहुत आवश्यक लगता है कि हिंसा की भांति अहिंसा का प्रशिक्षण भी अत्यन्त अनिवार्य हो। अगर हिंसा के क्षेत्र में 10-20 लाख सैनिक काम करते हैं तो अहिंसा के क्षेत्र में 10-20 हजार सैनिक भी बनें तो एक नया चमत्कार हो सकता है, एक नई बात और नई घटना हो सकती है। किन्तु कोई प्रयत्न नहीं है। अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अहिंसा के प्रशिक्षण की बात बहुत आवश्यक है।

पुराने जमाने की बात है। महाराज छत्रशाल और उनकी परम्परा में एक राजा हुआ अनिलसेन। एक दिन सवारी जा रही थी। सजे हुए हाथी और सजे हुए घोड़े चल रहे थे। हाथी के पीछे एक सेवक चल रहा था। उसके मन में बुरा भाव आ गया। हाथी की झूल में मोती, पन्ने, माणक और रत्न जड़े हुए थे। हीरे भी थे। उस व्यक्ति ने एक हीरा उतारा और जेब में डाल लिया। राजा की दृष्टि अकस्मात् पड़ गई। राजा ने अपने अधिकारियों को बुलाया और कहा कि इसने चोरी की है, अपराध किया है। इसे सजा मिलनी चाहिए। पास में नदी है। इसे नदी में डुबाओ और फिर निकाल लो, फिर डुबाओ और फिर निकाल लो। जब तक मर न जाए, यही क्रम चलाओ। एक काम और करना। काफी समय के बाद इसकी अन्तिम इच्छा पूछ लेना। आदेश मिला और जो जल्लाद थे उसे मारने वाले, वे उसे नदी पर ले गए और वैसा क्रम शुरू किया। फिर अन्तिम इच्छा के लिए पूछा। वह बोला, मेरी एक इच्छा है कि एक बार मैं महाराज के दर्शन कर लूं और मेरी कोई इच्छा नहीं है। सूचना भेजी गई। राजा ने कहा कि अन्तिम इच्छा पूरी करो, उसे ले आओ। वह लाया गया। वह महाराज के सामने खड़ा है। राजा ने कहा- हो गई तुम्हारी अन्तिम इच्छा पूरी। उसने कहा- महाराज ! आधी पूरी हुई है। एक बात कहना चाहता हूं- महाराज ! आप बड़े दयालु शासक हैं, यह मैंने सुना है, जाना है और जानता हूं। आपने एक छोटी-सी बात के लिए मुझे इतना कड़ा दण्ड दिया। आपकी खीज तो मैंने देख ली। आप दयालु हैं, अत: आपकी रीझ देखना चाहता हूं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ नहीं चाहता। राजा दयालु था। वह इस बात से पसीज गया। उसने अपने कर्मचारी से कहा– उसी हाथी पर वही रत्नजटित झूल डालकर उसे यहां ले आओ और इसे उस पर चढ़ाकर घर पहुंचा दो। राजा ने एक आदेश गुप्त रखा था। उसे नहीं बताया गया। जैसे ही वह घर पहुंचा, राजा का आदेश सुनाया गया कि अब तुम मुक्त हो। कोई दंड नहीं दिया जाएगा। तुम सुख से अपने घर में रहो। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। साथ-साथ यह दूसरा आदेश भी सुनाया कि यह हाथी, यह झूल और ये सारे रत्न महाराज ने तुम्हें बकसीस किए हैं। तुमने खीझ देखी, नदी में डूबना देखा तो राजा की यह रीझ भी देख लो। वह व्यक्ति बाग-बाग हो गया।

5. प्रशिक्षण का एक विशेष प्रयोग

मुझे लगता है– आज हमारे समाज में यह खीझ वाली बात तो बहुत चल रही है किन्तु रीझ वाली बात बहुत कम हो गई है। दोनों पहलू– खीज और रीझ साथ-साथ चलें तो समाज एक संतुलित समाज बनता है। खीझ का प्रतीक है– निषेधात्मक विचार। रीझ का प्रतीक है विधायक विचार। आज निषेधात्मक विचार बहुत चलते हैं। हिंसा एक निषेधात्मक विचार है। अपराध, चोरी, डकैती, लूट-खसोट– सारे निषेधात्मक विचार हैं। यह निषेधात्मक पक्ष यानी खीझ तो बहुत चलती है, किन्तु खीझ का दूसरा पहलू रीझ यानी विधायक विचार बिलकुल जीरो बन गया। यह एक बड़ी समस्या है। रीझ के प्रशिक्षण की जरूरत है।

क्या अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई रूप हो सकता है ? क्या कोई रीझ वाली बात सामने आ सकती है ? इसके प्रशिक्षण का एक स्वरूप और केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि किस प्रकार हम इन निषेधात्मक भावों को दिमाग से निकाल सकें और किस प्रकार हमारे मस्तिष्क में विधायक भावों को बिठा सकें, जमा सकें। इसकी क्रियान्विति के लिए एक पद्धति की, एक प्रक्रिया की और प्रक्रिया के एक अंग की चर्चा मैं करना चाहूंगा। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठ जाएं और निर्विचार अवस्था का अभ्यास करें। मस्तिष्क को एक बार विचारों से खाली कर दें, शून्य कर दें। वह निर्विचार और निर्विकल्प बन जाए। मस्तिष्क में कोई विचार नहीं और कोई विकल्प नहीं। निर्विकल्प होने का मतलब है कालातीत हो जाना। न कोई अतीत की स्मृति, न कोई भविष्य की कल्पना और न कोई वर्तमान का चिन्तन। तीनों कालों से मुक्त।

6. मुक्त हो बंधनों से

काल एक बंधन है। बहुत बड़ा बंधन है काल का। आदमी जकड़ा हुआ है अतीत से। अतीत उसके पीछे भाग रहा है। आदमी अतीत से डरा हुआ है। वह भय से छुटकारा पाने के लिए तेज दौड़ रहा है। स्वयं के पदचाप ही उसे डरा रहे हैं। वह और अधिक तेजी से दौड़ता है। वह ठहरना नहीं जानता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न ठहरना, न रुकना– यह सबसे बड़ी समस्या है। आदमी बहुत दौड़ता है, बहुत दौड़ता है। अतीत पीछा किए हुए है। अतीत से बड़ा कोई भूत क्या होगा ? उसने आदमी को ऐसे पकड़ रखा है कि कोई अर्थ ही नहीं। इतनी अर्थहीन बातें आती हैं कि कभी आदमी नाराज हो जाता है, कभी राजी हो जाता है, कभी घबरा जाता है और कभी आकाशीय उड़ानें लगाने लग जाता है। यह अतीत की जकड़न है। भविष्य की कल्पना ने आदमी को जकड़ रखा है, बांध रखा है। वर्तमान के चिन्तन ने भी उसके चारों ओर बन्धन बिछा रखे हैं।

निर्विकल्प अवस्था में आदमी काल की पकड़ से मुक्त हो जाता है। वहां कालातीत हो जाता है। वह देशातीत अवस्था में पहुंच जाता है। देश का भी उसे भान नहीं रहता। जब निर्विकल्प अवस्था आती है तो यह पता ही नहीं रहता कि मैं कहां हूं। देशातीत स्थिति बन जाती है। निर्विकल्प अवस्था में व्यक्तित्व का भी भान नहीं रहता। यह भी पता नहीं रहता कि मैं कौन हूं। जब विचार ही नहीं तो फिर पता कैसे रहे। विचार से पहचान बनाई हुई है कि मेरा यह नाम है, यह जाति है। वास्तव में तो है नहीं। बच्चा जन्मा, तब न नाम लेकर आया, न जाति लेकर आया, इच्छा भी लेकर नहीं आया। ये तो हमने आरोपित कर दिए। कायोत्सर्ग में यह पहचान भी समाप्त हो जाती है। केवल बचता है अस्तित्व और कुछ नहीं बचता।

7. जरूरत है जागरूक प्रयत्न की

इस निर्विकल्प अवस्था का अभ्यास करना है। हम कुछ क्षण निर्विचार रहें, निर्विकल्प रहें। इस अभ्यास से एक प्रकार से मस्तिष्क की धुलाई शुरू हो जाती है। ब्रेन वाशिंग का क्रम शुरू हो जाता है। यह मस्तिष्कीय धुलाई व्यक्ति को आगे बढ़ा देती है। जब पांच मिनट या दस मिनट तक इस अवस्था का अभ्यास कर लें, फिर नया मोड़ लें कि दस मिनट निर्विकल्प रहें। फिर दस मिनट प्रयोग करें निषेधात्मक विचारों को खोजने का कि दिमाग में कहां-कहां निषेधात्मक भाव और विचार भरे पड़े हैं, संचित हैं। उन्हें खोजने का प्रयास करें। उन्हें टटोलें, खोजें। यह क्रम दस मिनट तक चले। दस मिनट तक विधायक भावों, विधायक विचारों को दोहराते रहें। यह 40 मिनट के प्रशिक्षण का क्रम बन गया। एक प्रयोगात्मक पाठ बन गया। चालीस मिनट का यह प्रयोग अहिंसा के प्रशिक्षण का पहला प्रयोग बन जाएगा। निर्विचार अवस्था, निषेधात्मक भावों को बाहर निकालने का उपक्रम, विधायक भावों को स्थापित करने का प्रयत्न और विधायक भावों के स्थिरीकरण के लिए उनकी अनुप्रेक्षा या पुनरावर्तन– यह क्रम चलता है तो अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। इसके बिना केवल उपदेश, अहिंसा कल्याणकारी है, अहिंसा के बिना समाज गड़बड़ा रहा है, यह कोरा उपदेश, कोरा चिन्तन और कोरी चर्चा सारहीन ही होगी। एक जागरूक प्रयत्न की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. गुणवत्ता पर ध्यान

सुकरात जितना बड़ा तत्त्ववेत्ता था उतना ही कुरूप था। उसका चेहरा भद्दा था फिर भी वह सामने शीशा रखता। बार-बार अपना चेहरा देखता। एक बार वह शीशे के सामने बैठा था। एक आगंतुक व्यक्ति आया। उसने देखा। उससे रहा नहीं गया। कोई सुन्दर आदमी सामने शीशा रखकर मुंह देखे तो समझ में आने वाली बात है कि वह अपने सौन्दर्य को देख रहा है। सुकरात का इतना भद्दा चेहरा और बार-बार शीशा देखता है। उसे हंसी आ गई। सुकरात बहुत बड़ा तत्त्वज्ञानी था, तत्त्वेत्ता था। बात छिपी नहीं रही। उसने कहा, तुम हंसे हो। तुम्हारे मन में यह विचार आया कि मैं शीशा क्यों देखता हूं ? उसने सोचा, मेरी बात का इस महान् दार्शनिक को पता चल गया। सुकरात बोले, तुम नहीं समझे। मुझे शीशा देखना बहुत जरूरी है। मैं देखता हूं– मेरा यह चेहरा बहुत भद्दा है पर इस भद्देपन के पीछे मेरा जो गुणात्मक सौन्दर्य है वह भद्दा न बन जाए। इसलिए शीशे में मैं रोज झांकता रहता हूं।

हमारे दो चेहरे हैं। एक तो यह चमड़ी वाला चेहरा और दूसरा गुणात्मक चेहरा। जापान आज सारे संसार पर व्यावसायिक और औद्योगिक क्षेत्र में हावी हो रहा है। इसका राज क्या है ? जिस दिशा में समाज का प्रशिक्षण होता है, आदमी उसी दिशा में प्रगतिशील बन जाता है। जापान में गुणवत्ता पर बहुत बल दिया जाता है उद्योग के क्षेत्र में। वहां प्रशिक्षण के कोर्स वर्ष भर चलते रहते हैं। उनमें विद्यार्थी भी आते हैं, मैनेजर भी आते हैं, बड़े-बड़े अधिकारी भी आते हैं और उस कोर्स को दोहराते रहते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के बड़े-बड़े संस्थान बने हुए हैं। हर उद्योगपति, हर उद्योग को चलाने वाला मैनेजर– व्यवस्थापक है तो वह क्वालिटी कन्ट्रोलर भी है। वह इस बात का ध्यान रखता है कि हमारे माल की क्वालिटी कैसे है ? कहीं ऐसा न हो कि दुनिया में हमारी क्वालिटी कमजोर बन जाए। क्वालिटी पर और क्वालिटी कन्ट्रोल पर निरन्तर प्रशिक्षण चलता है। उस प्रशिक्षण का परिणाम है– आज जापान औद्योगिक क्षेत्र में, व्यावसायिक क्षेत्र में और अपने माल के निर्यात में संसार पर हावी हुए बैठा है।

क्या कभी हमने सोचा कि अहिंसा के लिए भी क्वालिटी कन्ट्रोल की बात करें? गुणवत्ता की बात करें ? शायद नहीं सोचा। फिर कैसे अहिंसा की बात कर पाएंगे ?

9. जरूरत है विचार क्रांति की

कुछ लोग हिन्दुस्तान से विदेशों में गए। वे विश्वशांति की यात्रा पर गए। जाने से पूर्व कुछ हमारे पास आए। मैंने जाने वालों से एक प्रश्न पूछा– विश्वशांति की यात्रा पर जा रहे हैं। पहले यह तो बताएं, जो जाने वाले हैं, उन्होंने अहिंसा की कोई ट्रेनिंग ली है? क्या अहिंसा का प्रशिक्षण पाया है ? क्या अहिंसा के प्रति उनका कोई प्रयोग है ? क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के लिए उन्होंने कोई नई बात खोजी है ? न कोई अनुसंधान, न कोई प्रयोग और न कोई प्रशिक्षण। सारी सामग्री से शून्य। कहावत तो यह है कि सियार का शिकार करने जाएं तो भी तैयारी शेर को मारने जितनी होनी चाहिए। बड़ा अजीब है हमारा अहिंसा का जगत् कि शेर को मारने जाता है और सामग्री सियार को मारने की भी नहीं है पास में। इतना खालीपन है तो व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो सकेगा ?

मैं सोचता हूं, इस दिशा में एक नई विचार-क्रान्ति की जरूरत है। आज अहिंसक व्यक्तित्व-निर्माण की बहुत बड़ी आवश्यकता है और उस आवश्यकता को सारा संसार अनुभव कर रहा है। उसके लिए एक पद्धति की जरूरत है। प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग उसकी पूर्ति कर सकता है। इससे संभव है निर्विचार ध्यान का विकास, विधायक भावों का विकास, निषेधात्मक भावों को दिमाग से निकालना। प्रशिक्षण का यह प्रयोग चले तो मस्तिष्क काफी प्रशिक्षित हो सकता है और नए व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा में कोई प्रयत्न होता है तो सारे संसार के लिए यह बहुत कल्याणकारी प्रयत्न होगा।

2.5. हिंसा : मानसिक तनाव और नशा

मानसिक तनाव का हेतु

अहिंसा निर्मल चेतना की अनुभूति है। राग, द्वेष और मोह– ये मल हैं। इनसे चेतना मलिन होती रहती है। राग की उत्तेजना, द्वेष की उत्तेजना और मोह की उत्तेजना– इसका अर्थ है चेतना की मलिनता। राग की उप-शांति, द्वेष की उपशांति और मोह की उपशांति– इसका अर्थ है चेतना की निर्मलता। मनुष्य में राग, द्वेष और मोह की प्रकृति सहज है। पदार्थ का उद्दीपन मिलता है, वे उभर आते हैं। पदार्थवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण चेतना की निर्मलता के लिए, मानसिक शान्ति के लिए खतरा बना हुआ है। एक लालसा भीतर-ही-भीतर पनप रही है कि प्रिय वस्तु का संयोग हो, उसका वियोग न हो। अप्रिय वस्तु का वियोग हो, उसका संयोग न हो। महावीर की भाषा में यह आर्त्तध्यान है। यह मानसिक तनाव का मुख्य हेतु बनता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति का व्यवहार पांच अंगों में विभक्त होता है–

1. व्यवसाय आदि की असफलता होने पर हीनभाव से ग्रस्त हो जाना।
2. दूसरे की संपदा पर विस्मय से अभिभूत हो जाना।
3. संपदा प्राप्त होने पर उसमें आसक्त हो जाना।
4. दूसरे की संपदा की इच्छा करना।
5. अधिकतम संपदा के अर्जन में दत्तचित्त रहना।

नशे की आदत की फलश्रुति

ये स्पर्धा के लक्षण हैं और मानसिक तनाव के हेतु हैं। जैसे-जैसे संपदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ती है वैसे-वैसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। एक ओर संपदा की वृद्धि, दूसरी ओर मानसिक तनावों की वृद्धि। जैसे-जैसे तनाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मादक वस्तुओं की ओर झुकाव बढ़ता है। नशे की आदत अमीर लोगों में ही नहीं होती, गरीब लोगों में भी होती है। उसका कारण अमीरी और गरीबी नहीं है किन्तु तनाव है। गरीब आदमी में अभाव-जनित तनाव होता है। अमीर आदमी में संपदा की अधिकता से उत्पन्न तनाव होता है। तनाव से घिरा हुआ आदमी शांति और सुख का जीवन जी नहीं सकता। इसलिए वह मादक वस्तुओं की शरण में जाता है। सचाई यह है कि आदमी बाहरी घटनाओं, घटना के संघर्ष से उत्पन्न चिन्ताओं से मुक्त रहकर जीना चाहता है। मादक वस्तुओं के सेवन से कुछ समय के लिए सब कुछ विस्मृत हो जाता है। विस्मृति के क्षणों में एक सुखद अनुभूति होती है। वह अनुभूति उन मादक द्रव्यों के सेवन की प्रेरणा बन जाती है। उसका परिणाम सुखद नहीं है। तंबाकू कितनी खतरनाक है, यह वैज्ञानिकों की घोषणाओं से प्रकट हो रहा है। शराब केवल शरीर के लिए ही नहीं, वृत्तियों को बदलने के लिए भी बहुत उत्तरदायी है। मद्यपान न करने वाला उतना क्रूर नहीं हो सकता जितना एक मद्यप हो सकता है। अपराधी मनोवृत्ति का निर्माण करने में भी मद्य का बहुत बड़ा योग है।

असामंजस्य इच्छा और क्रिया में

खान-पान और आचार-विचार का बहुत गहरा संबंध है। यह सचाई बहुत प्राचीनकाल से ज्ञात है। अहिंसा के विकास की पहली शर्त है— आहार-शुद्धि, मादक वस्तुओं का वर्जन। आज का समझदार आदमी हिंसा की घटनाओं से बहुत चिंतित है। वह चाहता है कि समाज में सुख-शांति रहे, मार-काट, लूट-खसोट, उपद्रव और हत्याओं की श्रृंखला समाप्त हो। स्वस्थ समाज के लिए यह एक स्वस्थ परिकल्पना है। कार्य-कारण का सिद्धान्त एक वास्तविकता है। अहिंसा के क्षेत्र में भी वह घटित होता है। मनुष्य हिंसा नहीं चाहता किंतु हिंसा के कारणों को चाहता है। वह अहिंसा चाहता है, किन्तु अहिंसा के कारणों को नहीं चाहता। कारण की समग्रता में कार्य को न चाहने का अर्थ क्या होगा ? कारण की असमग्रता में कार्य को चाहने का अर्थ क्या होगा ? समस्या यह है कि मनुष्य की इच्छा और क्रिया में सामंजस्य नहीं है। यह असामंजस्य एक अजीब पहेली बना हुआ है।

अहिंसा के विकास का सशक्त साधन

मूल समस्या तनाव है। मादक वस्तु का सेवन उसके उपचार के रूप में मान्यता प्राप्त है। हिंसा की तीव्रता उसका एक परिणाम है। हम हिंसा की तीव्रता को नहीं चाहते। आज का विद्यार्थी और युवक नशे की आदत में जाए यह भी नहीं चाहते। तनाव भी नहीं चाहते किन्तु दिनचर्या, आचार-विचार और व्यवहार— पूरी जीवन-प्रणाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तनाव को बढ़ावा देने वाली बनी हुई है। इस चाह का क्या अर्थ है और क्या परिणाम है, इससे हम अनजान नहीं हैं। सब कुछ जानते हुए भी आदमी सचाई के साथ आंख-मिचौनी खेल रहा है। क्या जीवन-प्रणाली को बदला नहीं जा सकता ? अतिव्यस्तता और उससे उत्पन्न तनाव को कम नहीं किया जा सकता ? क्या तनाव विसर्जन के लिए कोई नया विकल्प नहीं खोजा जा सकता ? ध्यान एक बहुत अच्छा विकल्प है तनाव मुक्ति का और बहुत अच्छा उपाय है पदार्थ की अंधी-दौड़ तथा स्पर्धा-जनित उतावलेपन से बचने का। महावीर की भाषा में अहिंसा के विकास का एक सशक्त साधन है- धर्मध्यान। जीवन में उसकी संगति अनेक विसंगतियों का समीचीन उपचार है।

2.6. जीवन-मरण से जुड़ी हुई 'हिंसा' और 'अहिंसा'

जीवन और मरण- नियति की श्रृंखला की दो कड़ियां हैं। जीना स्वाभाविक है, मरना भी स्वाभाविक है। जीने का अपना मूल्य है और मरने का अपना मूल्य। जीने के साथ अनेक स्वार्थ जुड़े होते हैं इसलिए वह हर आदमी को अच्छा लगता है। मरना स्वार्थ से परे है, इस दुनिया से भी परे है इसलिए वह अच्छा नहीं लगता।

रहस्यपूर्ण संवाद

अनुश्रुति है कि महावीर के समवसरण में एक अलौकिक घटना घटित हुई। एक कोढ़ी आदमी अपनी पीब महावीर के पैरों पर मल रहा है और लयबद्ध स्वर में बोल रहा है- महावीर! मर जाओ, श्रेणिक ! तुम जीते रहो, अभयकुमार! तुम चाहे मरो चाहे जीओ, कालसौकरिक ! तुम न जीओ न मरो।

पहला उच्चारण बहुत अप्रिय लगा श्रेणिक को। उस दिव्य आत्मा के अदृश्य होने पर सम्राट् श्रेणिक ने पूछा- भंते ! यह कौन था ? इसने ऐसी अवांछनीय बात क्यों कही?

महावीर ने कहा- श्रेणिक ! यह थी एक दिव्य आत्मा ! उसने जो कहा, वह बहुत सारपूर्ण है। मैं कैवल्य को प्राप्त हो चुका हूं। शरीर से सर्वथा पृथक् हूं, केवल शरीर में रह रहा हूं। 'महावीर मर जाओ' इस वाक्य का आशय था- अब तुम शरीर के बंधन से क्यों बंधे हो ? इस बंधन से भी मुक्त हो जाओ।

श्रेणिक- भंते ! मुझे क्यों कहा- तुम जीते रहो ?

भगवान्- मृत्यु के पश्चात् तुम्हारा यह राजसी ठाठ नहीं रहेगा। तुम निम्नगति का अनुभव करोगे, इसीलिए उस दिव्य आत्मा ने कहा- तुम्हारे लिए जीना ही अच्छा है।

श्रेणिक- अभयकुमार के लिए दोनों बातें क्यों कहीं ?

भगवान्- वह तुम्हारा मंत्री है। यहां भी सुखी है और अगले जन्म में भी सुख का अनुभव करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणिक– कालसौकरिक के लिए दोनों का निषेध क्यों ?

भगवान्– वह हिंसा में लगा हुआ है इसलिए यहां भी अच्छा नहीं है, आगे भी अच्छा नहीं है।

इस प्रसंग से जीने और मरने का मूल्य समझा जा सकता है। जीना अच्छा भी है, नहीं भी है, मरना अच्छा भी है, नहीं भी है। जीने और मरने के साथ हिंसा जुड़ी हुई नहीं है। हिंसा जुड़ी हुई है मारने के साथ। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मारने का संकल्प करता है और मारता है, वह हिंसा है। हर व्यक्ति को जैसे जीने का अधिकार है वैसे ही उसे मरने का अधिकार भी है। जीने की स्वतंत्रता को जैसे नहीं छीना जा सकता, वैसे ही मरने की स्वतंत्रता को भी नहीं छीना जा सकता। यह सिद्धांत बहुत पुराना है। इसकी स्थापना हजारों वर्ष पहले हो चुकी थी।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धांत पर हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार असंयत जीवन और बाल-मरण दोनों अहिंसा की दृष्टि से सम्मत नहीं हैं।

संयतजीवन और पंडितमरण– ये दोनों अहिंसा की दृष्टि में सम्मत हैं।

बालमरण : अस्वस्थता का चिह्न

भगवान् ने बालमरण के अनेक प्रकार बतलाए हैं–
पहाड़ से लुढ़क कर आत्म-हत्या करना।
वृक्ष से गिरकर आत्म-हत्या करना।
जल में डूबकर आत्म-हत्या करना।
अग्निदाह कर आत्म-हत्या करना।
जहर खाकर आत्म-हत्या करना।
शस्त्र प्रयोग कर आत्म-हत्या करना।
फांसी के फंदे में झूलकर आत्म-हत्या करना।

इस प्रकार आवेश-प्रेरित और मूर्च्छा में ले जाने वाले तरीके से जो भी मरण होता है, वह बालमरण है। वह कभी वांछनीय नहीं है। उसके पीछे भावना समीचीन नहीं होती। आवेग और उत्तेजना की स्थिति में होने वाला मरण न तो म्रियमाण व्यक्ति के लिए शुभ होता है और न ही समाज में स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात करता है।

निकष एक ही है

वर्तमान में मरण के क्षेत्र में अनेक प्रश्न उभरे हैं। एक प्रश्न है– आत्मदाह का, दूसरा है सती होने का, तीसरा है राजनीतिक स्तर पर अनशन का और चौथा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक स्तर पर अनशन का। मरणात्मक घटना सबमें समान है। क्या स्वरूप की दृष्टि से भी ये सब समान हैं ? इनकी परीक्षा के लिए निकष एक ही होगा। जिस देहत्याग की पृष्ठ भूमि में उद्देश्य की पूर्ति प्रधान है और मरण प्रासंगिक है, मन शान्त, प्रशान्त और समाधिपूर्ण है, कोई आवेग, संवेग, उद्वेग और उत्तेजना नहीं है, वह देहत्याग प्रशस्त है। उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है।

साध्य-साधन की शुद्धि

आत्म-दाह को उक्त कसौटी पर कसें। क्या उसके पीछे रागात्मक और द्वेषात्मक संवेग जुड़ा हुआ नहीं है ? सती-प्रथा के पीछे भी क्या रागात्मक आवेश नहीं है ? और यदि नहीं है तो क्या चितादाह की अपेक्षा साधना का सौम्य मार्ग नहीं चुना जा सकता ? राजनीतिक के स्तर पर किए जाने वाले अनशन में क्या आत्म-शोधन की भावना है ? यदि है तो उसके उद्देश्य की शुद्धि का विचार अपेक्षित है। जिसमें उद्देश्य-शुद्धि और साधन-शुद्धि- दोनों हों, उस अनशन को प्रशस्त माना जा सकता है।

अहिंसा है मोह-विलय की साधना

बहुत लोग भावुकतावश आत्मदाह अथवा सती-प्रथा जैसी प्रवृत्ति और अनशन को एक तुला से तौलना चाहते हैं। उन्हें एक तराजू से तौला जा सकता है यदि अनशन भी आवेश से प्रेरित हो। जो अनशन समाधि-मरण की पृष्ठभूमि में किया जाता है, उसमें आवेश के लिए कहीं अवकाश नहीं होता। वह नितान्त अभय की साधना है। मनुष्य के मन में सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है। भय एक आवेश है। क्रोध, लोभ और अहंकार का भी आवेश होता है। ये आवेश भय के आवेश को दबा देते हैं तब आदमी आकस्मिक ढंग से जहर आदि खाकर मर सकता है किन्तु वह मृत्यु के भय से मुक्त हो, अभय की साधना नहीं कर सकता। अभय की साधना वही कर सकता है जिसका शरीर के प्रति मोह विलीन हो जाता है। भगवान् महावीर की भाषा में मोह-विलय की साधना ही अहिंसा है।

अभ्यास

1. पारमार्थिक अहिंसा और व्यावहारिक अहिंसा में क्या कोई अन्तर्विरोध है ? यदि नहीं तो दोनों में सामंजस्य किस प्रकार से किया जा सकता है ?

2. अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण में आहार की भूमिका को स्पष्ट करें।

3. अहिंसा की प्रशिक्षण-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए बतायें कि क्या हिंसा को सर्वथा मिटाया जा सकता है ?

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. अहिंसा और निःशस्त्रीकरण

3.1. महावीर की अहिंसा और निःशस्त्रीकरण

शस्त्र-निर्माण की अन्धी दौड़ में आज सारा विश्व लगा हुआ है। पाकिस्तान जैसा विकासशील राष्ट्र भी चोरी छिपे आणविक कार्यक्रम को बढ़ा रहा है। सम्भवतः द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिरने से हुए महाविनाश की प्रतिक्रिया-स्वरूप शस्त्र-परिसीमन का विचार उद्‌भूत हुआ। सन् 1946 ई. में इस विनाशलीला के तुरन्त बाद ही राष्ट्रसंघ ने अणुशक्ति-नियन्त्रण और भविष्य में आणविक परीक्षणों पर रोक लगाने के लिए आणविक आयोग का गठन किया, किन्तु इस आयोग की कोई उपादेयता सिद्ध नहीं हुई। क्योंकि अणुशक्ति-सम्पन्न राष्ट्र इसकी उपेक्षा कर अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहे। सन् 1952 ई. में सुरक्षा परिषद् के अधीन निरस्त्रीकरण आयोग बना किन्तु इसी समय 'नाटो' और 'वारसा' संगठनों से सम्बन्धित देशों में शस्त्रों की होड़ शुरू हुई। इस समय परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, नाइट्रोजन बम, नापाम बम तथा प्रेक्षापास्त्र निर्माण पर बल दिया गया। सन् 1963 ई. में रूस, अमेरिका ने आणविक परीक्षण आंशिक रूप से बन्द करने के लिए आंशिक परमाणु परीक्षण निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सन् 1968 ई. में रूस और अमेरिका के बीच अणु प्रसार या नाभिकीय-प्रसार-निषेध सन्धि सम्पन्न हुई जिस पर अब तक विश्व के काफी देश हस्ताक्षर कर चुके हैं। भारत ने अब तक इस पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं, क्योंकि इसके अन्तर्गत अणु-सम्पन्न राष्ट्रों पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की व्यवस्था नहीं है।

इस दिशा में विशेष प्रगति रूस के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के आगमन से शुरू हुई। सन् 1985-86 में जेनेवा, रिक्जेविक तथा वाशिंगटन की तीन शिखर वार्ताएं रूस और अमेरिका के बीच हुई। गोर्बाच्योव की पेरेस्त्रोइका ग्लासनोस्त की नीतियां इस ओर महत्त्वपूर्ण कदम साबित हुईं। दोनों महा-शक्तियों का निरस्त्रीकरण की ओर विशेष रुझान विश्वशान्ति के लिए अभिनन्दनीय है। जितनी ही इन समझौतों के प्रति प्रतिबद्धता रहेगी, उतना ही विश्वशान्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों का विकास होगा।

दिल्ली घोषणापत्र

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। सोवियत संघ (रूस) विश्व में साम्यवाद का पुरस्कर्ता है। भारत अहिंसा के सिद्धान्त का पुरस्कर्ता है। साम्यवाद ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए हिंसा को साधन के रूप में मान्यता दी। किन्तु सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव ने 'स्टार-वार' की जगह 'स्टार-पीस' कार्यक्रम शुरू करने की अपील की और साथ ही इस सदी के अन्त तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी आणविक अस्त्रों को विनष्ट करने का सोवियत प्रस्ताव दोहराया। उसे सुनकर या पढ़कर सहसा विश्वास नहीं हुआ। प्रधानमंत्री राजीव गांधी और सोवियत नेता गोर्वाच्योव ने परमाणु शस्त्ररहित शान्तिपूर्ण विश्व-व्यवस्था के लिए दस सिद्धान्तों वाले घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। वह दिल्ली घोषणा-पत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसके दस सूत्र इस प्रकार हैं–

1. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का आधार बनाया जाए।
2. मानव जीवन को बहुमूल्य माना जाए।
3. अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार माना जाए।
4. भय और संदेह की जगह सद्भाव और विश्वास का वातावरण बने।
5. हर देश के राजनीतिक और आर्थिक आजादी के अधिकार को मान्यता दी जाए और उसका सम्मान किया जाये ।
6. सैनिक हथियारों पर खर्च होने वाले साधनों का इस्तेमाल सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए किया जाय ।
7. हर व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के वातावरण को सुनिश्चित किया जाये।
8. मानव जाति की भौतिक और बौद्धिक क्षमता का उपयोग विश्व की समस्याओं को हल करने में किया जाये ।
9. 'आतंक के संतुलन' की जगह व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को स्थान दिया जाए
10. परमाणु हथियार मुक्त और अंहिसक विश्व बनाने के लिए तुरन्त ठोस कार्रवाई की जाए ।

इस घोषणा पत्र में अंहिसा को सामाजिक जीवन के आधार बनाने तथा अहिंसक विश्व का निर्माण करने का जो संकल्प व्यक्त हुआ, यह सचमुच आश्चर्यजनक है। महावीर, बुद्ध और गांधी के देश में यह संकल्प व्यक्त किया जा सकता है, पर सोवियत नेता के द्वारा इस प्रकार की घोषणा में सहमति देना कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस आश्चर्य की पृष्ठभूमि को समझे बिना उसका समाधान नहीं खोजा जा सकता।

हिंसा का प्रयोग एक हथियार के रूप में

हिंसा के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति की जा सकती है। इस धारणा के आधार पर उसे समस्या का समाधान माना गया। आज प्रत्येक क्षेत्र में समस्या के समाधान के लिए हिंसा का एक हथियार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इस अस्त्र का उपयोग केवल राजनीति और उद्योग के क्षेत्र में ही नहीं, शिक्षा की पवित्र भूमि में भी किया जा रहा है। सरकार और जनता– दोनों गाली की भाषा में विश्वास करते हैं। शास्त्र की अपेक्षा शस्त्र अधिक शक्तिशाली बन गया। शस्त्र के इस एकाधिकार और प्रभुत्व के खतरे गंभीर होते जा रहे हैं। उसकी गंभीरता का अनुभव उन लोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने अधिक किया है, जिनका हिंसा से निकट का संबंध रहा। इसे अनुभूति का सत्य या भोगा हुआ सत्य कहना अधिक संगत होगा।

अहिंसा की प्रथम आचार-संहिता

परमाणु अस्त्रों की विभीषिका से सभी चिन्तनशील व्यक्ति चिन्तित हैं। पर जिस देश के पास परमाणु अस्त्रों का विशाल भण्डार है, उसका नेता परमाणु अस्त्रों की समाप्ति की बात करता है, वह बहुत अर्थवान् और मूल्यवान् है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष उतर आता है कि हिंसा की प्रखरता अहिंसा के लिए रास्ता बनाती है। भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले नि:शस्त्रीकरण की बात कही थी। संभवत: शस्त्र-निर्माण एवं शस्त्र-व्यापार के सम्बन्ध में उन्होंने जो आचार-संहिता दी, वह अहिंसा के क्षेत्र में उस समय भी प्रथम थी और आज भी प्रथम है। उनकी वाणी का एक महत्त्वपूर्ण संकलन है– आचारांग। उसका प्रथम अध्ययन है– शस्त्र-परिज्ञा। उसे आज की भाषा में नि:शस्त्रीकरण कहा जा सकता है। भगवान् ने प्रस्तर, लौह आदि धातुओं से बने शस्त्रों को शस्त्र की परिगणना में दूसरा स्थान दिया। उनकी भाषा में पहला स्थान है– शस्त्र के निर्माण के लिए क्रियाशील भाव का तथा उस अविरति या आकांक्षा का, जो धातु-द्रव्य के शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उद्घोषित स्वर– 'युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में' उसी भाव-शस्त्र के स्वर का पुनरुच्चारण है।

मूल है भावनात्मक शस्त्र

प्रस्तर युग से अणु युग तक जितने अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, उनकी पृष्ठभूमि में उतने ही भाव निर्मित हुए हैं। अणुबम का भाव पहले विकसित हुआ, फिर अणुबम का निर्माण हुआ। भावात्मक शस्त्र का नि:शस्त्रीकरण किए बिना अणु अस्त्रों का नि:शस्त्रीकरण संभव नहीं हो सकता। इसलिए आवश्यकता है भावधारा के परिवर्तन की, परिष्कर की। उसके लिए एक सशक्त जन-आन्दोलन की जरूरत है।

अस्तित्व का संकट

एक राजनेता के मुंह से नि:शस्त्रीकरण का स्वर प्रस्फुटित होता है, उसके पीछे मानव-जाति की व्यथा का प्रस्फुटन है। उस सचाई की अभिव्यंजना है कि इस अणुअस्त्रों की होड़ ने मनुष्य जाति के अस्तित्व को संकट में डाल दिया। अब दो ही विकल्प सामने हैं– या तो इस दौड़ की समाप्ति या मानव-जाति की समाप्ति। दूसरा विकल्प कितना भयावह है और कितना खतरनाक है ! उसकी कल्पना करते ही मानवीय बुद्धि विभ्रान्त हो जाती है। आखिर यह होड़ किसलिए है ? क्या इस होड़ में अपने आपको कोई सुरक्षित रख पाएगा ? यदि नहीं रख पाएगा तो यह मानव जाति के विनाश का संकल्प क्या कोरी मूर्खता नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? इस मूर्खता का बोझ कुछ राजनेता और कुछ सैन्य अधिकारी उठा रहे हैं और आश्चर्य है कि सारी जनता उसके साथ आंखमिचौनी खेल रही है। महावीर का वह उद्घोष सामने आ रहा है– "मंदा मोहेण पाउडा"। मंदमति मनुष्यों की आंखों पर मोह का पर्दा गहरा हो रहा है। इस मूर्च्छा को तोड़ने की दिशा में कदम उठें और नि:शस्त्रीकरण के लिए एक शक्तिशाली जन–अभियान का सूत्रपात हो।

3.2. वर्तमान नि:शस्त्रीकरण

शस्त्र–निर्माण की होड़ के युग में नि:शस्त्रीकरण की बात एक आश्चर्य है। विगत चार दशकों में पूरे विश्व का ध्यान अस्त्र–शस्त्रों में उलझा हुआ रहा। विश्व की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग शस्त्र–निर्माण में खर्च हो रहा है। आज कुछ राष्ट्र इस रेखा पर पहुंच गए हैं कि वे जब चाहें तब मानव–जाति का प्रलय कर सकते हैं। पौराणिक साहित्य में कहा जाता है– शिव प्रलय का देवता है। क्या प्रलय मानव–जाति की नियति है ? यदि वह नियति है तो उसे कौन टाल सकेगा? जो काम शिव को करना था, उसका दायित्व मनुष्य ने अपने ऊपर ओढ़ लिया है। क्या सचमुच मनुष्य इस पृथ्वी पर रहने वाली मानव–जाति का संहार करना चाहता है ? इस प्रश्न का उत्तर उजली दुपहरी में खोजना होगा।

जीत के बाद भी हार की खामोशी

वर्तमान का युद्ध प्राचीन युद्ध से भिन्न हो गया है। पुराने युद्ध में जीत के बाद विजय का उल्लास मनाया जाता था। आज युद्ध में जीत के बाद हार की खामोशी छा जाती है। यह हर कोई जानता है कि अणुयुद्ध के बाद हार और जीत को देखने वाला भी कोई नहीं बचेगा। इस प्रलय की कल्पना से हर आदमी प्रकंपित है और वह भी प्रकंपित है, जो अणु–अस्त्रों का भण्डार भर रहा है। कितना भयानक है अणुयुद्ध का चित्र ! फिर अणु–शस्त्रों का निर्माण क्यों बढ़ता जा रहा है ? इसका उत्तर महावीर की वाणी में खोजा जा सकता है।

नि:शस्त्रीकरण की त्रिपदी

महावीर ने कहा– अभय, अशस्त्र और अहिंसा– इन तीनों में कोई दूरी नहीं है। अभय का उच्छ्वास है अशस्त्र और अशस्त्र का उच्छ्वास है अहिंसा। नि:शस्त्रीकरण की बात अभय के बिना सफल नहीं हो सकती। प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना चाहता है, अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखना चाहता है। वह दूसरे शक्तिशाली राष्ट्र से सदा आतंकित रहता है। वह आशंका और आतंक अहेतुक भी नहीं है। जैसे भय एक मौलिक मनोवृत्ति है वैसे ही लोभ भी एक मौलिक मनोवृत्ति है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का विस्तार चाहता है, दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन या प्रभाव में रखना चाहता है। यह लोभ भय को जन्म देता है और भय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शस्त्र को जन्म देता है। निर्लोभीकरण और अभयीकरण के बिना नि:शस्त्रीकरण की बात सरल नहीं लगती।

वर्तमान में नि:शस्त्रीकरण का संदर्भ बदला हुआ है। परम्परागत शस्त्रों की समाप्ति की बात अभी नहीं की जा रही है। अभी उन शस्त्रों को निरस्त करने की बात की जा रही है, जो पूरी मानव जाति के लिए प्रलय की लीला रचने में सक्षम है। मध्यम और लघु दूरी के प्रक्षेपास्त्रों के उन्मूलन का बहुत बड़ा महत्त्व नहीं है। परमाणु अस्त्रों के विशाल भण्डार के ये स्फुलिंग मात्र हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विश्व अस्त्र-नियंत्रण की दिशा में एक कदम आगे बढ़ा है। बड़ी शक्तियों ने अनुभव किया है कि मानव-जाति का अस्तित्व और परमाणु अस्त्र–दोनों को एक साथ नहीं चलाया जा सकता। यदि मानव-जाति के अस्तित्व को बनाए रखना है तो परमाणु अस्त्रों की प्रतिस्पर्धा पर अंकुश लगाना होगा, पीछे लौटकर उनका उन्मूलन भी करना होगा। इस अनुभव की दिशा में जो पहला प्रयास शुरू हुआ है, वह विश्व शान्ति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसके लिए गोर्बाच्योव और रेगन– इन दोनों महाशक्तियों के प्रतिनिधियों को साधुवाद दिया जा सकता है और दिया जाना चाहिए।

रूस और अमेरिका

जनता औ शासन– इन दोनों में काफी दूरी बढ़ जाती है। शासन में आने वाले लोग जनता से ही आते हैं किन्तु उसकी पीठ पर बैठते ही उनकी सोच बदल जाती है। कुछ तो दायित्व का भार होता है और कुछ नया करने की महत्त्वाकांक्षा जाग जाती है। दायित्व को निभाने के लिए जागरूक रहना भी जरूरी होता है। किन्तु महत्त्वाकांक्षा जागरूकता को भयाक्रान्त बना देती है। शासक के चारों ओर भय का आभामण्डल बन जाता है। वह दूसरे राष्ट्र को भय, आशंका और आतंक की दृष्टि से देखना शुरू कर देता है। वह काल्पनिक भय अकारण ही दो राष्ट्रों को एक दूसरे का विरोधी या शत्रु बना देता है। जनता की स्थिति शासक की सोच से भिन्न होती है। वह शान्ति से जीना चाहती है और अहेतुक शत्रुता को निमंत्रण देना नहीं चाहती है। गोर्बाच्योव ने सन् 1989 में एक भेटवार्ता में बताया– इस वर्ष उन्हें अमेरिकी नागरिकों के लगभग अस्सी हजार पत्र मिले हैं। अधिकतर पत्रों में यह प्रश्न है कि सोवियत संघ और अमेरिका पहले मित्र रह चुके हैं तो अब एक बार फिर वे मित्र क्यों नहीं बन सकते ? इस वक्तव्य में जनता की मनोदशा का एक स्पष्ट चित्र उभर आता है।

अहिंसा के आधार-स्तंभ

अभय और मित्रता– दोनों अहिंसा के आधार-स्तंभ हैं। भगवान् महावीर की अहिंसादृष्टि में जीवन और मरण महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है। उसमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व है– जीवन में अभय और मैत्री का विकास। आज पूरे संसार को अभयदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जरूरत है। राजा संजय काल्पनिक भय से भयभीत होकर मुनि के सामने गया। मुनि ने कहा– मैं तुम्हें अभयदान देता हूं। तुम भी सबको अभयदान दो। आज विश्व प्रतीक्षा कर रहा है इस स्वर के पुनरुच्चारण की।

छिपे हिमखंड को देखना

महावीर की वाणी में धर्म मंगल है। मंगल का पहला सूत्र है– अहिंसा। अहिंसा का आधार–सूत्र है– अभय और अभय का आधार–सूत्र है– आकांक्षा का संयम, इच्छा पर सम्यक् नियंत्रण। अहिंसा और हिंसा हमारी पकड़ में आती है। उन दोनों की आधारभित्ति पीछे छिपी रहती है। हिमखण्ड (आइसबर्ग) का सिरा दिखाई देता है। बर्फ का पहाड़ पानी में छिपा रहता है। हमलोग केवल शीर्ष की चर्चा करते हैं। धरती पर टिके पैरों की ओर कम ध्यान देते हैं। यह कहावत सच है कि पहाड़ की आग दिखालाई देती है, पैरों तले जल रही आग दिख नहीं पाती। हिंसा और अहिंसा का कोलाहल कुछ कर नहीं पायेगा। जरूरत है छिपे हिमखण्ड को देखने की। आकांक्षा को खुली छूट देकर भय, शस्त्र–निर्माण और हिंसा को कम करने की बात सोचना न सोचने के बराबर है।

3.3. युद्ध और अहिंसा

हिंसा के अनेक रूप हैं। उनमें सबसे भयंकर रूप है युद्ध। यह विधि या कानून की सीमा से परे है। साधारण स्थिति में हत्या एक दंडनीय अपराध है। युद्ध की स्थिति में मारना एक पुरस्कार योग्य कार्य है। युद्ध बहुत भयंकर है इसीलिए सबका ध्यान युद्ध–वर्जना की ओर जाता है। युद्ध सार्वजनिक समस्या नहीं है। उससे प्रभावित सब होते हैं, उसे लड़ने वाले सब नहीं होते। उसका संबंध शासक वर्ग और सैन्य वर्ग के साथ जुड़ा हुआ है, साम्राज्य–विस्तार की आकांक्षा और सुरक्षा के साथ जुड़ा हुआ है। राज्य के पास शक्ति का संग्रह असीम हो जाता है। इसलिए शासन की कुर्सी पर बैठे लोग जब चाहें तब रणभेरी बजा देते हैं, और जनता के माथे पर युद्ध के काले बादल मंडरा जाते हैं।

युद्ध : एक अवधारणा

भगवान् महावीर ने अहिंसा के सामान्य निर्देश दिए। उनमें युद्ध–वर्जन का निर्देश नहीं है। अहिंसा का निर्देश सबके लिए है। शासक वर्ग और सैन्य वर्ग के लिए भी है। उनका पालन करने वाले किसी पर आक्रमण नहीं कर सकते, युद्ध का प्रारम्भ नहीं कर सकते। प्राचीन काल में कुछ लोग युद्ध को प्रोत्साहन देते थे। संस्कृत साहित्य में उस विषय के अनेक सूक्त आज भी सुरक्षित हैं। उदाहरण स्वरूप–

जिते च लभ्यते लक्ष्मो, मृते चापि सुरांगना।
क्षणभंगुरको देहः, का चिन्ता मरणे रणे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युद्ध में मरने वाला स्वर्ग में जाता है। इस मान्यता को बहुत व्यापक रूप दिया गया। भगवान् महावीर ने उक्त मान्यता का खंडन किया। उन्होंने युद्ध के मूल कारणों पर विचार किया और उसकी जड़ को सिंचन न मिले वैसी विधियों का निर्देश दिया।

शस्त्र का निर्माण मस्तिष्क में

युद्ध का मूल है– शस्त्रीकरण। शस्त्र का निर्माण न हो, इस व्रत को गृहस्थ की आचार-संहिता में स्थान दिया। भगवान् ने बताया– शस्त्र का निर्माण मस्तिष्क में होता है। लौह आदि से बनने वाले शस्त्र निर्जीव शस्त्र हैं। पहले सजीव शस्त्र का निर्माण होता है और वह हमारे मस्तिष्क में होता है। फिर निर्जीव शस्त्र का निर्माण होता है। भगवान् ने उस सजीव शस्त्र का निर्माण न करने का मार्गदर्शन दिया। सजीव और निर्जीव– दोनों प्रकार के शस्त्र निर्मित नहीं होते हैं, उस स्थिति में युद्ध-वर्जना की बात सहज ही फलित हो जाती है।

हिंसा का बीज प्रत्येक प्राणी में

आज के वैज्ञानिक हिंसा के मूल की खोज में लगे हुए हैं। मनोवैज्ञानिक संघर्ष को मौलिक मनोवृत्ति मानते हैं। आनुवंशिकी वैज्ञानिक हिंसा का मूल जीन में खोज रहे हैं किन्तु युद्ध का इनसे सीधा संबंध नहीं है। हिंसा का अस्तित्व प्रत्येक प्राणी में है। पशु और पक्षी भी लड़ते हैं। एक-दूसरे की हत्या करते हैं। किन्तु उसमें युद्ध का विकास नहीं हुआ। युद्ध एक विशिष्ट कला है, एक विशिष्ट व्यवस्था है। पशु-पक्षियों में इतना विकास नहीं है कि वे युद्ध की रचना कर सकें। यह मानव-समाज की विशिष्ट देन है। भगवान् महावीर की दृष्टि से हिंसा के बीज प्रत्येक प्राणी में विद्यमान हैं। उनका संबंध कर्म से है। किन्तु हिंसा युद्ध के रूप में फलित होगी, उसके लिए केवल कर्म का उत्तरदायित्व नहीं है। उसका उत्तरदायित्व अनेक घटकों का है– कर्म, मनुष्य का तंत्रिकातंत्रीय विकास, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, सामाजिक वातावरण आदि-आदि।

अहिंसक समाज-रचना का आधार

महावीर ने गृहस्थ की अहिंसा का एक स्वरूप निर्धारित किया था। हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया– आरंभजा, विरोधजा और संकल्पजा। आरंभजा हिंसा जीवन-निर्वाह के लिए होने वाली हिंसा है। विरोधजा हिंसा अपनी सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा है। संकल्पजा हिंसा आक्रामक मनोवृत्ति से होने वाली हिंसा है। महावीर ने संकल्पजा हिंसा को त्यागने की प्रेरणा दी। उसके मतानुसार यदि अनाक्रमण की वृत्ति का विकास होता है तो अनावश्यक हिंसा की व्यूह-रचना अपने आप टूट जाती है। आक्रमण के बिना विरोधजा हिंसा अथवा सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा का प्रसंग ही नहीं आता। यदि आदमी आरंभजा हिंसा के साथ जीता है तो वैसे समाज को हिंसक समाज नहीं कहा जा सकता। हिंसा हिंसा है। आरंभजा हिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अहिंसा नहीं है। किन्तु उस हिंसा के आधार पर व्यक्ति या समाज को हिंसक नहीं कहा जाता। जिस समाज में आक्रमणकारी प्रवृत्तियां चलती हैं, उसी के लिए हिंसक शब्द का प्रयोग रूढ़ हो गया। अहिंसक समाज रचना का एक आधार यही है कि उसमें आक्रमणकारी प्रवृत्तियां नहीं होंगी, युद्ध नहीं होगा।

अनाक्रमण की दीक्षा

'मैं आक्रमण नहीं करूंगा'– इस व्रत का अधिकतम प्रचार युद्ध वर्जना का अमोघ शस्त्र है। समाज का बड़ा भाग इस व्रत-दीक्षा से दीक्षित होता है तो सत्ता की कुर्सी पर बैठे लोगों में युद्ध का उन्माद पैदा नहीं हो सकता। जनता का बल राज्य के बल से अधिक समर्थ होता है। जनता के समर्थन के बिना कोई भी सरकार युद्ध नहीं लड़ सकती। अत: युद्ध-वर्जन के लिए जनता को प्रशिक्षित करना, अनाक्रमण की दीक्षा से दीक्षित करना अधिक उपयोगी हो सकता है। राज्य के स्तर पर होने वाले प्रयत्न युद्धवर्जन के लिए सफल होंगे या नहीं, नहीं कहा जा सकता। यह कहा जा सकता है कि जनता का अंकुश युद्ध के उन्माद पर एक नियंत्रण बन सकता है। यदि जनता उन्मादी हो तो शासक मतवाले हाथी की तरह अपने आप पर अंकुश खो देता है और उसका परिणाम जनता को ही भुगतना पड़ता है। खाड़ी युद्ध में ईराक की भूमिका कुछ इसी प्रकार की रही। वहां की जनता के समर्थन से 28 राष्ट्रों की सेना का मुकाबला करने का दुस्साहस ईराक को अब भारी पड़ा। इसलिए इस प्रकार की विनाशलीला से बचने के लिए जनता को अहिंसात्मक साधनों का प्रशिक्षण मिलना चाहिए ताकि अनायास उद्घाटित होने वाले युद्धों को रोका जा सके।

3.4. शस्त्र विवेक

हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है, वैसे हिंसा के साधन को भी शस्त्र कहा गया है। हत्या हिंसा होती है, किन्तु हिंसा हत्या के बिना भी होती है। अविरति या असंयम, जो वर्तमान में हत्या नहीं किन्तु हत्या की निवृत्ति नहीं है, इसलिए वह हिंसा है। हत्या के उपकरणों का नाम है द्रव्य-शस्त्र और हिंसा के साधन का नाम है भाव-शस्त्र। यह व्यक्ति का वैभाविक गुण या दोष है, इसलिए यह मृत्यु का कारण नहीं, पाप बन्ध का कारण है। द्रव्य-शस्त्र व्यक्ति से पृथक् वस्तु है। वह मूलत: हत्या का कारण बनता है। वह हत्या का कारण बनता है, इसलिए पाप-बन्ध का कारण भी होता है।

शस्त्र तीन प्रकार के होते हैं–

1. स्वकाय-शस्त्र
2. परकाय-शस्त्र
3. उभय शस्त्र (स्वकाय और परकाय दोनों का संयोग)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव के छः निकाय हैं–

1. पृथ्वी 2. पानी 3. अग्नि 4. वायु 5. वनस्पति 6. त्रस ।

पृथ्वी द्वारा पृथ्वी का अपघात– यह स्वकाय-शस्त्र है।

पृथ्वी से इतर वस्तु द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात– यह परकाय-शस्त्र है।

पृथ्वी और उससे भिन्न वस्तु– दोनों द्वारा पृथ्वी का उपघात– यह उभय शस्त्र है।

वायु के सिवाय सबके लिए यही बात है। वायु का शस्त्र वायु ही है। चलने-फिरने, उठने-बैठने से वायु की हिंसा नहीं होती। चलने-फिरने में वेग होने पर तेज वायु पैदा होती है, उससे वायु की हिंसा होती है।

त्रस जीव स्थूल होते हैं, इसलिए उनकी हिंसा स्पष्ट जान पड़ती है। स्थावर जीव सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उनकी हिंसा सहजतया बुद्धिगम्य नहीं है। स्थावर जीवों की अवगाहना का एक प्रसंग देखिए–

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा– भगवन् ! पृथ्वीकाय की अवगाहना कितनी है ?

भगवान् ने कहा– गौतम ! चक्रवर्ती राजा की दासी, जो युवा, बलवती व नीरोग है तथा कला-कौशल में निपुण है, ऐसी दासी वज्र की कठिन शिला पर वज्र के लोढे से छोटी गेंद जितने पृथ्वी के पिण्ड को एकत्रित कर पीसे, बार-बार पीसने पर भी कितने पृथ्वीकाय के जीवों को केवल सिलालोढे का स्पर्श मात्र होता है, कितनों को स्पर्श तक नहीं होता, कुछ जीवों के संघर्ष होता है और कुछ जीवों को नहीं, कुछ एक पीड़ा का अनुभव करते हैं, कितने मरते हैं और कितने मरते तक नहीं, कितने पिसे जाते हैं और कितने नहीं पिसे जाते।

स्थावर जीवों को छूने मात्र से कष्ट होता है। शस्त्र-विवेक के बिना अहिंसा की मर्यादा नहीं समझी जा सकता।

3.5. पर्यावरण और उसका संतुलन

अ. पर्यावरण असंतुलन

संयम को छोड़कर अहिंसा को नहीं समझा जा सकता, असंयम को छोड़कर हिंसा को नहीं समझा जा सकता। हिंसा और अहिंसा– ये निष्पत्तियां हैं, परिणाम हैं। इनकी पृष्ठभूमि में है मनुष्य का संयम और असंयम। एक भाषा में कहा जा सकता है– संयम का अर्थ है अहिंसा और असंयम का अर्थ है– हिंसा। जितना-जितना संयम उतनी-उतनी अहिंसा, जितना-जितना असंयम उतनी-उतनी हिंसा। आज हिंसा बढ़ी है और इसलिए बढ़ी है कि असंयम बढ़ा है। हम हिंसा को पकड़ें तो वह हाथ में नहीं आएगी। हिंसा कभी भी पकड़ी नहीं जा सकती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज हिंसा को रोकने के बहुत उपाय किए जा रहे हैं। दंड-संहिता बढ़ गई है, पुलिस की संख्या बढ़ गई है। सतर्कता विभाग बन गए हैं। पुलिस की शाखाएं बढ़ती जा रही हैं। पहले एक डी. आई. जी. था। आज अनेक डी. आई. जी. और आई. जी. बना दिए गए। अनेक नगरों में पुलिस का जाल सा बिछा हुआ रहता है, फिर भी अपराध उससे अधिक बढ़ते चले जा रहे हैं, आतंक बढ़ता चला जा रहा है, उपाय बेअसर हो रहे हैं। इसका कारण है– जिस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उस बात पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। ध्यान देने योग्य बात है– असंयम।

समस्या का कारण

आज मनुष्य में असंमय बढ़ रहा है। मैं एक युवक से बातचीत कर रहा था। उसने कहा– **ईगो** (Ego) तो होना ही चाहिए। ईगो नहीं होगा तो विकास कैसे होगा। महत्त्वाकांक्षा के बिना विकास कैसे हो सकता है ? इसलिए ईगो का होना जरूरी है। मैंने कहा– ईगो का होना जरूरी है तो साथ-साथ **सुपर ईगो** (Super Ego) का होना भी जरूरी है। यदि सुपर ईगो नहीं होगा तो कोरा ईगो खतरनाक बन जाएगा। ईगो और सुपर ईगो का सन्तुलन जरूरी है। अगर ईगो असंयम है तो सुपर ईगो संयम है। अगर ईगो है, सुपर ईगो नहीं है तो हिंसा का होना अनिवार्य है।

आज असंयम के कारण समस्याएं बढ़ रही हैं। इसी असंयम को ध्यान में रखकर महावीर ने कहा था– हिंसा ग्रंथि है। हिंसा मोह है। हिंसा मृत्यु है। हिंसा नरक है। इसका हार्द है– जब-जब असंयम बढ़ता है, हिंसा की समस्या विकराल बन जाती है। वह मनुष्य के लिए मौत बन जाती है। हिंसा मृत्यु कैसे है ? इस तथ्य को हम विज्ञान के सन्दर्भ में समझें। आज पर्यावरण (इकोलोजी) पर बहुत चर्चा हो रही है। वैज्ञानिकों का मानना है– यदि पर्यावरण का असन्तुलन बढ़ता रहा तो एक दिन मनुष्य जाति समाप्त हो जाएगी। केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणी जगत् भी समाप्त हो जाएगा।

भविष्य विश्व का

आज पर्यावरण का संतुलन बिगड़ रहा है। इसका एक कारण है– नाभिकीय विस्फोट। वैज्ञानिक बतलाते हैं– यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, अणुयुद्ध हुआ तो विश्वस्थिति में भारी परिवर्तन आएगा। सारी धरती और सारा आकाश धूल से भर जाएगा। कहीं तापमान कम हो जाएगा, कहीं तापमान बहुत अधिक बढ़ जाएगा। सारा जल और स्थल भूभाग विषाक्त बन जाएगा। जीव जगत् बिलकुल नष्ट हो जाएगा। कहीं भयंकर सर्दी पड़ेगी, कहीं भयंकर गर्मी। सारे हिमखंड पिघल जाएंगे। समुद्र का जल-स्तर दो-तीन मीटर ऊंचा चला जाएगा। समुद्र तट पर बसे नगर और बस्तियां डूब जाएंगी, उसके आसपास का स्थल भूभाग जलमय बन जाएगा। एक प्रकार से हिमयुग आएगा, केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह नाभिकीय विस्फोट और अणुयुद्ध से बनने वाली स्थिति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा कारण है– वनों की अंधाधुंध कटाई। सारे संसार में वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। उसके कारण कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा पचीस प्रतिशत बढ़ गई है। जितनी कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बढ़ती है उतना ही वातावरण भयंकर हो जाता है, तापमान बढ़ जाता है। इतनी गैसें जलाई जा रही हैं कि जिनके कारण वातावरण कार्बन-डाई-आक्साइड से भर गया है। ओजोन की छतरी, जो एक सुरक्षा कवच है, टूटती चली जा रही है। कुछ देशों के इन करतबों का परिणाम सारे विश्व पर पड़ रहा है।

क्यों बिगड़ रहा है सन्तुलन ?

यह सारी स्थिति एक प्रलय की स्थिति है। क्या इस संदर्भ में हम यह न कहें– हिंसा मृत्यु है ? क्या यह कहें– हिंसा मृत्यु नहीं है ? जिस स्थिति में एक आदमी का नहीं, दो-चार का नहीं किन्तु पूरे जगत् का विनाश छिपा है, क्या उसको मृत्यु कहना अतिशयोक्ति है ? "एस खलु मारे" हिंसा मृत्यु है– इस वाक्य को इस वैज्ञानिक संदर्भ के साथ पढ़ें तो लगेगा– यह कितना व्यापक सूत्र है। बिना संदर्भ यह सूत्र सामान्य लगता है किन्तु विज्ञान के संदर्भ में यह सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यह पर्यावरण-विज्ञान का सूत्र है। पर्यावरण का संतुलन बिगड़ा और संसार के लिए मौत का निमंत्रण आ गया। प्रश्न है– यह संतुलन क्यों बिगड़ रहा है ? इसका कारण है– मनुष्य में असंयम बढ़ गया है। वह इतना धन चाहता है, इतना सुख चाहता है, इतनी सुविधा चाहता है कि उसके लिए सब कुछ करने को तैयार है। वनों की कटाई क्यों हो रही है ? पैसे के लोभ के कारण वन कट रहे हैं। बड़े-बड़े ठेकेदारों और अधिकारियों की मिलीभगत से निषिद्ध वन खुले आम काटे जा रहे हैं। कोई रोकने वाला नहीं है, कोई टोकने वाला नहीं है। इधर भी पैसे का लोभ है और उधर भी पैसे का लोभ है। यह धन का लोभ, यह असंयम, वनों को नष्ट कर रहा है। इसका परिणाम है ऑक्सीजन की कमी और कार्बन की अधिकता।

पर्यावरण-विज्ञान : अहिंसा

असंयम के कारण ही खनिज का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। इस वैज्ञानिक युग में जीने वाले वैज्ञानिक और भौतिक मनुष्य क्या भविष्य की कल्पना नहीं करते? क्या खनिज का अतिरिक्त दोहन कर वे भावी पीढ़ियों को दरिद्र नहीं बना रहे हैं ? जो खनिज सम्पदा हजारों वर्ष तक काम आ सके, यदि वह सौ वर्षों में समाप्त हो जाए तो क्या स्थिति होगी ? आने वाली पीढ़ी रोएगी। वह कहेगी– हमारे पूर्वजों ने हमारे साथ क्या किया, हमें बिलकुल दरिद्र और निकम्मा बना दिया।

पर्यावरण-विज्ञान का एक सूत्र है– लिमिटेशन। पदार्थ की सीमा है। कोई भी पदार्थ असीम नहीं है। क्या पदार्थ की सीमा का यह सूत्र संयम का सूत्र नहीं है? पर्यावरण-विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है– पदार्थ सीमित है, इसलिए उपभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम करो। पदार्थों का उपभोग कम हो, पानी का व्यय कम किया जाए, उपभोग का संयम किया जाए, यह सूत्र धर्म का नहीं, पर्यावरण-विज्ञान का है, किन्तु सच्चाई दोनों में एक है। धर्म का आदमी कहेगा– कम खर्च करो, संयम करो। पर्यावरण विज्ञानी की भाषा है– पदार्थ कम है, उपभोक्ता अधिक हैं, इसलिए भोग की सीमा करो। महावीर ने भोगोपभोग के संयम का जो व्रत दिया, वह पर्यावरण-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण सूत्र है पदार्थ ज्यादा काम में मत लो, अनावश्यक चीज को काम में मत लो, यह है संयम और इसी का नाम अहिंसा है, पर्यावरण-विज्ञान है।

भविष्यवाणी भगवती सूत्र की

भगवती सूत्र जैन दर्शन का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। हम भगवती का प्रकरण पढ़ें। जैन काल-गणना के अनुसार अभी पांचवां आरा चल रहा है। जब पांचवां आरा (कालखंड) पूरा होने वाला होगा, छठा आरा (काल-खंड) प्रारम्भ होगा तब इस विश्व में विचित्र स्थितियां बनेंगी। उस समय की स्थिति का वर्णन लोमहर्षक है। सबसे पहले समवर्तक वायु चलेगा। वह इतना प्रलयंकारी होगा कि पहाड़ भी प्रकम्पित हो जाएंगे। इस युग में भी कभी-कभी चक्रवात आते हैं, उसमें बैलगाडियां, कारें उड़ जाती हैं, वृक्षों से अटक जाती हैं। वह समवर्तक वायु इतना भयंकर होगा कि पहाड़ और गांव नष्ट हो जाएंगे, उनका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाएगा। तीव्र आंधियां चलेंगी, जिससे सारा आकाश और सारी धरती धूल से भर जाएंगे। चन्द्रमा इतना ठण्डा हो जाएगा कि रात को कोई आदमी बाहर नहीं निकल पाएगा। सूर्य इतना गर्म होगा, इतना तप्त होगा कि आदमी झुलस जाएंगे। भयंकर ठंड और भयंकर गर्मी। बारिश भी होगी पानी की नहीं, अग्नि की वर्षा होगी, अंगारे बरसेंगे। आज कहा जा रहा है– जब परमाणु विस्फोट होगा, नाभिकीय युद्ध होगा तब आकाश अग्नि की लपटों से भर जाएगा, जीवजगत् प्राय: समाप्त हो जाएगा। जो बचेंगे, वे अन्धे, बहरे और रुग्ण रहेंगे।

भगवती सूत्र में कहा गया– जो मेघ बरसेंगे, वे रोग बढ़ाने वाले होंगे। उसका परिणाम होगा– मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, कीड़े, मकोड़े नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ों में केवल एक वैताढ्य पर्वत बचेगा, जिसे आज हिमालय कहा जाता है। शेष सारे पहाड़, अरावली और विंध्याचल की घाटियां अपना अस्तित्व खो देंगी। जो कुछ लोग बचेंगे, वे हिमालय की गुफाओं में रह जाएंगे। वे दिन में बाहर निकल सकेंगे, न रात में बाहर निकल सकेंगे। केवल संधिकाल में थोड़े समय के लिए बाहर आ पाएंगे। नदियां प्राय: सूख जाएंगी। केवल गंगा और सिन्धु का थोड़ा-सा तट अवशेष रहेगा। वे बचे लोग कुछ मछलियां खाकर जैसे-तैसे अपने जीवन का यापन करेंगे। जैसे चूहे बिलों में पड़े रहते हैं वैसे ही मनुष्य पहाड़ की गुफाओं में दुबके रहेंगे। यह भूमि अंगारों के समान तप्त हो जाएगी। सारी भूमि तप उठेगी। अंगारों पर चलना और भूमि पर चलना एक समान लगेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती सूत्र का यह वर्णन क्या परमाणु युद्ध से पैदा होने की स्थिति का वर्णन नहीं है ? उन्होंने पहले कैसे देखा कि ऐसा कुछ होने वाला है ? आज जो चल रहा है, उससे ऐसा लगता है– आदमी ठीक उसी दिशा में जा रहा है, इसका अर्थ है– वह मौत की दिशा में जा रहा है और जानबूझकर आंख मिचौनी खेल रहा है, अपने आपको धोखा दे रहा है। आज की स्थिति देखते हुए यह भविष्यवाणी आश्चर्यजनक नहीं लगती।

धोखा खा रहा है आदमी

मालिक ने नौकर से कहा– यह लिफाफा ले जाओ, टिकट लगाकर पोस्ट ऑफिस में पोस्ट कर आओ। नौकर ने वापस आकर मालिक से कहा– यह लो टिकट।

मालिक ने पूछा– यह टिकट क्यों लाए ? क्या लिफाफा पोस्ट नहीं किया?

उसने कहा– मैंने लिफाफा पोस्ट कर दिया।

यह टिकट कैसे लाए ?

जब मैं लिफाफा पोस्ट कर रहा था तब पोस्टमास्टर की नजर दूसरी तरफ थी इसलिए मैंने टिकट नहीं लगाया। बिना टिकट लगा लिफाफा पोस्ट कर टिकट को बचा लिया।

आदमी दूसरों को धोखा देना चाहता है, पर वह यह नहीं सोचता है कि वह स्वयं धोखा खा रहा है। बिना टिकट लगा लिफाफा बैरंग माना जाता है। उसे छुड़ाने के लिए टिकट की कीमत से भी अधिक कीमत अदा करनी पड़ती है। प्रश्न है– धोखा किसने खाया ? मालिक ने या पोस्टमास्टर ने ? वस्तुतः आदमी स्वयं को ही धोखा देता है, दूसरों को नहीं। उसमें यह प्रवृत्ति बढ़ रही है, वह अपने आपको धोखा देता चला जा रहा। मूर्च्छा इतनी प्रबल कि आदमी समझते हुए भी समझ नहीं पा रहा है।

काल की उदीरणा न हो जाए

आज सारे वैज्ञानिक भविष्य के प्रति चिंतित हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के लोग अनेक बार घोषणा करते हैं– वनों की कटाई कम करें, पदार्थ और जल का सीमित प्रयोग करें। वैज्ञानिक स्तर पर आने वाली इन चेतावनियों के बावजूद सब वैसा ही चल रहा है। सब लोग वैसे ही कर रहे हैं, सरकारें भी वैसे ही चलती जा रही हैं। पैसे का लोभ सरकार को भी है, जनता को भी है, ठेकेदारों और अधिकारियों को भी है। इस पैसे के चक्र में, लोभ और असंयम के चक्र में सब फंसे हुए हैं। पर्यावरण-प्रदूषण के प्रति बहुत चिन्ता दर्शायी जा रही है, किन्तु इसकी क्रियान्विति की चिन्ता नहीं है। जब तक अहिंसा और संयम का मार्ग समझ में नहीं आएगा तब तक पर्यावरण की बात समझ में नहीं आएगी, पर्यावरण की समस्या सुलझेगी नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवें कालखण्ड की काल-अवधि है– इक्कीस हजार वर्ष। कहीं काल की उदीरणा न हो जाए ? इक्कीस हजार वर्ष बाद आने वाली स्थिति इक्कीसवीं शताब्दी में ही न आ जाए ? क्योंकि वैज्ञानिक उद्घोषणा है इक्कीसवीं शताब्दी का मध्य दुनिया के लिए भयंकर होगा। उसमें केवल साठ वर्ष बच रहे हैं। जो पीढ़ी आज जन्म ले रही है, वह इस भयंकरता से गुजरेगी। यदि हम नहीं संभले तो सामने दिखने वाला खतरा भयंकर बन जाएगा। सम्भव है, काल की उदीरणा हो जाए। काल कर्म की उदीरणा में निमित्त बनता है तो हो सकता है, शायद कर्म भी कभी-कभी काल की उदीरणा में निमित्त बन जाए।

समाधान-सूत्र

इस समस्या के जो समाधान-सूत्र हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पुराने लोग कहा करते थे– जल को घी की तरह बरतो। यह अवधारणा थी– असंख्य जीव मरते हैं तो जल की एक बूंद काम आती है। जल की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं। धर्म का तत्त्व समझते हुए बच्चों को कहा जाता था– देखो ! एक गिलास पानी में तुम्हारे कितने मां-बाप हैं। इसका मतलब होता था- अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने कितने मां-बाप बनाए हैं। जिनकी हिंसा की जा रही है, उनमें न जाने कितने पुरखे अपने हैं। ऐसी बातें कहकर पानी का घी की तरह उपयोग करने का रहस्य समझाया जाता। पुरानी पीढ़ी के लोग एक-आध बाल्टी में स्नान कर लेते थे। आजकल ऐसा करना समझदारी की बात नहीं मानी जाती है। जब तक व्यक्ति नल के नीचे न बैठ जाए, दस बीस बाल्टियां शरीर पर न ढुल जाए तब तक अच्छा स्नान नहीं होता।

सीमातीत उपभोग

आज असंयम कितना बढ़ गया है। हर बात में असंयम है। बिजली का कितना अनावश्यक उपभोग हो रहा है ? बत्ती जला देते हैं और वह सारी रात जलती रहती है। क्या सारी रात बत्ती का प्रकाश जरूरी होता है ? पंखा चलाते हैं और दिन-रात पंखा चलता रहता है। क्या यह असंयम नहीं है ? बिजली जले तो दिन-रात जले और पानी बहे तो दिन-रात बहे। कितना प्रबल है असंयम। इस स्थिति में ओजोन की छतरी कैसे नहीं टूटेगी ? कार्बन की मात्रा कैसे नहीं बढ़ेगी ? ऑक्सीजन में कमी क्यों नहीं आएगी ? पर्यावरण का संतुलन क्यों नहीं बिगड़ेगी ?

संकल्प लें

हम इस सच्चाई को समझें। भगवान महावीर ने कहा–इस सच्चाई को जानकर मेधावी पुरुष यह संकल्प ले--मैंने हिंसा और असंयम बहुत किया। मैं वह अब नहीं करूंगा। मैं अब अहिंसा और संयम की साधना करूंगा। जैसे-जैसे यह संकल्प बलवान् बनता जाता है, शक्तिशाली बनता है, वैसे-वैसे व्यक्ति में परिवर्तन आना शुरू हो जाता है जैसे-जैसे संयम बढ़ेगा, असंयम कम होगा, कठिनाइयां भी कम होंगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अफसर का कद बहुत नाटा था। कार्यालय में एक कर्मचारी से उसका दोस्त मिलने आया। उसने पूछा--अफसर कौन है? कर्मचारी ने सामने बैठे व्यक्ति की ओर इशारा किया। मित्र ने कहा--अरे यह तो बहुत छोटा है। कर्मचारी बोला--मुसीबत जितनी छोटी हो, उतना ही अच्छा है।

वर्तमान संदर्भ

हम जितना संयम करेंगे, समस्या उतनी ही छोटी होती चली जाएगी, वह लम्बी नहीं बनेगी, भयंकर और विकराल नहीं होगी। यदि आज सचमुच विश्व को पर्यावरण संतुलन की चिंता है, उससे होने वाले परिणामों की चिन्ता है तो उसके लिए धर्म का पाठ, अहिंसा और संयम का पाठ समझना सबसे ज्यादा जरूरी है। संयम की बात केवल मोक्ष के संदर्भ में ही नहीं कही गई है। धार्मिक लोग भी प्रायः संयम और अहिंसा की बात मोक्ष के संदर्भ में करते हैं। जिसे मोक्ष जाना ही नहीं है, वह क्यों इस को मानेगा ? मोक्ष के संदर्भ में धर्म की बात करना उसका एक पहलू है किन्तु जीवन के संदर्भ में वह बहुत मूल्यवान् है। इस सचाई को वर्तमान संदर्भ में समझना जरूरी है। यदि धर्म की बात को वर्तमान युग की समस्याओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए, अधर्म और हिंसा से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों और कठिनाइयों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति धर्म का मूल्यांकन करेगा, अहिंसा और संयम का मूल्यांकन करेगा, धर्म की बात बहुत व्यापक बन जाएगी। धर्म का एक सूत्र है--अतीत की भूलों को न दोहराना। प्रत्येक व्यक्ति यह संकल्प ले--मैंने अब तक जो भूलें की हैं, उन्हें पुनः नहीं करूंगा, जो प्रमादवश किया है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी। यह संकल्प समस्या के सघन तिमिर में समाधान का दीप बन सकता है।

3.6. वनस्पति जगत् और हम

मनुष्य और वनस्पति--दोनों हम-साथी हैं। वनस्पति के बिना मनुष्य का जीवन संभव नहीं है, किन्तु मनुष्य के बिना वनस्पति का जीवन संभव हो सकता है। हम आदिम युग को देखें, यौगलिक युग को देखें। उस समय जीवन की सारी आवश्यकताएं कल्पवृक्ष पर निर्भर थीं। वह प्रत्येक कल्पना को पूरा करने वाला वृक्ष था। यौगलिक जीवनकी अपेक्षाएं--भोजन, वस्त्र आदि कल्पवृक्ष से पूरी होतीं। मकान, आभूषण, मनोरंजन के साधन, श्रृंगार, साज-सज्जा, रहन-सहन, सब कुछ कल्पवृक्ष पर आश्रित था। कल्पवृक्ष के बिना यौगलिक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यौगलिक युग के बाद मनुष्य ने साथ रहना सीखा, गांव बसाना सीखा, मकान बनाना सीखा, खेती करना सीखा। पहले कल्पवृक्ष ही उनका मकान था। यौगलिक युग के अन्तिम समय में पहला मकान बना। मकान का नाम था अगार। पहला मकान लकड़ी से बना। अब-वृक्ष से बना इसलिए मकान का नाम अगार हो गया। उस समय न ईंट थी न पत्थर थे। पूरा मकान लकड़ी से निर्मित हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन का नया दौर

जीवन की आवश्यकताएं बढ़ीं। मनुष्य ने कपड़ा बनाना शुरू किया। पहला कपड़ा रुई से बना। उसका प्रणयन भी वनस्पति जगत् था। उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ने कृषि–खेती करना प्रारम्भ कर दिया। एक अन्तर आ गया–केवल कल्पवृक्ष पर जो निर्भरता थी, वह उससे हटकर वनस्पति जगत् पर निर्भर बन गई। प्रवृत्ति का विस्तार होता चला गया। मकान और वस्त्र बनने लगे, फसलें उगने लगीं। जीवन का एक नया दौर शुरू हो गया, किन्तु सब कुछ वनस्पति जगत् पर निर्भर बना रहा।

हम समाज के इतिहास को देखें। मनुष्य जगत् और वनस्पति जगत् दोनों साथ-साथ जीते रहे हैं। मनुष्य पहले जंगलों में वृक्षों के बीच रहता था। आजकल अधिकांश लोग शहरों में रहना पसंद करते हैं। हमने देखा- शहरों में बड़ी-बड़ी कोठियां बनी हुई हैं, किन्तु उनके चारों ओर छोटे-छोटे उद्यान लगे हुए हैं। प्रश्न हो सकता है–कोठी के सामने बगीचा क्यों ? ऐसा लगता है–आदमी ने जंगल को छोड़ा, गांव बसाया। उसका गांव में मन नहीं लगा इसलिए उसे गांव में पुन: जंगल बनाना पड़ा।

प्राण शक्ति : मुख्य आधार

वस्तुत: पेड़ के बिना आदमी का मन ही नहीं लगता। एक व्यक्ति को कविता बनाना है। यदि पेड़ के नीचे बैठ जाए तो अपने आप कल्पना आने लग जाएगी। पेड़ के नीचे कागज-कलम लेकर लिखना शुरू करें, कहानी बन जाएगी। जब हरा-भरा फल-फूलों से लदा हुआ वृक्ष आंखों को दिखाई देता है तो एक सूखा आदमी भी सजल बन जाता है, सरस बन जाता है।

वनस्पति हमारी प्राणशक्ति का मुख्य आधार है। किसी व्यक्ति को कुछ देर के लिए काल-कोठरी में बन्द कर दिया जाए तो उसका दम घुटने लग जाएगा। जब व्यक्ति प्रात:काल उद्यान में भ्रमण के लिए जाता है, तब उसके तन, मन और भाव–सब स्वस्थ बन जाते हैं। मनुष्य जगत् और वनस्पति जगत् का इतना गहरा संबंध रहा है, फिर भी मनुष्य के मन में उसके प्रति करुणा का अभाव बना हुआ है। मनुष्य के मन में एक क्रूरता छिपी हुई है। जिस वनस्पति जगत् से वह इतना कुछ पा रहा है, उसके प्रति जो करुणा, कोमलता, सहृदयता, हमदर्दी और भाईचारा होना चाहिए, वह उसके मन में नहीं है। जो जीवन के साथी हैं, जीवन देने वाले हैं, उनके प्रति भी दयालुता नहीं है। यह एक विडम्बना है।

आत्मतुला

भगवान महावीर ने आत्मतुला के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

महावीर ने वनस्पति और मनुष्य की जो समानताएं प्रस्तुत की हैं उन्हें आज विज्ञान प्रमाणित कर चुका है। महावीर की भाषा में मनुष्य और वनस्पति की समानता का रूप यह है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य	वनस्पति
मनुष्य जन्मता है	वनस्पति भी जन्मती है
मनुष्य बढ़ता है	वनस्पति भी बढ़ती है
मनुष्य चैतन्ययुक्त है	वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है
मनुष्य छिन्न होने पर क्लान्त होता है	वनस्पति भी छिन्न होने पर क्लांत होती है
मनुष्य आहार करता है	वनस्पति भी आहार करती है
मनुष्य अनित्य है	वनस्पति भी अनित्य है
मनुष्य अशाश्वत है	वनस्पति भी अशाश्वत है
मनुष्य उपचित और अपचित होता है	वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है
मनुष्य विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है	वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है ।

अभय का अवदान

महावीर ने कहा—सब जीवों को अपने समान समझो। वनस्पति के संदर्भ में भी उनका यही प्रतिपादन था—'तुम देखो ! वनस्पति दूसरे जीवों की अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट है। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु आदि के जीवों को समझना कुछ कठिन है, किन्तु वनस्पतिकाय को समझना आसान है। तुम इसे समझो, इस पर मनन करो। मनन कर अभय-दान दो।'

'जिससे तुम्हें जीवन मिल रहा है, उसे भी तुम भय दे रहे हो। तुम उसे सताना छोड़ दो। यह सत्य है—तुम्हारी आवश्यकताएं उस पर निर्भर हैं। तुम खाए बिना नहीं रह सकते, किन्तु तुम कम से कम उसे अनावश्यक मत सताओ। मन में यह भावना रखो—यह हमारा उपकार करने वाला जगत् है। उसके प्रति तुम्हारा जो क्रूर व्यवहार होता है, उसके लिए क्षमा-याचना करो। तुम्हें आवश्यकतावश किसी पेड़ की टहनी को काटना पड़ा है, किसी वनस्पति को खाना पड़ा है तो तुम उसके प्रति मन में क्षमा-याचना करो। तुम्हारे मन में यह भाव जागे—विवशता के कारण मैं वनस्पति जगत् का उपयोग कर रहा हूं। मेरी विवशता के लिए वह मुझे क्षमा करे। यह भाव कृतज्ञता का भाव होगा ।'

बीमारी का कारण

महावीर ने जो कहा, उसका हार्द है—वनस्पति जगत् के प्रति करुणा, सहयोग, सहृदयता, कृतज्ञता और क्षमायाचना का भाव होना चाहिए। बहुत सारे लोग पेड़ों को काटकर बीमार पड़ जाते हैं। उन्हें पता ही नहीं चलता—यह बीमारी क्यों आई? जापान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का एक रहस्यविद् हुआ है–डा. हिरोशी मोकोयामा। उसने एक रोगी को देखा। उसकी बीमारी का कोई पता नहीं चला। मोकोयामा ने पूछा–'तुम्हारी सास की मौत हुई है ?'

'हां।'

'तुम्हारे घर के सामने कोई पुराना पेड़ है ?'

'हां।'

'बस, यही है तुम्हारी बीमारी का कारण। कुछ लोग उस पेड़ को काटना चाहते हैं। उस पेड़ में एक पवित्र आत्मा रहती है और उसी की चेतावनी है तुम्हारी यह बीमारी।'

डॉक्टर की बात सही निकली। कुछ दिनों बाद तूफान आया और वह पेड़ उखड़ गया। उसने उसी स्थान पर एक नया पेड़ लगा दिया। उसी दिन से बीमारी ठीक होने लगी और कुछ ही दिनों में वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया।

महत्त्वपूर्ण स्वीकृति

कुछ मृतात्माओं के निवास-स्थान भी ये पेड़ होते हैं। गुरु-धारणा करते समय एक जैन श्रावक यह नियम स्वीकार करता है–मैं बड़े वृक्ष को नहीं काटूंगा। यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। विश्नोई समाज ने पेड़ों के लिए जो काम किया है, वह बहुत अद्‌भुत है। विश्नोई समाज में यह मान्यता प्रचलित है–एक पेड़ को काटना दस लड़कों को मारने के समान है। विश्नोई समाज के पुरखों ने पेड़ों की सुरक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। जब जोधपुर के राजा ने पेड़ कटवाने शुरू किए तब विश्नोई समाज के लोगों ने सत्याग्रह कर दिया। उन्होंने कहा– पहले हम मरेंगे फिर पेड़ कटेंगे। पेड़ को विनाश से बचाने के लिए अनेक लोगों ने अपने प्राणों की आहुती दे दी।

हम इस सचाई को समझें–जितने पेड़ कटेंगे उतना ही मनुष्य का जीवन असुरक्षित बनेगा। पेड़ काटने का अर्थ है–हिंसा और अपने सहयोगी का विनाश। पेड़ काटने में हिंसा तो होती ही है किन्तु उसके साथ-साथ जीवन को भी खतरा पैदा हो जाता है। वनस्पति और मनुष्य–दोनों का अस्तित्व इतना जुड़ा हुआ है कि उन्हें अलग नहीं किया जा किया जा सकता। आज मनुष्य इस सचाई को अनदेखी कर रहा है। वह लोभ के कारण बिना सोचे-समझे वनस्पति-जगत् के साथ घोर अन्याय और क्रूरता का व्यवहार करता चला जा रहा है और यही उसके लिए समस्या का कारण बन रहा है।

कृत्रिम क्षुधा से बचें

भगवान् महावीर ने हिंसा के दो प्रकार बतलाए–अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। यह बहुत वैज्ञानिक वर्गीकरण है। ये दोनों शब्द जीवन के व्यवहार से जुड़े हुए हैं। व्यक्ति आवश्यक हिंसा को नहीं छोड़ सकता, जीवन की वास्तविक जरूरतों को कम नहीं कर सकता, किन्तु अनावश्यक हिंसा से बच सकता है, कृत्रिम जरूरतों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम कर सकता है। वास्तविक आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता को समझना जरूरी है। प्राकृतिक चिकित्सा में दो प्रकार की भूख मानी जाती है—प्राकृतिक भूख और कृत्रिम भूख। प्राकृतिक भूख सहज लगने वाली भूख है। भस्मक रोग को कृत्रिम भूख माना गया है। जो व्यक्ति भस्मक रोग से ग्रस्त होता है, उसकी भूख दिन में सौ-सौ रोटियां खाने पर भी नहीं मिटती। इस कृत्रिम भूख—भस्मक व्याधि का कभी अन्त नहीं आता। वह व्यक्ति एवं समाज के लिए समस्या बन जाती है।

अर्थशास्त्र का सूत्र

आज के समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों ने कृत्रिम भूख को बढ़ाकर पूरे मानव समाज को संकट में डाल दिया। अर्थशास्त्र का सूत्र है—इच्छा को बढ़ाते चले जाओ। आज इस गलत सूत्र के परिणाम स्वरूप हिंसा बढ़ रही है, पर्यावरण का संतुलन विनष्ट हो रहा है। आवश्यकता की पूर्ति करना जरूरी है, इस बात को उचित माना जा सकता है, किन्तु कृत्रिम आवश्यकताओं को पैदा करना और उनकी पूर्ति करते चले जाना युक्ति-संगत नहीं है- आवश्यकता की उत्पत्ति और उसकी पूर्ति का एक चक्र है। उस चक्र का कहीं अन्त नहीं होता। इस सचाई से साधारण लोग भी परिचित रहे हैं। राजस्थानी का प्रसिद्ध दोहा है-

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव के सेर।
मन की तृष्णा अमित है, गिलै मेर का मेर॥

प्रश्न आवश्यकता का

वर्तमान जगत् में जिस सचाई का प्रतिपादन किया जा रहा है, उससे यह सचाई भिन्न है। आवश्यकता की पूर्ति को अनुचित नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रश्न है—मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं कितनी हैं ? वे बहुत सीमित हैं। यदि आवश्यकता के आधार पर चला जाता तो दुनिया के सामने पर्यावरण का संकट पैदा नहीं होता, पर्यावरण की समस्या से विश्व संत्रस्त नहीं होता। व्यक्ति ने तन की तृष्णा के स्थान पर मन की तृष्णा को बिठा दिया। जब तन की तृष्णा जाग जाती है तब आवश्यकताएं बढ़ती चली जाती हैं। तृष्णा और इच्छा का कोई अन्त नहीं है, कोई सीमा नहीं है। महावीर ने कहा—"इच्छा हु आगाससमा अंणतिया"—इच्छा आकाश के समान अनंत है। जब इच्छा अनंत और असीम बन जाती है तब विनाश अवश्यंभावी बन जाता है।

विराम कहां होगा

आज विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है। इसका कारण है अर्थशास्त्र का अनसोचा-अनसमझा सिद्धान्त। अर्थशास्त्र का अभिमत है—जितनी इच्छा बढ़ेगी, उतना ही उत्पादन बढ़ेगा, जितना उत्पादन बढ़ेगा, उतनी ही समृद्धि बढ़ेगी। इस सिद्धांत ने सचमुच विनाश को निमंत्रण दे दिया है। अगर अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता तो इकोलॉजी के विकास की जरूरत नहीं होती । आज सृष्टि-संतुलन के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। लोग चाहते हैं—सृष्टि का संतुलन न गड़बड़ाए। किन्तु जब तक अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन-व्यवहार को संचालित कर रहा है तब तक सृष्टि-संतुलन की चिंता को समाधान नहीं मिलेगा। सृष्टि-संतुलन के लिए, पर्यावरण के लिए अर्थशास्त्र की वर्तमान अवधारणाओं को बदलना होगा। उन्हें बदले बिना इन समस्याओं को समाहित नहीं किया जा सकता।

इच्छा बढ़ाओ, उत्पादन बढ़ाओ, इस गलत अवधारणा के कारण ही वनस्पति जगत् के साथ अन्याय हो रहा है । आज विकास के कृत्रिम साधनों ने प्रकृति के साथ अन्यायपूर्ण और क्रूर बरताव शुरू किया है। इसका विराम कहां होगा, कहा नहीं जा सकता।

महावीर का अहिंसा-दर्शन

हम इस सचाई को आचारांग सूत्र के संदर्भ में समझें। आचारांग सूत्र में जिन सचाईयों का उद्घाटन हुआ है, उन्हें वर्तमान में अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। यही बात आज से हजार वर्ष पूर्व कही जाती तो समझने में कुछ कठिनाई होती। आज सारा विश्व उखड़ा हुआ है, समस्या से चिन्तित बना हुआ है। यदि आधुनिक संदर्भ में महावीर वाणी को प्रस्तुत किया जाए, आचारांग सूत्र का विश्लेषण किया जाए तो लगेगा—वर्तमान समस्याओं के अद्भुत समाधान पहली बार हमारे सामने आए हैं। आज महावीर की वाणी और उनका अहिंसा-दर्शन विश्व को लुभावना लग रहा है। लोग चाहते हैं—उफनते हुए दूध पर कोई ठण्डे पानी का छींटा देने वाला मिले। आज आकांक्षा की आग प्रबल बन रही है। उसे शान्त करने के लिए अहिंसा की बात जो वनस्पति जगत् के साथ जुड़ी हुई है, ठण्डे पानी का छींटा डालने वाली बात है।

विषय : आवर्त

आचारांग सूत्र का महत्त्वपूर्ण सूक्त है—**जे आवट्टे से गुणे, जे गुणे से आवट्टे**—जो विषय है,वह आवर्त है,जो आवर्त है,वह विषय है। इन अर्थशास्त्रीय आकांक्षाओं या विषयों ने इतने आवर्त पैदा कर दिए हैं, इतने भंवर बना दिए हैं कि व्यक्ति का अपनी जीवन की नौका को खेकर पार पहुंचना कठिन हो रहा है । इस भंवर से, आवर्त से बचने वाला ही समस्याओं के चक्रव्यूह को भेदने में सफल हो सकता है। यह इतनी-सी सचाई समझ में आ जाए तो मनुष्य-जाति का बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है।

3.7 हम अकेले नहीं हैं

पर्यावरण का मौलिक सूत्र

इस विश्व में मैं अकेला नहीं हूं। केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं है, यह पर्यावरण विज्ञान का मौलिक सूत्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आस-पास सभी दिशाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पर्यावरण का कवच पहने हुए श्वास ले रहा है। उसके परिपार्श्व में जीव और अजीव– दोनों का पर्यावरण है। भगवान् महावीर ने कहा– मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इन सब में जीव है। उनके अस्तित्व को अस्वीकार मत करो। उनके अस्तित्व के अस्वीकार का अर्थ है– अपने अस्तित्व का अस्वीकार। अपने अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला ही उनके अस्तित्व को नकार सकता है। स्थावर और जंगम, दृश्य और अदृश्य– सभी जीवों का अस्तित्व स्वीकारने वाला ही पर्यावरण के साथ न्याय कर सकता है।

कोई भी अकेला नहीं

अचेतन जगत के अस्तित्व को भी अस्वीकार मत करो। इस संसार में रहने वाली प्रत्येक सत्ता अचेतन की ओढ़नी ओढ़े हुए है। जीव-जीव को प्रभावित करता है। यह अजीव को भी प्रभावित करता है। अजीव जीव को प्रभावित करता है। ये प्रभाव की धाराएं बहुत संक्रमणशील हैं। इसलिए कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है। हिमालय की गुफा में बैठा अकेला व्यक्ति भी अपने साथ पूरे संसार को लिये बैठा है।

सामंजस्य का सूत्र : अहिंसा

दूसरों के अस्तित्व, उपस्थिति, कार्य और उपयोगिता को स्वीकार करने वाला ही व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है। अहिंसा सामंजस्य का सूत्र है। पर्यावरण विज्ञान और अहिंसा में अभिन्नता है। यह विज्ञान इस शताब्दी की देन है। अहिंसा का सिद्धान्त बहुत पुराना है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को अनेक पहलुओं से देखा। उनमें एक पहलू है–पर्यावरण विज्ञान। महावीर का यह सूत्र उसे सशक्त स्वर दे रहा है–

'से बेमि– णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।'
'जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।'
'जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।'

पर्यावरण असंतुलन क्यों ?

भगवान् महावीर ने पर्यावरण का आधार ही नहीं दिया, उसकी क्रियान्विति का मार्ग भी सुझाया। जिन जीवों की हिंसा के बिना तुम्हारी जीवन-यात्रा चल सकती है, उनकी हिंसा मत करो। जीवन-यात्रा के लिए जिनका उपयोग अनिवार्य है, उनकी भी अनावश्यक हिंसा मत करो। पदार्थ का भी अनावश्यक उपभोग मत करो। इस निर्देश के संदर्भ में वर्तमान पर्यावरण की समस्या की समीक्षा अवश्यक है। आज पृथ्वी का अतिरिक्त मात्रा में दोहन किया जा रहा है। इससे जगत का संतलन बिगड रहा है। ऊर्जा के स्रोत समाप्त होते जा रहे हैं। खनिज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भंडार खाली होता जा रहा है। आज के वैज्ञानिक ऊर्जा के नये स्रोतों की समाप्ति से चिन्तित हैं। पानी का अतिमात्रा में उपयोग किया जा रहा है। आशंका है कि एक दिन पीने का पानी दुर्लभ हो जाएगा। जंगलों और पेड़ों की अंधाधुंध कटाई के परिणाम अनेक प्रदेश भुगत रहे हैं। वर्षा की कमी का बहुत बड़ा कारण माना जा रहा है पेड़ों का कट जाना।

वर्तमान समस्या

इच्छा और भोग, सुखवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण ने हिंसा को बढ़ावा दिया है और साथ-साथ पर्यावरण का संतुलन भी विनष्ट किया है। अहिंसा का सिद्धांत आत्मशुद्धि का है तो साथ-साथ वह पर्यावरण शुद्धि का भी है। पदार्थ सीमित हैं, उपभोक्ता अधिक हैं और इच्छा असीम है। अहिंसा का सिद्धांत है– इच्छा का संयम करना, उसकी काट-छांट करना। जो इच्छा पैदा हो, उसे उसी रूप में स्वीकार न करना, किंतु उसका परिष्कार करना। आज के वैज्ञानिक और उद्योगपति मनुष्य के सामने अधिक-से-अधिक सुविधा के साधन प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो पहले कभी नहीं बने, वैसे पदार्थों का निर्माण कर उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ करना चाहते हैं। एक ओर जनता का सुविधावादी दृष्टिकोण बन गया। दूसरी ओर सुविधा के साधनों के निर्माण की होड़ लगी हुई है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं कुछ गौण बन गई हैं, सुविधा के साधन और प्रसाधन-सामग्री– ये मुख्य बन गए हैं। इस स्थिति में अनावश्यक हिंसा बढ़ी है और साथ-साथ पर्यावरण का संतुलन भी बिगड़ गया है।

हिंसा और अहिंसा का प्रारंभिक बिन्दु

आज पर्यावरण के प्रदूषण का कोलाहल बहुत हो रहा है। पर वह प्रदूषण कैसे मिटे? सुविधावादी आकांक्षा की आग जले और प्रदूषण का धुंआ न उठे, यह कब संभव है? अहिंसा के सिद्धांत की उपेक्षा कर पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार उद्योग जगत् और व्यवसाय जगत् मनुष्य को अधिक-से-अधिक सुविधावादी बना रहा है, उसी प्रकार अहिंसानिष्ठ लोग उसे अहिंसक बना सकें, तभी पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या का समाधान संभव बन सकता है। अहिंसा को बहुत स्थूल अर्थ में समझा जा रहा है, उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न कम हो रहा है। हिंसा का प्रारंभिक बिंदु किसी को मार डालना नहीं है और अहिंसा का प्रारंभिक बिंदु किसी को न मारना ही नहीं है। हिंसा का प्रारंभिक बिन्दु है– दूसरे जीवों के अस्तित्व को न स्वीकारना, पदार्थ के अस्तित्व को भी न स्वीकारना। अहिंसा का प्रारंभिक बिंदु है– छोटे-से-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोटे जीव और छोटे-से-छोटे पदार्थ– परमाणु तक के अस्तित्व को स्वीकारना और उनके साथ छेड़छाड़ न करना। अपने अस्तित्व की भांति दूसरों के अस्तित्व का भी सम्मान करना।

अहिंसा का पहला सिद्धांत

यह आत्मौपम्य का सिद्धांत अहिंसा का पहला सिद्धांत है। पदार्थ के अपरिग्रहण का सिद्धांत अहिंसा का उच्छ्वास है, प्राण-तत्त्व है। यही अहिंसा का सम्यग् दर्शन है। जो लोग इस दर्शन को नहीं जानते, वे अपने संकुचित स्वार्थों की सीमा में जीते हैं। उनकी पूर्ति के लिए हिंसा का उच्छृंखल प्रयोग करते हैं और पर्यावरण का प्रदूषण भी पैदा करते हैं। हिंसा की बाढ़ केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही अवांछनीय नहीं है किन्तु पर्यावरण की दृष्टि से भी अवांछनीय है। इहलौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से अवांछनीय है। इसीलिए महावीर ने कहा था–

एस खलु गंथे– अहिंसा ग्रन्थि है।
एस खलु मोहे– यह मोह है।
एस खलु मारे– यह मृत्यु है।
एस खलु णारए– यह नरक है।
तं से अहियाए– हिंसा मनुष्य के लिए हितकर नहीं है।
तं से अबोहीए– वह बोधि का विनाश करने वाली है।

इस स्वर का उदात्तीकरण ही पर्यावरण प्रदूषण में उलझे समाज में एक नया प्रकम्पन पैदा कर सकेगा।

अभ्यास

1. शस्त्र की परिभाषा करते हुए बतायें कि उससे शांति को क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ?
2. पर्यावरण का अहिंसा के साथ क्या संबंध है ? क्या उच्छृंखल औद्योगिक विकास मनुष्य के अस्तित्व को चुनौती नहीं है ?
3. व्यक्ति को समष्टि के साथ जोड़ने वाला तत्त्व क्या है तथा उसका विकास कैसे किया जा सकता है ?
4. हिंसा समस्या का समाधान क्यों नहीं है, विस्तार से समझायें।

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. अहिंसा और शान्ति

4.1. सामाजिक जीवन की समस्या और सह-अस्तित्व

हम सामाजिक जीवन जी रहे हैं। समाज का एक घटक है– व्यक्ति। जैसा व्यक्ति होता है वैसा समाज होता है। समाज और व्यक्ति को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। मूल प्रश्न है व्यक्ति का। सामाजिक जीवन की समस्या है– व्यक्ति की विभिन्नता। यदि सब व्यक्ति एक प्रकार के होते तो एक-सा चिंतन, एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन, एक-सी जीवन प्रणाली, एक-सी राजनीतिक प्रणाली और एक ही धार्मिक प्रणाली होती, पर इन सबमें विभिन्नता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी पृथक् मान्यताएं रखता है। जीवन की प्रणालियां भिन्न-भिन्न हैं और सबका दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न है। इसलिए जहां मतभेद होता है, वहां मनभेद भी आ टपकता है।

दो प्रकार की ग्रंथियों हैं– एक मतभेद की ग्रंथि और दूसरी मनभेद की ग्रंथि। इन दोनों ग्रंथियों से समाज संत्रस्त है। जातीयता और सांप्रदायिकता दुःख का एक कारण है और इससे अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। मनोविज्ञान में सामूहिक तनाव की बड़ी चर्चा है। समाज के द्वारा, समूह के द्वारा जो तनाव पैदा किया जाता है, उसमें राजनीतिक कारण भी हैं, समाज व्यवस्था भी एक कारण है, आर्थिक व्यवस्था भी एक कारण है और वैज्ञानिक कारण भी हैं। थोड़ा-सा मतभेद होता है, घृणा पैदा हो जाती है, द्वेष पैदा हो जाता है। ये मनोवैज्ञानिक कारण सबसे अधिक भयंकर होते हैं।

विरोध : समाज की प्रकृति

दर्शन-शास्त्र में विरोध के तीन कारण बतलाए गए हैं– प्रतिबध्य-प्रतिबंधक, बध्य-बधक और सहानवस्थान।

एक विरोध है– प्रतिबध्य-प्रतिबंधक का। प्रतिबंधक शक्ति आती है और प्रतिबध्य में रुकावट पैदा हो जाती है। दोनों में विरोध है। आग का काम है जलाना किन्तु प्रतिबन्धक शक्ति पैदा हो गई तो वह जला नहीं पाएगी।

दूसरा विरोध है– बध्य-बधक का। चूहे और बिल्ली में एक शाश्वत प्रकृतिगत विरोध है। यह बध्य-बधक भाव का विरोध है।

तीसरा विरोध है– सहानवस्थान का। पानी और आग में सहानवस्थान विरोध है। ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

विरोध समाज की प्रकृति है, व्यक्ति की प्रकृति है। विरोध के वातावरण में व्यक्ति पलता चला आ रहा है। इन विरोधों के कारण आज काफी जटिलताएं पैदा हो रही हैं। सारा संसार अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है। क्या इन विरोधों को मिटाया जा सकता है ? क्या समस्या का कोई समाधान है ? हमारे सामने यह प्रश्न है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोध परिहार का मार्ग : अनेकान्त

अनेकान्त में इस विरोध के परिहार का मार्ग उपलब्ध है। उसका एक सूत्र है– सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है, वह भिन्न भी है। जो विरुद्ध है, वह अविरुद्ध भी है और जो अविरुद्ध है, वह विरुद्ध भी है। ऐसी लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती कि मैं इससे सर्वथा भिन्न हूं या इससे सर्वथा अभिन्न हूं। इस आधार पर अनेकान्त का एक सिद्धान्त फलित हुआ– सह-अस्तित्व। प्राचीन भाषा है– सहानवस्थान। वर्तमान में कहा जा सकता है– एक साथ रहना और एक साथ जीना सह-अस्तित्व है। यह कैसे संभव है? अनेकांत की व्याख्या की जाए तो निष्कर्ष होगा– सह-अस्तित्व का सिद्धांत अनेकान्त की मूल प्रकृति है।

अनेकान्त का पहला बिन्दु है– दो विरोधी युगलों के अस्तित्व का स्वीकार। इस दुनिया में जितने पदार्थ हैं, वे सब विरोधी युगल हैं। यह अनेकान्त की प्रथम स्थापना है। दर्शन शास्त्र में वस्तु को अनन्तधर्मा माना जाता है। जैन दर्शन भी वस्तु को अनंतधर्मात्मक मानता है। दूसरे दर्शन भी उसे अनंतधर्मात्मक मानते हैं । वस्तु को अनंत धर्मात्मक मानना जैन दर्शन की कोई मौलिक विशेषता नहीं है। अनंतधर्म– इसका तात्पर्य है अनन्त विरोधी युगलों का स्वीकार। यह जैन दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है। जो अनन्तधर्म हैं, वे सब विरोधी जोड़े हैं, विरोधी युगल हैं।

अनेकान्त का निष्कर्ष

प्रश्न होता है– जब सारा संसार विरोधी युगलों में समाया हुआ है तो संसार का काम कैसे चलेगा ? प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है, एक जैसा भी है, भिन्न भी है, भेदात्मक भी है अभेदात्मक भी है तो फिर विश्व की व्यवस्था कैसे चलेगी ? अनेकान्त का यह स्पष्ट अभ्युपगम है– जो विरोधी युगल नहीं होता, उसका अस्तित्व ही नहीं होता। जिसका अस्तित्व होगा, वह विरोधी ही होगा, विरोधी युगल ही होगा। अज्ञान के कारण हम इस सचाई तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। बहुत बार मनुष्य अज्ञान में होता है और वह मूल स्थिति को समझ नहीं पाता है।

किसान अपने बैलों के लिए चला जा रहा था। रास्ते में पुजारी ने घंटी बजाई। बैल भड़क उठे। किसान ने कहा– अरे ! देखता नहीं, मेरे बैल भड़क गए। पुजारी ने कहा– आरती उतार रहा हूं। किसान बोला– अब आरती उतार रहे हो, पहले ऊपर चढ़ाई ही क्यों ?

अज्ञानता के कारण मनुष्य इस सचाई को पहचान नहीं पाता कि आरती कभी चढ़ाई नहीं जाती, वह उतारी ही जाती है।

एक शाश्वत युगल : विरोध और अविरोध

हमारे साथ ऐसा ही कुछ हो रहा है। हम सचाई को पकड़ नहीं पा रहे हैं। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम मानें की दुनिया में जितना विरोध है, वह मात्र विरोध ही है तो विरोध को मिटाने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। अनेकान्तवाद का स्वीकार है– जहां-जहां विरोध है वहां-वहां अविरोध भी समाया हुआ है। विरोध और अविरोध को कभी कम नहीं किया जा सकता। यह ऐसा जोड़ा नहीं है, जो कभी कट जाता है, कभी रह जाता है। यह शाश्वत जोड़ा है, शाश्वत युगल है। न कभी पति मरता है, न कभी पत्नी मरती है और न ही कभी तलाक होता है। दोनों अमर और शाश्वत हैं। न कभी विरोध समाप्त होता है, न कभी अविरोध समाप्त होता है। दोनों निरन्तर साथ-साथ बने रहते हैं। इस स्थिति में ही सह-अस्तित्व फलित होता है। एक साथ रहना और एक साथ जीना– इसका अर्थ है, दो विरोधी एक साथ रह सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी धर्मों का सहावस्थान है। कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जिसमें आर्द्रता न हो, स्निग्धता न हो। आर्द्रता और स्निग्धता, ये सब वस्तु के धर्म हैं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें उष्णता या ताप न हो। पानी को उबाला गया, गर्म कर लिया गया। उसे क्या कहें ? वह पानी है या आग ? पानी का लक्षण है– ठंडा होना, पर यह तो उबल रहा है। इसे पानी नहीं कहा जा सकता। आग का काम है जलना तो क्या इसे आग कहा जाए ? आग भी नहीं कहा जा सकता। आग पर पानी डालें तो यह पानी गर्म होकर भी उसे बुझा देगा। आखिर इसे क्या कहा जाए ? इस प्रश्न के मंथन से निष्कर्ष निकला– जो पानी उबाल दिया गया, वह पानी भी है और आग भी है, दोनों है। वह पानी है क्योंकि वह आग को बुझा सकता है। वह आग है क्योंकि उसका शीतलता का धर्म गौण हो गया, तिरोहित हो गया, आग का धर्म प्रधान हो गया।

सह-अस्तित्व का दार्शनिक संदर्भ

जैन आगमों में एक प्रश्न आता है– रोटी भी अनाज की है, शाक भी वनस्पति का है। अब उसे क्या कहा जाए ? क्या उसे वनस्पति कहा जाए ? उत्तर दिया गया– उसे वनस्पति नहीं कहा जा सकता। वह आग भी है, वनस्पति भी है। उसे तेजस्काय कहा जाए। वह अग्नि में पकाया गया है, अग्नि के उष्ण परमाणु उसमें समाए हुए हैं। एक लोहे की छड़ को इतना तपाया गया कि वह आग का गोला बन गया। लोहा पृथ्वीकाय होता है। प्रश्न आया उस अग्निमय लोहे को पृथ्वीकाय कहा जाए या तेजस्काय कहा जाए ? उत्तर दिया गया– उसे पहले तेजस्काय कहा जाए फिर पृथ्वीकाय कहा जाए।

मूल बात है कि दुनिया में सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध जैसा कुछ भी नहीं है। विरोध और अविरोध का जोड़ा शाश्वत है, चिरंतन है। प्रत्येक पदार्थ भेद और अभेद, विरोध और अविरोध का संगम है। यह सह-अस्तित्व की चर्चा का दार्शनिक संदर्भ है।

सह-अस्तित्व के तीन सूत्र

व्यवहार के संदर्भ में सह-अस्तित्व के तीन सूत्र हैं– आश्वास, विश्वास और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभय। जैन आगम प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के सात नाम बतलाए गए हैं। वे उसके प्रत्येक पहलू को प्रकट करने वाले नाम हैं। उनमें तीन नाम हैं– आसासो, वीसासो, अभओ। सह-अस्तित्व संभव बनता है आश्वासन में। जहां आश्वासन है, एक व्यक्ति दूसरे से आश्वस्त है, कहीं भी अनाश्वासन जैसी बात नहीं है, वहां सह-अस्तित्व का विकास होता है। दूसरी बात है विश्वास की। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास हो। तीसरी बात है अभय की। व्यक्ति तभी अभय बन सकता है, जब दूसरा व्यक्ति विश्वस्त हो, विश्वासी हो। विश्वास तब जागता है जब आश्वासन मिलता है। आश्वास, विश्वास और अभय– ये तीनों जुड़े हुए हैं। जब ये तीनों स्थितियां निर्मित होती हैं, तब सह-अस्तित्व का सूत्र व्यवहार में प्रादुर्भूत होता है।

आश्वासन की नींव पर समझौता

आज एक समस्या है। अणु-अस्त्र बन रहे हैं। एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से कोई आश्वासन नहीं है। अभी कुछ वर्ष पूर्व रूस के प्रधानमंत्री मिखाइल गोर्बाच्योव और अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने प्रक्षेपास्त्रों में कमी करने का समझौता किया। वह एक आश्वासन बना। उस आश्वासन से एक विश्वास पैदा हुआ है और विश्वास से अभय का वातावरण बना है। एक भय बना हुआ था कि अणु-अस्त्रों के द्वारा न जाने कब सारे संसार का विनाश हो जाए। वह भय भी कम होना शुरू हुआ है। सह-अस्तित्व के लिए सामाजिक तीन सूत्रों का प्रयोग आवश्यक है।

अहिंसा और सह-अस्तित्व

हमने अहिंसा को एक रूप में जाना है। अहिंसा यानी किसी को न मारना, किसी को न सताना। जब तक सह-अस्तित्व की भावना का विकास नहीं होता तब तक अहिंसा का अर्थ पूरा समझ में नहीं आता। एक साथ रहना है और एक साथ जीना है तो आश्वास, विश्वास और अभय के वातावरण का निर्माण करना होगा। हमारी अहिंसा, आपकी अहिंसा प्राणी मात्र के साथ जुड़े यह आवश्यक है। किसी को नहीं मारना बहुत अच्छी बात है। इस अवधारणा में भी एक अन्तर आया है कि और किसी को नहीं मारना, किन्तु मनुष्य को मारा जा सकता है, सताया जा सकता है। उसमें भी निकट का व्यक्ति अधिक उपेक्षित बन गया है, यानी अपना पड़ोसी, अपना परिवार, अपना समाज, अपना राष्ट्र– सबकी उपेक्षा हो सकती है। मनुष्य की उपेक्षा और प्राणीमात्र की अपेक्षा– अहिंसा का यह एक रूप बन गया है। प्राणी मात्र को नहीं सताना– इस धारणा को गलत नहीं कहा जा सकता। यह बहुत आवश्यक है, किन्तु प्रारंभ कहां से हो, अहिंसा का प्रारंभ कहां से करें, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

अहिंसा : वर्तमान मानस

अहिंसा के दो रूप हैं– स्वाभिमुखी अहिंसा और सामाजाभिमुखी अहिंसा। क्रोध, अहंकार, भय, घृणा और द्वेष– इन सबको कम करना स्वाभिमुखी अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। समाज के किसी भी व्यक्ति का शोषण नहीं करना, लूट-खसोट नहीं करना, पीड़ा नहीं पहुंचाना, आघात नहीं करना, हीन भावना पैदा नहीं करना आदि-आदि समाजाभिमुखी अहिंसा है।

आज समाजाभिमुखी अहिंसा की ओर ध्यान बहुत कम है। स्वाभिमुख अहिंसा की ओर भी ध्यान केन्द्रित नहीं है। केवल छोटे प्राणियों की ओर अभिमुख अहिंसा ही ज्यादा चल रही है। चींटी को नहीं सताना, नहीं मारना उसका एक निदर्शन बन सकता है। एक चींटी मर जाए तो मन में थोड़ी ग्लानि होती है। यदि मनुष्य का शोषण हो जाए, उत्पीड़न हो जाए तो शायद उतनी चिंता नहीं होती। किसी का गला काटने पर भी संभवत: इतना प्रकंपन नहीं होता जितना एक चींटी को मार देने पर हो जाता है।

जातिवाद : सह-अस्तित्व में बाधक

इस स्थिति में सह-अस्तित्व के सिद्धांत को विकसित करना बहुत जरूरी है। "सब मनुष्य समान हैं" यह अहिंसा का एक- आधारभूत सिद्धांत है। मनुष्य जाति एक है- इस स्वर की उपेक्षा से मानव समाज का विकास अवरुद्ध हुआ है। जातिवाद और संप्रदायवाद ने सह-अस्तित्व को बहुत हानि पहुंचाई है। यह मान लिया गया कि कुछ मनुष्य जन्मना ऊंचे होते हैं और कुछ मनुष्य जन्मना नीचे होते हैं। इस धारणा ने सह-अस्तित्व के सिद्धांत को चूर-चूर कर दिया। एक गांव जो बसेगा, उसमें बड़े लोग तो गांव के मध्य में रहेंगे और हरिजन गांव के छोर पर रहेंगे। अन्त्य कुल में पैदा हुए हैं अत: अंत में ही रहेंगे, एक साथ नहीं रह सकते, एक साथ नहीं बस सकते। उन्हें साथ में रहने का अधिकार नहीं। इस जातिवाद ने उच्च माने जाने वाले लोगों में अहंकार को बढ़ावा दिया और निम्न माने जाने वाले लोगों में हीनभावना को जन्म दिया। जहां अहंकार और हीन-भावना होती है, वहां सह-अस्तित्व नहीं हो सकता। जहां सह-अस्तित्व नहीं होता, वहां अहिंसा नहीं हो सकती। जहां सह-अस्तित्व नहीं होता, वहां अनेकान्त नहीं हो सकता। अनेकांत का दर्शन है- प्रत्येक वस्तु को अनेक पहलुओं से जानो, देखो और समझो। हमने एकांगी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया, जिससे अनेक समस्याएं उलझ गईं।

व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्नता क्यों ?

उपयोगिता के लिए विद्या की अनेक शाखाएं बनीं। मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि अनेक शाखाएं विकसित हुई और उनके निर्णय भी अनेक रहे हैं। एक समाजशास्त्री कहेगा- वर्तमान समस्या का मूल कारण यह समाजशास्त्र है। एक अर्थशास्त्री कहेगा- वर्तमान समस्या का मूल कारण आर्थिक विषमता है। अलग-अलग दृष्टिकोण है प्रत्येक विद्याशास्त्र का। यदि हम एक व्यवस्था के आधार पर निर्णय लेंगे तो हमारा निर्णय गलत होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्नता है लेकिन क्यों ? एक आनुवंशिकी वैज्ञानिक कहेगा- मनुष्य में जो यह अंतर है, भेद है, उसका कारण है आनुवंशिकता। फिर एक चिन्तन आया कि मनुष्य-मनुष्य में जो अन्तर आया है, उसका कारण है- पर्यावरण, वातावरण। एक और सिद्धांत प्रस्तुत हुआ- मनुष्य-मनुष्य में जो अन्तर है, वह जीन के कारण है। किसी तर्कशास्त्री से पूछा जाए तो वह कहेगा- तर्क के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर आता है।

अनेकान्त कहता है- किसी एक दृष्टिकोण से अर्थ मत निकालो। सही निर्णय करना हो तो सब को साथ में मिलाओ। आनुवंशिकता भी एक कारण बन सकता है, वातावरण भी एक कारण हो सकता है, जीव भी एक कारण बन सकता है, तर्क भी एक कारण हो सकता है। इन सब कारणों को मिलाया जाए और उससे जो निष्कर्ष निकलेगा, वह सही होगा। सही निर्णय के लिए समग्र दृष्टिकोण का होना आवश्यक है।

सब मनुष्य समान हैं

'सब जीव समान हैं और मनुष्य जाति एक है'- सह-अस्तित्व को व्यापक रूप देने के लिए इस धारणा की व्यापक प्रतिष्ठा आवश्यक है। सब जीव समान हैं- यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु इसे एक बार छोड़ भी दें। सब मनुष्य समान हैं- उनमें कोई शाब्दिक या मौलिक अन्तर नहीं है। यदि इस भावना को पुष्ट बनाया जाए तो सह-अस्तित्व को एक व्यावहारिक रूप मिल सकता है। यदि यह भावना पुष्ट नहीं बनी तो जातिवाद की समस्या, रंगभेद की समस्या और संप्रदायवाद की समस्या हमेशा प्रस्तुत रहेगी और सह-अस्तित्व का सिद्धांत व्यवहार के स्तर पर फलित नहीं हो सकेगा।

भाषाई आधार पर प्रान्तों का बंटवारा : एक बड़ी भूल

प्रश्न हो सकता है कि क्या यह असंभव है ? क्या इस भावना की व्यक्ति-व्यक्ति के दिमाग में प्रतिष्ठा हो सकती है ? प्रशिक्षण के द्वारा इस कार्य को संभव बनाया जा सकता है। ऐसा लगता है- अतीत में भेद को ज्यादा मूल्य दिया गया और उसकी परिणति बिखराव में हुई। बंटवारे की बात को मूल्य अधिक मिला, एकता की बात गौण हो गई। जाति के आधार पर, भाषा के आधार पर और संप्रदाय के आधार पर विभाजन को बल मिला। भाषाई आधार पर प्रान्तों का निर्माण कर हिन्दुस्तान ने सबसे बड़ी भूल की। इन भाषाई बंटवारे ने समस्या को जन्म दिया है। यदि भाषाई आधार पर प्रान्तों का निर्माण नहीं होता तो बहुत सारे झगड़े नहीं होते। जातीयता के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था हिन्दुस्तान की एक बड़ी भूल है। यदि जातीयता के आधार पर आरक्षण की बात नहीं होती तो बहुत सारी समस्याएं नहीं उलझतीं।

भेद : अभेद

भेद हमारी उपयोगिता है- इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। कोई भी आदमी रोटी खाएगा तो तोड़-तोड़कर खाएगा। एक साथ नहीं खाएगा। यदि एक साथ खाएगा तो उसे ग्रामीण कहा जाएगा। वह सभ्य नहीं कहलाएगा। उपयोगिता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए तोड़ना जरूरी है। आकाश अखण्ड है। एक मकान बना, अकाश विभक्त हो गया। मकान बनाने का अर्थ है– आकाश को तोड़ देना, बांट देना। जहां कहीं छत बनी, आकाश बंट गया। तर्कशास्त्र के बहु प्रचलित शब्द हैं घटाकाश, पटाकाश। ये भेद हमारी उपयोगिता से निर्मित हुए हैं। किन्तु हमने भेद को अधिक प्रधानता दी और अभेद को बिलकुल भुला दिया। अनेकान्त ने कहा– जब भेद को प्रधानता दो तो अभेद को गौण कर दो। जब अभेद को प्रधानता दो तो भेद को गौण कर दो। भेद और अभेद को भुलाओ मत। दोनों आंखें बराबर खुली रहें, भेद और अभेद– दोनों का दर्शन एक साथ चलता रहे। अगर यह अनेकान्त का सामूहिक दर्शन चलता है तो समन्वय का दृष्टिकोण पनपता है, सह-अस्तित्व को बल मिलता है।

अहिंसा का प्राणभूत सिद्धांत

सह-अस्तित्व का सिद्धांत विश्व शांति की समस्या का बहुत बड़ा समाधान है। सह-अस्तित्व का सिद्धांत अहिंसा का प्राणभूत सिद्धांत है। इस कथन में भी कोई अतिरंजना नहीं लगती कि सह-अस्तित्व के बिना अहिंसा सफल नहीं, अहिंसा के बिना सह-अस्तित्व सफल नहीं। सह-अस्तित्व और अहिंसा– दोनों को बांटा नहीं जा सकता। किन्तु आज हमारी बुद्धि इतनी भेद प्रधान बन गई है कि उसमें अभेद की बात को जोड़ना एक प्रश्न बना हुआ है। इन वर्षों में वैज्ञानिक परीक्षणों ने अनेक अवधारणाओं को बदल डाला। अतीत की पीढ़ी के किसी व्यक्ति से पूछा जाए– सूरज घूमता है या पृथ्वी ? उसका उत्तर होगा– सूरज घूमता है, पृथ्वी स्थिर है वर्तमान विद्यार्थी इसी प्रश्न के उत्तर में कहेगा– पृथ्वी घूमती है, सूरज स्थिर है। यह एक बड़ा परिवर्तन है। प्राचीन व्यक्ति बीमारी का कारण बतलाएगा– वात, पित्त और कफ का वैषम्य। वर्तमान में कहा जाएगा– बीमारी किसी कीटाणु का परिणाम है वैज्ञानिक क्षेत्र में निरन्तर चल रहे प्रयोग और परीक्षणों से बहुत कुछ असंभव लगने वाली बातें संभव बनी हैं। सह-अस्तित्व का व्यक्ति-व्यक्ति की चेतना में अवतरण असंभव नहीं है किन्तु वह प्रयोग और प्रशिक्षण साध्य है। आज तक सह-अस्तित्व के विकास की दृष्टि से आवश्यक प्रयोग और प्रशिक्षण– दोनों नितांत उपेक्षित रहे हैं

भेद है उपयोगिता : अभेद है वास्तविकता

सह-अस्तित्व को व्यावहारिक बनाने की दिशा में सोचें तो यह दर्शन स्पष्ट होगा कि मनुष्य में भेद भी है, अभेद भी है। भेद यदि उपयोगिता है तो अभेद वास्तविकता है। एक जाति है ब्राह्मण। यह एक उपयोगिता है। ओसवाल एक जाति है और उसकी अपनी उपयोगिता है। अमुक आदमी सुजानगढ़ का है, अमुक आदमी लाडनूं का है– यह भी एक उपयोगिता से उपजा भेद है। किन्तु जब बच्चा जन्म लेता है तब न वह ब्राह्मण होता है, न वह ओसवाल होता है, न वह किसी गांव का होता है। न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह हिन्दू होता है, न वह मुसलमान होता है। बच्चा केवल बच्चा होता है। यह कह सकते हैं कि बच्चा मां-बाप से आनुवंशिक संस्कार लेकर आता है। भगवती सूत्र में बतलाया गया- बच्चा तीन अवयव माता से लेकर आता है, तीन अवयव पिता से लेकर आता है। आनुवंशिकता के साथ भी यह बात जुड़ती है। ये भेद निर्मित हुए थे उपयोगिता के लिए, किन्तु उन्हें वास्तविक मान लिया गया और यही मान्यता समस्याओं के उलझाव का कारण बनी। आज कहीं एक अन्तर्जातीय विवाह होता है, समाज में हलचल मच जाती है। एक राष्ट्र का आदमी दूसरे राष्ट्र में चला जाता है तो दंडित भी हो जाता है, बिना वीसा के वह प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। उपयोगिता को ही इतना अभेद मान लिया गया कि कहीं अभेद रहा ही नहीं।

इस सह-अस्तित्व के सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने के लिए सतत प्रशिक्षण की जरूरत है। प्रारंभ से ही एक छोटे बच्चे को प्रशिक्षण दिया जाए कि साथ में रहना है, साथ में जीना है, साथ में पढ़ना है और श्वास भी साथ में लेना है। इस बात का गहरा प्रशिक्षण हो तो सामाजिक जीवन की जो सबसे बड़ी समस्या है, जो भेदात्मक और विरोधात्मक समस्या है, उसका समाधान खोजा जा सकता है।

समाज का मूल आधार : सह-अस्तित्व

अहिंसा का एक दूसरा नाम है- समृद्धि। समृद्धि नाम धन का भी है। अध्यात्म जगत् में समृद्धि नाम है अहिंसा का। समाज के दो रूप बनते हैं- स्वस्थ समाज और रुग्ण समाज। उसका दूसरा संदर्भ है- समृद्ध समाज और दरिद्र समाज। वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में समाज की स्थिति का निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि वर्तमान समाज स्वस्थ समाज नहीं है, रुग्ण समाज है। वर्तमान समाज समृद्ध नहीं है, दरिद्र है। समाज का मूल आधार है- सह-अस्तित्व। जिस समाज में उसका विकास नहीं होता, उसे स्वस्थ और समृद्ध समाज नहीं कहा जा सकता। स्वास्थ्य के लिए कितनी ही योजनाएं चलें, कितना ही औद्योगिक विकास हो जाए, कितना ही व्यावसायिक विकास हो जाए और कितनी ही संपदा बढ़ जाए किन्तु जब तक सह-अस्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं है, समाज समृद्ध नहीं हो सकता।

समस्या है परस्परता का अभाव

आचार्य उमास्वाति का एक सूत्र है- "परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" सह-अस्तित्व के संदर्भ में यह सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न था- जीवों का उपकार क्या है? उत्तर दिया गया- परस्परता की अनुभूति। जहां स्वामी-सेवक और मालिक-नौकर का भेद आता है वहां झगड़ा होता है। जहां गुरु-शिष्य का भेद आएगा वहां भी झगड़ा होगा। जहां अधिकारी और कर्मचारी का भेद है, वहां भी झगड़ा होता है। झगड़ा होना एक समस्या है। इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया- यह स्तर का भेद हो सकता है किन्तु यदि उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीछे परस्परता का सूत्र होता है तो भेद समस्या नहीं बनता। स्वामी काम लेना चाहता है और नौकर काम करना नहीं चाहता। यह समस्या परस्परता के अभाव में पनपती है। नौकर चाहता है, काम कम से कम करूं और पैसा अधिक से अधिक लूं। मालिक चाहता है, अधिक से अधिक काम लूं और कम से कम पैसा दूं। उनमें परस्परता की अनुभूति नहीं है। औद्योगिक जगत् में, व्यावसायिक जगत् में, शिक्षा के जगत् में– सब जगह झगड़ा चल रहा है और इसका कारण है– परस्परता की कमी।

परस्परता की अनुभूति होने का अर्थ यह नहीं है कि स्वामी-सेवक का संबंध समाप्त हो जाए। उसका अर्थ है– स्वामी-सेवक के संबंध का दृष्टिकोण बदल जाए। परस्परता की अनुभूति का सूत्र विकसित होने पर एक स्वामी सोचेगा– उचित दाम दूं और उचित काम लूं। ठीक प्रकार से इसका भरण पोषण हो सके– यह व्यवस्था मुझे करनी है। नौकर का दृष्टिकोण होगा– मैं उचित ढंग से काम करूं। जितना काम करूं उससे ज्यादा पाने की चेष्टा न करूं। यह परस्परता की अनुभूति का परिणाम है।

जरूरी है प्रशिक्षण और प्रयोग

परस्परता की अनुभूति, मानवीय एकता की अनुभूति, आश्वास, विश्वास और अभय– ये हैं सह-अस्तित्व के आधार सूत्र। जब ये शिक्षा के अंग बनेंगे, सह-अस्तित्व का वातावरण बनेगा। जब सह-अस्तित्व का विकास होगा तब सामाजिक जीवन की समस्याओं का समाधान स्वत: उपलब्ध होगा। केवल बातों से या कुछेक वक्तव्यों से समस्या का समाधान खोजना चाहें, करना चाहें तो वह संभव नहीं है। इसके लिए प्रशिक्षण की गहरी जड़ों तक पहुंचना होगा। वहां पहुंचकर ही सामाजिक जीवन की जो सबसे बड़ी समस्या है, विरोध और भेद की समस्या है, उसका समाधान पाया जा सकता है।

4.2. आर्थिक जीवन और सापेक्षता

जीवन के अनेक पहलुओं में आर्थिक पहलू संभवत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक जटिल है। आर्थिक जीवन– यह वाक्य अनेक शब्दों की परिक्रमा कर रहा है। उसके दस पहलू हैं–

1. इच्छा	6. शोषण
2. आवश्यकता	7. अपराध
3. उपार्जनवृत्ति	8. हिंसा
4. स्वामित्व	9. अशांति
5. भोग	10. युद्ध

इच्छा : प्राणी का लक्षण

आर्थिक जीवन का पहला पहलू है– इच्छा। प्रत्येक प्राणी के साथ जुड़ी हुई जो सबसे पहली समस्या है वह है इच्छा। इच्छा प्राणी का एक लक्षण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्राणी और प्राणी में भेदरेखा खींचने का सबसे पहला माध्यम है– इच्छा। अप्राणी में इच्छा नहीं होती। जिनमें मानसिक चेतना नहीं होती, उनमें भी इच्छा होती है। वनस्पति के जीव अविकसित हैं, उनमें भी इच्छा होती है। इच्छा जीव का ऐसा सामान्य लक्षण है जो अत्यंत अविकसित जीव से लेकर विकसित जीव तक– सबमें उपलब्ध होता है। इच्छा जीव का लक्षण है तो इच्छा एक समस्या भी है। जब इच्छा असीम बन जाती है, तब वह स्वयं एक समस्या का रूप ले लेती है।

असीम इच्छा : एक समस्या

पति ने पत्नी से पूछा– क्या तुम्हें कभी अपनी बात पर भी गुस्सा आता है?

पत्नी ने कहा– आता है।

पति– कब आता है ? क्यों आता है ?

पत्नी– जब मैं तुम्हें साड़ी खरीदने के लिए कहती हूं और तुम तत्काल खरीद देते हो, तब मुझे अपनी बात पर बड़ा गुस्सा आता है।

पति– मैं इस बात को नहीं समझ सका। गुस्सा तो तब आना चाहिए जब मनचाही वस्तु नहीं मिलती। जब तुम्हारी मनचाही बात हो जाती है, तब गुस्सा क्यों आता है?

पत्नी ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा– उस समय मैं सोचती हूं, मैं कितनी मूर्ख हूं। मैंने मात्र साड़ी के लिए ही क्यों कहा, मैंने जेवर के लिए क्यों नहीं कहा ? और मुझे अपनी ही बात पर गुस्सा और खीज आने लग जाती है।

जब इच्छा असीम बनती है, व्यक्ति समस्या से घिर जाता है। यह इच्छा न जाने कितनी भावनाएं, कितनी वृत्तियां और कितनी समस्याएं पैदा करती है।

मार्क्सवाद की उत्पत्ति का मूल बीज

आर्थिक जीवन का दूसरा पहलू है– आवश्यकता। जीवन के साथ आवश्यकता जुड़ी हुई है। कोई भी व्यक्ति आवश्यकता विहीन जीवन नहीं जी सकता। रोटी की आवश्यकता, पानी की आवश्यकता, कपड़ों की आवश्यकता, मकान की आवश्यकता, दवा की आवश्यकता। कोई अन्त नहीं आवश्यकताओं का। उसकी तालिका इतनी लम्बी है कि आज तक कोई भी उस तालिका को बना नहीं पाया और शायद वह बनाई भी नहीं जा सकती।

जब आदमी इच्छा से संचालित होता है तब कृत्रिम आवश्यकताएं भी बहुत पैदा हो जाती हैं। मार्क्सवाद– आज बहुत प्रसिद्ध राजनीतिक प्रणाली बन गया है। उसकी उत्पत्ति के मूल में आवश्यकता का बीज था। मार्क्स ने देखा– उसका लड़का भूख से तड़पते हुए प्राण छोड़ रहा है। उसके मन में प्रश्न उठा– भूख क्या है ? क्या इसी के द्वारा सब कुछ संचालित हो रहा है ? इस प्रश्न की खोज में एक नया अर्थशास्त्र प्रस्फुटित हो गया। मार्क्सवाद– राजनीति की नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्यवादी प्रणाली विकसित हो गई। कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से मुक्त नहीं हो सकता। कोई भी शरीरधारी प्राणी आवश्यकता विहीन नहीं हो सकता।

उपार्जन और स्वामित्व

आर्थिक जीवन का तीसरा पहलू है– उपार्जनवृत्ति। मनोविज्ञान ने कुछ मौलिक मनोवृत्तियां मानी हैं। उनमें एक है– उपार्जनवृत्ति। मनुष्य में उपार्जन करने की वृत्ति होती है। मनुष्य में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में यह वृत्ति उपलब्ध है। वह प्रकृति से ही उपार्जन करता है।

इस मौलिक मनोवृत्ति का संवेग है– स्वामित्व की भावना, अधिकार की भावना। प्राणी केवल उपार्जन ही नहीं करता किन्तु उस पर अपना स्वामित्व जताता है, अधिकार करता है। आर्थिक जीवन का चौथा पहलू है– स्वामित्व की भावना।

भोग : परिग्रह का फल

आर्थिक जीवन का पांचवां पहलू है– भोग। आर्थिक जीवन के साथ भोग की बात जुड़ी हुई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में एक रूपक के माध्यम से परिग्रह का वर्णन किया गया है। पूछा गया, परिग्रह का जो एक पेड़ है, उसका फल क्या है ? उत्तर दिया गया– काम-भोग उसके पुष्प-फल हैं। यदि भोग की बात न हो, भोग की आसक्ति न हो तो आर्थिक जीवन बदल जाए। भोगासक्ति के कारण आर्थिक जीवन और अधिक जटिल बन जाता है।

आर्थिक जीवन का एक पहलू : शोषण

आर्थिक जीवन का छठा पहलू है– शोषण। मनुष्य अधिक पाने का प्रयत्न करता है, इसलिए वह दूसरे का शोषण करता है। अधिक पाना है तो दूसरे का शोषण करना ही होगा। कहा जाता है– व्यक्ति न्यायोचित तरीके से कमाए, अपनी जीविका चलाए, दूसरे का शोषण न करे। जैन आगमों में कहा गया है– एक त्यागी आदमी धर्म के द्वारा अपनी जीविका का संचालन करता है। नीतिशास्त्र का शब्द है– 'न्याय' और धर्मशास्त्र का शब्द है– 'धम्मेण वित्तिं कप्पेमाणा।' जहां न्यायोचित तरीके से या धर्म की दृष्टि से उपार्जन की बात छूट जाती है, वहां शोषण पनपता है।

कर्मवाद : एक अवधारणा

हिन्दुस्तान में एक आम धारणा है कि गरीब आदमी अपने कर्म से गरीब बनता है और अमीर आदमी अपने कर्म से अमीर बनता है। जिसने अच्छा कर्म किया है, वह धनवान बनता है, अमीर बनता है, जिसने बुरा कर्म किया है, वह धनहीन बनता है, गरीब बनता है। इस धारणा ने आर्थिक समस्या को अधिक जटिल बनाया है। इससे आर्थिक समस्या उलझी है। एक आदमी कमाता चला जाता है। वह सोचता है– मैंने अच्छे कर्म किए हैं, अच्छा कार्य किया है इसलिए अच्छा पैसा मिल रहा है। इस भावना के आधार पर वह निरपेक्ष हो जाता है, समाज की अपेक्षा नहीं रखता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरीबों में भी यह धारणा व्यापक बनी हुई है। बहुत सारे गरीब इसी धारणा के आधार पर अपना शांत जीवन चला रहे हैं। वे कहते हैं– हमने पूर्व जन्म में ऐसी ही कर्म किए हैं, अतः उन्हें भुगत रहे हैं। बहुत बार प्रश्न होता है कि हिन्दुस्तान में आर्थिक क्रांति क्यों नहीं हुई ? इतनी गरीबी होने के बाद भी साम्यवाद क्यों नहीं फैला ? उसका एक अवरोधक कारण है। यहां के आम आदमी के मन में एक धारणा जमी हुई है कि गरीबी मेरे कर्म का फल है, भाग्य का फल है। यदि यह धारणा नहीं होती तो शायद आज से पहले ही रक्तक्रांति का प्रश्न प्रस्तुत हो जाता। इस धारणा ने एक रुकावट पैदा कर रखी है। शोषण के साथ भी यह भाग्यवादी या कर्मवादी अवधारणा जुड़ी हुई है।

अपराध का कारण : आर्थिक असंतुलन

आर्थिक जीवन का सातवां पहलू है– अपराध। मनोविज्ञान में अपराध के अनेक कारण बतलाए गए हैं। उनमें एक है– आर्थिक असंतुलन। आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती हुई स्पर्धा ने अपराध को पनपने का अवसर दिया है। एक आदमी दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है। अर्थ की इस स्पर्धा से अपराध को पल्लवन मिला है। एक बड़े उद्योगपति से व्यक्तिगत बातचीत में मैंने पूछा– तुमने इतना अत्याचार क्यों किया? इतने अतिक्रमण क्यों किए ? इतने जघन्य काम क्यों किए ? इतने अपराध क्यों किए ? उसने बहुत साफ-साफ कहा– जब मैं उद्योग में सफल होता गया तो मेरे मन में एक भावना जागी। मैंने निर्णय किया– मुझे हिन्दुस्तान का प्रथम नम्बर का उद्योगपति बनना है। इस भावना ने मुझसे ये सारे अपराध करवाए।

आर्थिक प्रतियोगिता ने अपराध को जन्म दिया है और इस आर्थिक प्रतियोगिता के कारण ही नैतिक-अनैतिक जैसी अवधारणाएं ही समाप्त हो गई हैं। कोई भी आदमी अनैतिक आचरण करने में सकुचाता नहीं। उसके दिमाग में केवल यही बात घूमती है कि मैं सबको पीछे छोड़कर आगे चला जाऊं।

निर्धनता भी अपराध का कारण

निर्धनता भी अपराध का कारण है। गरीबी के कारण भी आदमी अपराध करता है। सारे निर्धन या गरीब आदमी अपराध नहीं करते। निर्धन आदमी बड़े ईमानदार और नैतिक होते हैं किन्तु अपराध का एक कारण निर्धनता या गरीबी भी है, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। अपराध का एक कारण बेरोजगारी है। रोजी-रोटी का कोई साधन उपलब्ध नहीं होता है तो व्यक्ति अपराध में चला जाता है।

एक चोर से पूछा गया– तुम चोरी क्यों करते हो ? उसने कहा– चोरी करना मेरी आदत नहीं है। मैं चोरी करना भी नहीं चाहता। किन्तु कोई रोजगार का साधन नहीं है, कोई काम-धंधा नहीं मिल रहा है। इस स्थिति में मैं क्या करूं ? बाल-बच्चों का भरण-पोषण कैसे हो ? यह बेरोजगारी मुझसे चोरी करवाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपराध : बिना श्रम किए पाने की मनोवृत्ति

अपराध का एक कारण है–लालच। मनुष्य में लालच है, बहुत पाने की इच्छा है। वह श्रम कम करना चाहता है, धन अधिक पाना चाहता है। इस मनोवृत्ति से अपराध को बढ़ावा मिलता है। अपराध यानी बिना श्रम किए पैसा पाने की मनोवृत्ति। दुकान में बैठकर कमाने में काफी श्रम करना पड़ता है। अनेक व्यक्ति मिलकर अपना गिरोह बना लेते हैं, डकैती करते हैं, डाका डालते हैं। जो धन दुकानदार को साल भर के सतत परिश्रम से मिलता है, उसे वे एक ही रात में पाने की कोशिश करते हैं या ऐसी गुप्त सूचनाएं एकत्र करते हैं और उसे विरोधी सरकार तक, संबद्ध व्यक्ति तक पहुंचा देते हैं ताकि लाखों-करोड़ों रुपए एक साथ मिल जाए। हेरोइन आदि मादक वस्तुओं का धंधा भी बिना श्रम किए पैसा पाने का एक उपाय है। बिना श्रम किए सीधा धन प्राप्त करने की इस मनोवृत्ति से अपराध को एक नया आयाम मिला है।

आज मनुष्य की आवश्यकताएं निरंतर बढ़ती जा रही हैं। उनकी कोई सीमा रेखा नहीं है। यह अति आवश्यकता भी अपराध का एक कारण है।

हिंसा क्यों ?

आर्थिक जीवन का आठवां पहलू है– हिंसा। परिग्रह और हिंसा को अलग नहीं किया जा सकता। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जैन आगमों में प्रश्नव्याकरण, आचारांग, सूत्रकृतांग आदि में इस पर बहुत विमर्श हुआ है कि आदमी हिंसा क्यों करता है ? इस संदर्भ में "वह पाने के लिए" "वह पाने के लिए" इस शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। आदमी हड्डियों के लिए हिंसा करता है, सींगों के लिए हिंसा करता है, दांतों के लिए हिंसा करता है। पहले मैं सोचता था कि हिंसा के लिए इतने नाम क्यों गिनाए गए, इतना विस्तार क्यों दिया गया ? किन्तु आज जब हिंसा के कारणों की मीमांसा सामने आती है, तब यह विस्तार बहुत सार्थक लगता है।

परिग्रह के लिए हिंसा

आज गैंडा जाति समाप्त हो रही है। सींग के लिए गैंडों को मारा जा रहा है। गैंडों का सींग बहुत कीमती है। उसके बदले में अपार विदेशी मुद्रा मिल जाती है। गैंडे के मारे जाने पर प्रतिबंध है फिर भी उनकी हत्या के प्रयत्न निरंतर चल रहे हैं। आज कस्तूरी-मृग दुर्लभ हो रहे हैं। कस्तूरी के लिए उन्हें मारा जा रहा है। हाथी दांतों के लिए मारे जा रहे हैं। बहुत सारे बाघ और चीते खाल के लिए मारे जा रहे हैं। यह व्यवसाय बहुत व्यापक बन गया है। आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए ये सारे अपराध हो रहे हैं।

परिग्रह हिंसा का मुख्य हेतु है। हिंसा परिग्रह के लिए है या 'हिंसा-हिंसा के लिए है'। यदि इस प्रश्न की समीक्षा की जाए तो "हिंसा हिंसा के लिए" इसे कम अंक मिलेंगे और "हिंसा परिग्रह के लिए" इसे अधिक अंक मिलेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशांति : अभाव और अतिभाव

आर्थिक जीवन का नौवां पहलू है– अशांति। आज की जागतिक समस्या है अशांति। अर्थ का अभाव है तो भी अशांति और अर्थ है तो भी अशांति। दोनों ओर से अशांति बढ़ रही है। जिनके पास अर्थ नहीं है, उनमें अशांति स्वाभाविक है। प्रातःकाल ही उनके सामने प्रश्न आता है कि रोटी कहां से आएगी ? नाश्ता कहां से आएगा ? बच्चे स्कूल कैसे जाएंगे ? रोटी की समस्या अशांति का कारण बन जाती है। जिन लोगों के पास अर्थ की अधिकता है, वे भी अशांत है। प्राप्त धन की कैसे सुरक्षा की जाए, उसे कैसे बचाया जाए ? कैसे रखा जाए ? करों से कैसे बचाया जाए? आज किसी पर भरोसा नहीं किया जा सकता। उसे कहां रखा जाए ? ये प्रश्न मनुष्य को निरंतर अशांत बनाए रखते हैं। आज वकीलों और आर्थिक सलाहकारों की इतनी भीड़ लग गई, चार्टेड एकाउन्टेंटों की इतनी लम्बी कतार खड़ी हो गई, फिर भी अर्थ को पूरा बचाने की बात शायद उसकी समझ में नहीं आती।

पहली समस्या है आर्थिक

आर्थिक जीवन का दसवां पहलू है– युद्ध। आर्थिक प्रणाली के आधार पर युद्ध की समस्या भी सामने आती है। हम विश्व शांति, निःशस्त्रीकरण, युद्धवर्जन इन सारे पहलुओं पर चिंतन करें तो सबसे पहले आर्थिक जीवन की बात आएगी। युद्धवर्जन, निःशस्त्रीकरण, शस्त्रीकरण– इन सबका स्थान दूसरा या तीसरा होगा। पहली बात होगी– आर्थिक समस्या को कैसे सुलझाया जा सकता है ? उसका समीकरण कैसे किया जा सकता है ? यह एक बहुत जटिल प्रश्न है।

आर्थिक जीवन के ये दस पहलू हैं। इन दस शब्दों की परिधि में घूम रहा है आर्थिक जीवन ।

समस्या का एक पहलू है कि समस्या तो है, पर उसका समाधान क्या हो सकता है ? आर्थिक समस्या के समाधान के लिए साम्यवाद की प्रणाली का सूत्रपात हुआ। साम्यवादी प्रणाली ने इस आशा को जन्म दिया कि गरीबी मिट जाएगी, जीवन हल्का हो जाएगा, किन्तु ऐसा लगता है उससे गरीबी मिटी नहीं, समस्या का बोझ हल्का नहीं हुआ।

डाक्टर के पास रोगी आया। वह एक सप्ताह से दवा ले रहा था। डाक्टर ने उसे देखा और बोला– भाई ! मैंने इतनी दवाइयां दी हैं। लगता है अब तुम्हारी तबीयत हल्की हो गई है। रोगी ने कहा– डॉक्टर साहब ! तबियत तो हल्की नहीं हुई है, जेब अवश्य हल्की हो गई है।

समाधान का सूत्र : सापेक्षता

आर्थिक जीवन से दिमाग पर एक भारीपन, एक बोझ आ गया है। वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हल्का नहीं हो रहा है। प्रश्न है उसमें हल्कापन कैसे आ सकता है ? इस आर्थिक समस्या का समाधान क्या है ? समाधान की चर्चा के संदर्भ में एक शब्द सामने आता है सापेक्षता। अनेकान्त का एक सूत्र है– सापेक्षता। मुझे लगता है– वर्तमान आर्थिक समस्या का सापेक्षता एक समाधान बन सकता है। सापेक्षता का प्रयोग दार्शनिक क्षेत्र में बहुत हुआ है। जैन आचार्यों ने दार्शनिक विरोधों को मिटाने में इस सिद्धांत का व्यापक उपयोग किया। सामान्य बात पूछी गई– यह अंगुली छोटी है या बड़ी। इसका सापेक्ष उत्तर दिया गया– अंगुली छोटी भी है, बड़ी भी है। तीसरी बड़ी अंगुली की अपेक्षा से यह छोटी है। पहली या चौथी अंगुली की अपेक्षा से यह बड़ी है। सापेक्षता को समझाने के लिए एसे अनेक निदर्शन दिए गए हैं। प्रश्न किया गया– यह रेखा छोटी है या बड़ी। इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि रेखा के पास एक छोटी रेखा खींचे तो कहा जा सकता है कि रेखा बड़ी है। यदि बड़ी रेखा खींच दी जाए तो कहा जा सकता है कि यह रेखा छोटी है। अपेक्षाकृत दूरी और अपेक्षाकृत निकटता। सापेक्षता के द्वारा ही सम्यक् समाधान संभव बन सकता है।

महर्षि कुत्स के हाथ में एक कमण्डलु था। उन्होंने शिष्य से पूछा– बताओ, यह खाली है या भरा हुआ है। आधा पानी था उसमें। अब क्या उत्तर दे। शिष्य उलझन में पड़ गया। गुरु से ही रहस्य बताने का अनुरोध किया। महर्षि ने कहा– खाली भी है, भरा हुआ भी है। आधा पानी है, इसलिए खाली नहीं है। कमंडलु पूरा भरा हुआ नहीं है, इसलिए खाली भी है। यह है सापेक्षता।

सापेक्षवाद : नया संदर्भ

जैन दर्शन के सापेक्षता के सूत्र ने अनेक समस्याओं को सुलझाया है। दूसरे दर्शनों ने भी यत्किंचित् इस सिद्धांत का उपयोग किया है। इस युग के महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने गणित की अनेक समस्याओं का अपेक्षा के द्वारा हल प्रस्तुत किया और एक नया अपेक्षावाद विश्व के सामने अभिव्यक्त किया। अनेकान्तवाद का जो अपेक्षावाद था उसे वैज्ञानिक जगत् में एक नया संदर्भ मिल गया। वर्तमान आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में सापेक्षवाद का प्रयोग किया जाए तो उसे एक और नया आयाम मिल जाएगा।

अध्यात्म की सापेक्षता

सापेक्षवाद के दो पहलू हैं– अध्यात्म–सापेक्ष और समाज–सापेक्ष। भगवतीसूत्र में एक प्रसंग है– एक मुनि अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं करता। इसका कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं– वह मुनि पृथ्वीकाय की अपेक्षा रखता है, अप्काय के जीवों की अपेक्षा रखता है। तेजस्काय के जीवों की अपेक्षा रखता है। वायुकाय के जीवों की अपेक्षा रखता है। वनस्पतिकाय के जीवों की अपेक्षा रखता है। त्रसकाय के जीवों की अपेक्षा रखता है। इसलिए वह अपने लिए बना हुआ भोजन नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अपेक्षा अध्यात्मवाद की सापेक्षता है। मुनि जीवों के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है– क्रूर होना, निर्दयी होना। मुनि निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष होता है इसलिए वह जीवों की हिंसा करना नहीं चाहता और कराना भी नहीं चाहता।

सामाजिक समस्या और सापेक्षता

सामाजिक समस्या को सुलझाने में सापेक्षता महत्त्वपूर्ण सूत्र है। सापेक्षता होती है तो शोषण नहीं हो सकता। सापेक्षता होती है तो अपराध नहीं हो सकता, सापेक्षता होती है तो हिंसा नहीं हो सकती, युद्ध नहीं हो सकता। ये सारे कार्य निरपेक्षता के कारण किए जाते हैं। जब व्यक्ति निरपेक्ष हो जाता है तब वह सोचता है कि कोई कुछ भी करे मुझे क्या लेना-देना। बहुत सारे लोग यही कहते हैं कि मुझे प्रचुर सामग्री मिल गई। दूसरे को मिले या न मिले उससे मुझे क्या ? कोई मरे या जीए– मुझे क्या लेना देना। यदि पड़ोसी भूखा है तो वह अपने कर्म भोगे, मैं उसकी चिंता क्यों करूं। यह निरपेक्ष बात है। एक समाज का व्यक्ति समाज से निरपेक्ष होकर इस प्रकार का चिंतन करता है तो आर्थिक समस्या कभी सुलझाई नहीं जा सकती। आर्थिक जीवन का बोझ कभी हल्का नहीं हो सकता।

क्षमता : स्वामित्व

मैंने आर्थिक जीवन के जिन दस पहलुओं की चर्चा की, उनमें सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला पहलू है– स्वामित्व। जब तक स्वामित्व को सापेक्ष नहीं बनाया जाएगा, आर्थिक समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा। उपार्जन करना व्यक्ति की अपनी एक विशेषता है। किसी आदमी में क्षमता है, वह बहुत धन कमा लेता है। एक आदमी में व्यावसायिक बुद्धि नहीं है, वह धन नहीं कमा सकता। उपार्जन की क्षमता का होना तथा न होना व्यावसायिक योग्यता या अन्य कारणों पर निर्भर करता है। किन्तु स्वामित्व का होना– यह बिलकुल दूसरा प्रश्न है। इस प्रश्न पर सामाजिक और आध्यात्मिक– दोनों दृष्टियों से विचार किया गया।

इच्छा-परिमाण : अर्थ की सीमा

भगवान् महावीर ने एक व्रत दिया– इच्छा-परिमाण। इच्छा का परिमाण करो, सीमा करो। इच्छा-परिमाण का अर्थ है– परिग्रह का परिमाण, आर्थिक जीवन की सीमा। स्वामित्व के सीमांकन का यह सूत्र अध्यात्म के क्षेत्र से उद्भूत हुआ है।

अर्थ की सीमा– साम्यवाद का मूल सूत्र रहा है। साम्यवाद ने प्रारंभ में तो व्यक्तिगत स्वामित्व को मान्य ही नहीं किया। किन्तु आदमी का स्वार्थ के प्रति बड़ा आकर्षण होता है। वह स्वार्थ छोड़ना नहीं चाहता। जहां समूह की बात आती है, कम्यून की बात आती है, कार्य में व्यवधान आ जाता है। एक कार्य दस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तियों को करना है तो वह कार्य पूरा नहीं हो पाएगा। प्रत्येक व्यक्ति सोचेगा– यह कर लेगा, वह कर लेगा। कार्य अधूरा ही रह जाएगा।

कम्यून का दोष

एक पौराणिक कहानी है चक्रवर्ती के विमान को सोलह हजार देवता उठाकर ले जा रहे थे। एक ने सोचा– मैं अकेला छोड़ दूंगा तो क्या फर्क पड़ेगा। पन्द्रह हजार नौ सौ निन्यानवें शेष हैं। जब एक सोचता है तो दूसरा क्यों नहीं सोच सकता ? दूसरे ने भी सोचा, तीसरे ने भी वैसा ही सोचा। सबने एक जैसी ही बात सोची और विमान को एक साथ छोड़ दिया। विमान नीचे समुद्र में जा गिरा।

यह समूहवाद का, कम्यून का एक दोष है।

राजा ने आदेश दिया– नवनिर्मित तालाब को दूध से भरना है। प्रत्येक नागरिक इसमें एक-एक लोटा दूध डाले। एक व्यक्ति ने सोचा– इतना बड़ा नगर है। इतने दूध डालेंगे। दूध के लाखों लोटों से तालाब भर जाएगा। मेरा एक पानी का लोटा गिर जाएगा तो क्या पता चलेगा। पानी तो दूध में ऐसे ही मिलाया जाता है। प्रातःकाल हुआ। राजा और मंत्री इस आशा के साथ तालाब पहुंचे कि एक नई बात होगी, राज्य का तालाब दूध से भरा हुआ मिलेगा। पानी से भरा तालाब देख कर राजा निराश हो गया। एक व्यक्ति का विचार समग्र जनता में सक्रांत हो गया। तालाब में एक भी लोटा दूध का नहीं गिरा।

वैयक्तिता : व्यक्तिवाद

यह समूहवाद की समस्या है। व्यक्तिगत आकर्षण के बिना काम करने की प्रेरणा नहीं जागती। इसलिए वैयक्तिकता का मूल्य भी हम कम नहीं कर सकते। एक ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्तिगत प्रेरणा का प्रश्न है तो दूसरी ओर व्यक्तिवाद एक समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को ही भरना चाहता है। दूसरे की चिंता ही नहीं करता। इस व्यक्तिवाद के आधार पर शोषण को बढ़ावा मिलता है। दोनों ओर समस्या है। सापेक्ष स्वामित्व इस दोहरी समस्या का एक समाधान है।

आध्यात्मिक सापेक्षवाद

अध्यात्म के क्षेत्र में कहा गया है– यदि तुम धार्मिक बनना चाहते हो, आध्यात्मिक बनना चाहते हो तो हिंसा को छोड़ो। हिंसा को छोड़ने का अर्थ है– प्रत्येक प्राणी की अपेक्षा रखो, निरपेक्ष होकर मत रहो। क्रूर होकर मत चलो। जब यह सिद्धांत जीवनगत होगा तो प्रत्येक वस्तु के स्वामित्व की सीमा की बात स्वतः फलित हो जाएगी। एक आध्यात्मिक व्यक्ति या मुनि को पांच रोटियां मिली है। उन रोटियों को लाने वाला वह अकेला है और उसके चार साथी और हैं तो स्वामित्व की सीमा होगी। यह नहीं हो सकता है कि मैं लाया हूं तो मेरा ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामित्व होगा। उसकी ऐसी चेतना ही नहीं होती है। वह सोचता है– इन रोटियों को मैं लाया हूं, यह उपार्जन मेरा है पर स्वामित्व मेरा नहीं है। उसका चिंतन होता है– पांच रोटियां पांचों में बंट जाए और प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में एक-एक रोटी अवश्य आए।

तेरापंथ धर्मसंघ में संविभाग की व्यवस्था है। एक मुनि दस घरों में जाए और कुछ भी लाए किन्तु जितने संभागी मुनि हैं उन्हें बराबर का हिस्सा देना पड़ेगा। वह यह नहीं कह सकता कि मैं लाया हूं तो मुझे अधिक मिलना चाहिए। उसमें सब का समभाग है। यह आध्यात्मिक सापेक्षवाद है।

समस्या का समाधान : स्वामित्व का सीमांकन

समाज के द्वारा भी व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण किया गया। साम्यवाद में भी अब सीमित व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार दिया गया है किन्तु असीम स्वामित्व किसी का नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान का आदमी सोचता है– मैं इतना धन कमा लूं कि सात पीढ़ियां सुखी हो जाएं। साम्यवादी देशों में यह अधिकार ही नहीं है। जहां बाप का धन बेटे को न मिले वहां सात पीढ़ी की बात ही नहीं आ सकती। व्यक्ति ने अपने जीवन में कमाया, खाया और मरने के बाद वह संपत्ति समाज की है। जहां सम्पत्ति का समाजीकरण हो जाता है वहां सात पीढ़ी की चिंता को कोई अवकाश नहीं मिलता। साम्यवाद द्वारा प्रस्तुत व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमांकन का यह सूत्र आर्थिक जीवन की जटिलता को समाप्त करने का एक हेतु बनता है, निमित्त बनता है।

सापेक्षवाद के इन दो पहलुओं– आध्यात्मिक सापेक्षता और सामाजिक सापेक्षता का विस्तार किया जाए तो आशा की जा सकती है आर्थिक जीवन की जटिलताएं कम होंगी। यदि इन पर ध्यान नहीं दिया गया तो अपराध, शोषण, हिंसा, युद्ध आदि पर ध्यान देने की कोई सार्थक निष्पत्ति होगी ऐसा नहीं लगता। या तो हम स्वामित्व की सीमा के सूत्रों को पकड़ें या इस चर्चा को छोड़ दें और जो कुछ हो रहा है उसे होने दें। जो कुछ चल रहा है, उसे चलने दें, किन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति यथास्थिति नहीं चाहता। वह समाज का विकास और समृद्धि चाहता है, समाज को स्वस्थ बनाना चाहता है। इसके लिए व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमांकन पर उसे अवश्य विचार करना होगा।

4.3. भावात्मक स्वास्थ्य

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ लोग सदा प्रसन्न रहते हैं। कठिन परिस्थिति आने पर भी उनमें विषाद, खिन्नता और उदासी नहीं आती। वे अपनी प्रसन्नता को नहीं खोते। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि 24 घंटे तक विषाद उनसे छूटता ही नहीं है। सुख का अवसर हो तो भी उनका चेहरा मुरझाया हुआ रहता है। उदासी और खिन्नता टपकती ही रहती है। ऐसा क्यों होता है ? क्या परिस्थिति प्रभावित करती है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थिति यदि प्रभावित करती तो प्रसन्न रहने वाले को प्रभावित करती पर उसे कठिन परिस्थिति भी प्रभावित नहीं कर पाती। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके दु:ख सदा उद्दीप्त रहते हैं। कभी बात कर देख लो दु:ख तैयार है, हीन भावना तैयार है, उदासी तैयार है, निराशा तैयार है। जितने निषेधात्मक और नकारात्मक भाव हैं, वे सब उनके पास बने के बने रहते हैं। इसका कारण है– स्वभाव।

किस व्यक्ति ने किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण किया है। एक व्यक्ति ने प्रसन्न रहने के स्वभाव का निर्माण किया है तो दूसरे व्यक्ति ने खिन्न और दु:खी रहने के स्वभाव का निर्माण किया है। स्वभाव का निर्माण संवेगों के आधार पर होता है। जो व्यक्ति जिस प्रकार के संवेग में ज्यादा जीता है, उसका वैसा ही स्वभाव निर्मित हो जाता है।

स्वभाव और संवेग

बहुत गहरा संबंध है संवेग और स्वभाव में। संवेग सूचक है स्वभाव का। स्वभाव बतला देता है कि अमुक व्यक्ति अमुक प्रकार के संवेग में जी रहा है। पहले संवेग को समझना जरूरी है। भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए संवेग की पहचान और भाव की पहचान जरूरी है। साहित्य में संवेगों की चर्चा आती है– स्थाई मनोभाव और संचारी मनोभाव। जो स्थाई भाव हैं, संचारी भाव हैं, वे संवेग हैं। कर्मशास्त्र में या अध्यात्म शास्त्र में जितनी कर्म की प्रकृतियां हैं, उतने ही संवेग बन जाते हैं।

उल्लास एक संवेग है। दु:ख का भाव एक संवेग है। जो व्यक्ति उल्लास के संवेग में जीता है उसे दु:ख कम छूता है या नहीं छूता। जो व्यक्ति दु:खभाव के संवेग में ज्यादा जीता है, बिना बुलाए उसके दु:ख आ टपकता है, बुलाने की आवश्यकता ही नहीं होती, पास में ही रहता है। जरा-सा दरवाजा खोलो और वह भीतर आने को तैयार है।

भय एक संवेग है। हीन भावना और उत्कर्ष की भावना संवेग है। घृणा की भावना और काम-भावना संवेग है। ये सारे संवेग हैं। व्यक्ति स्वयं इस बात पर ध्यान दे कि वह किस प्रकार के संवेग में जी रहा है और उस संवेग में जीने पर उसमें किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण हो रहा है।

स्वभाव और संवेग– दोनों जुड़े हुए हैं। जो व्यक्ति अपने स्वभाव को अच्छा बनाना चाहे, अपने भावनात्मक स्वास्थ्य को ठीक रखना चाहे, उसे संवेगों के प्रति बहुत जागरूक रहना होता है।

जागरूकता जीवन की सफलता का बड़ा सूत्र है। हम जागरूक बनें अपने संवेगों के प्रति। कौन सा संवेग ज्यादा सक्रिय हो रहा है ? संवेग का मेरे स्वभाव पर क्या परिणाम होगा ? इतनी सी जागरूकता आती है तो स्वभाव भी अच्छा बन जाता है, भावनात्मक स्वास्थ्य भी अच्छा बन जाता है, व्यवहार भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा बन जाता है, प्रश्न है जागरूकता का । हम संवेगों को जानते ही नहीं हैं और जान जाते हैं तो जागरूक नहीं होते, समझ नहीं पाते।

बच्चा आया दादा के पास और बोला– डुगडुगी वाला आया है। मुझे भी एक ले दो। दादा बोला– ठीक नहीं है, नहीं लेनी है। तू बार-बार बजाएगा और मेरी नींद में बाधा डालेगा। मैं नहीं खरीदूंगा। बच्चे ने कहा– आप इस बात की चिंता न करें। जब तक आप जागते रहेंगे मैं उसे नहीं बजाऊंगा। आप जब सो जाएंगे तभी उसे बजाऊंगा।

हम ठीक समझ ही नहीं पाते। बेचारे दादा ने कहा था तू मेरी नींद में बाधा डालेगा और बच्चे ने कहा– जब आप जागेंगे तब तक बजाऊंगा ही नहीं। जब आप सो जाएंगे तभी बजाऊंगा।

हम समझ नहीं पाते हैं इस सचाई को। कैसे संवेग से छुटकारा पाया जा सकता है और कैसे स्वभाव को बदला जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में एक बात कही जाती है– निरंतर अपने इष्ट का स्मरण करें, अपने गुरु का स्मरण करें। किसी पवित्र भाव को बराबर बनाए रखें। बात बहुत छोटी सी लगती है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम विचार करें तो यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। बहुत बार बहुत गहरा सूत्र देना भी कठिनाई पैदा करता है। सूत्र तो गहरा दे दिया और पकड़ने वाला उसे नहीं पकड़ पा रहा है, बात अधर में लटक जाती है। यह सूत्र इसलिए दिया कि दिन भर में जितने समय तुम अपने इष्ट का, अपने गुरु का, अपने मंत्र का जप करोगे, उनका ध्यान करोगे। उसका अर्थ होगा– तुम्हारे संवेग अच्छे रहेंगे, तुम्हारी भावना अच्छी रहेगी। कोई भी बुरा संवेग तुम्हारे पास नहीं आएगा। तुम्हारे स्वभाव का बुरा निर्माण नहीं होगा। जिस भाव में जीओगे वैसे बनोगे। एक पवित्र भाव रहता है तो स्वभाव पवित्र बन जाता है, अपने आप बुरा स्वभाव बदल जाता है। जो व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द– इस चतुष्टयी की स्मृति में जीता है उसका स्वभाव इतना बढ़िया होता है कि वह अपने लिए और दूसरों के लिए कोई भी खतरनाक काम नहीं कर सकता, समस्या पैदा करने वाला काम नहीं कर सकता। जो आनन्द में जी रहा है वह दूसरे को सताएगा नहीं, दुःख नहीं देगा और न स्वयं ही दुःखी बनेगा। वह अपनी चेतना में जिएगा और जब वह चेतना में जिएगा तो कोई भी मूर्खतापूर्ण काम नहीं करेगा।

स्वभाव निर्माण की प्रक्रिया

सत्, चित् और आनन्द– ये तीन बहुत प्रचलित शब्द हैं। जो सत् में जीता है, चित् में जीता है और आनन्द में जीता है, उनकी अनुभूति रखता है, बार-बार स्मृति रखता है, वह अपने ऐसे स्वभाव का निर्माण करेगा, जिस स्वभाव से सत् निकलेगा, चित् निकलेगा और आनन्द निकलेगा। उसमें से असत्, अचित् और दुःख नहीं निकलेगा और दूसरों के लिए भी वह खतरनाक नहीं बनेगा। शंकराचार्य के अनुसार जिसमें ये पुण्यत्रय हैं वही ब्रह्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत बड़ा एक सूत्र दिया गया था पवित्र स्मृति का–'शिवसंकल्पमस्तु मे मन:' मेरा मन पवित्र संकल्प वाला बने। मेरा मन निरंतर पवित्र बना रहे। जैन साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द है– ज्यादा से ज्यादा शुभ योग बना रहे। यह बहुत प्रचलित शब्द है कि अशुभ योग की प्रवृत्ति न हो, शुभ योग की प्रवृत्ति हो। मनोविज्ञान के संदर्भ में यदि इस सूत्र की व्यवस्था करें तो स्वभाव निर्माण की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुभ योग की प्रवृत्ति होगी, अशुभ योग की प्रवृत्ति नहीं होगी- इसका अर्थ है–पवित्र भावों में हमारा जीवन बीतेगा, हमारे क्षण बीतेंगे, हमारा समय बीतेगा। पवित्र स्वभाव अपने आप बनता रहेगा। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, क्रोध, अभिमान, माया–ये सब अशुभ योग हैं यदि। इन अशुभ योगों में प्रवृत्ति होगी तो स्वभाव भी वैसा ही बनता चला जाएगा। इसलिए सूत्र दिया गया कि अशुभ योग की प्रवृत्ति न हो, शुभ योग की प्रवृत्ति हो।

सामायिक : स्वभाव निर्माण का संकल्प

जैन श्रावक सामायिक करते हैं। सामायिक करने का अर्थ समता की साधना कहा गया है। हम क्यों नहीं मानें कि सामायिक करने का अर्थ है–स्वभाव निर्माण का संकल्प, संवेगों को पवित्र बनाने का संकल्प। सामायिक का मतलब है–अशुभ योग की प्रवृत्ति न करना और शुभ योग की प्रवृत्ति करना। सावद्ययोग का प्रत्याख्यान यानी अशुभ योग की प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान। जब अशुभ प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होगा तो आदमी सहज ही शुभ स्वभाव के निर्माण में चला जाएगा। सामायिक को स्वभाव निर्माण की प्रक्रिया माना जा सकता है।

तंत्र-शास्त्र और शैव-दर्शन का शब्द है–सदाशिव। वह कभी अशिव नहीं होता। सदाशिव रहने का एक फार्मूला है–सामायिक। प्रत्येक व्यक्ति संकल्प करे कि मैं 50 मिनिट के लिए अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होता हूं और शुभ प्रवृत्ति करता हूं। इसका अर्थ है वह पवित्र स्वभाव को और अधिक मजबूती देता है। इसका परिणाम होगा–व्यक्ति का मन उन संवेगों के प्रति कभी न झुकेगा, कभी न जाएगा, तो संवेग विषाद पैदा करने वाले हैं।

जब संवेग जागते हैं, बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है। संवेग में व्यक्ति का स्वभाव भी कैसा ही हो जाता है और व्यवहार भी कैसा ही बन जाता है।

संवेग से जुड़ा है व्यवहार

एक कर्मचारी जल्दी घर पहुंचा। पत्नी ने कहा– अभी तो दो बजे हैं। तुम्हारे अवकाश का समय पांच बजे होता है। तीन घंटे पहले कैसे आ गए ? वह बोला– मैंने कोई काम किया था और मेरा बॉस बिगड़ गया। बॉस ने गुस्से में कहा– जाओ ! तुम जहन्नुम में, नर्क में चले जाओ। उसने ऐसा कहा तो मैं घर पर आ गया। बॉस ने जहन्नुम में भेजा और उसने अपने घर को जहन्नुम बना लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब आदमी गुस्से में होता है, उसका सारा चिंतन और सारा व्यवहार बदल जाता है। वह चिड़चिड़ा हो जाता है। स्वभाव भी विचित्र प्रकार का होने लग जाता है।

भावनात्मक स्वास्थ्य का एक सूत्र है– हम अपने संवेगों के प्रति जागरूक रहें। कौन सा संवेग बार-बार उद्दीप्त हो रहा है ? उस संवेग का मेरे ऊपर क्या प्रभाव होगा ? यदि संवेग के प्रति जागरूकता की बात आती है तो स्वभाव को बदलने में, भावनात्मक स्वास्थ्य को अच्छा बनाने में सुविधा हो जाती है।

पाचनक्रिया और स्वभाव

स्वभाव के साथ संबंध है पाचनक्रिया का। जिस व्यक्ति की पाचन-क्रिया ठीक नहीं होती, वह भावनात्मक स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रख सकता। सीधा सम्बन्ध लगता है–पाचनक्रिया ठीक नहीं है तो शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा। पाचन ठीक नहीं होगा तो चयापचय की क्रिया ठीक नहीं होगी किन्तु इसका भावनात्मक स्वास्थ्य पर भी बहुत असर होता है। जिस व्यक्ति का पाचन ठीक नहीं है उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। बहुत सारे लोग चिड़चिड़े होते हैं, बात-बात पर चिड़ जाते हैं। छोटी-सी बात होती है और चिड़ जाते हैं, हर बात पर चिड़ना उनका स्वभाव ही बन जाता है। अच्छी बात से भी चिड़ जाते हैं और बुरी बातों से तो चिड़ते ही है। यह पाचन क्रिया का दोष है। पाचन ठीक नहीं होता है तो चिड़चिड़ापन आ जाता है।

स्वास्थ्य के साथ पाचन क्रिया का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भावात्मक स्वास्थ्य का दूसरा बिन्दु है पाचनक्रिया के प्रति जागरूक रहना। यह भी प्रकारान्तर से धर्म का एक सूत्र है।

जिसका पाचन-तंत्र और उत्सर्जन तंत्र स्वस्थ नहीं होता, वह स्वभाव से भी स्वस्थ नहीं होता। पाचन-तंत्र ठीक नहीं होता है तो स्वभाव में विकृतियां आ जाती हैं। खाते खूब हैं किन्तु सफाई होती नहीं है। मल का निष्कासन ठीक प्रकार से नहीं होता है, कब्ज रहता है, कोष्ठबद्धता रहती है तो सारा स्वभाव गड़बड़ा जाता है। उदासी, बेचैनी और गुस्सा ज्यादा आना, बुरी बात सोचना, बुरे विचार आना, बुरी कल्पना करना, हत्या या मारकाट का विचार आना– इस प्रकार के विचार आने लग जाते हैं। हमें जागरूक होना है इन दो तंत्रों के प्रति– पाचन-तंत्र के प्रति और उत्सर्जन तंत्र के प्रति। कुछ लोग इसमें जागरूक नहीं होते। उनका दिमाग भी ठीक काम नहीं करता। स्मृति भी ठीक काम नहीं करती। स्मृति-दोष और उत्सर्जन तंत्र में बहुत गहरा संबंध है। प्रसन्नता से भी उसका बहुत गहरा संबंध है। हमारा जितना ध्यान खाने पर केन्द्रित है उतना उत्सर्जन पर केन्द्रित नहीं है। होना तो यह चाहिए कि खाने की अपेक्षा उत्सर्जन पर अधिक ध्यान केन्द्रित हो। ऐसा होगा तो भावशुद्धि भी रहेगी, विचारशुद्धि भी रहेगी और बुरे विचार, बुरी कल्पना और बुरे स्वप्न भी नहीं आएंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव और अन्त:स्रावी ग्रथियां

स्वभाव और अन्त:स्रावी ग्रथियों में परस्पर गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति की अन्त:स्रावी ग्रन्थियां ठीक ढंग से काम करती हैं, उनका स्वभाव अच्छा होता है और वह भावात्मक स्वास्थ्य का जीवन जीता है। जिसकी अन्त:स्रावी ग्रंथियां ठीक काम नहीं करतीं, उसका स्वभाव विकृत होता चला जाता है। उदाहरण के लिए छोटी-सी बात लें। जिसकी पैंक्रियाज ठीक काम नहीं करती, उसके शुगर की बीमारी हो जाती है। जिसे शूगर की बीमारी है, उसके स्वभाव में भी बहुत बदलाव आ जाएगा। उदासी, खिन्नता और चिड़-चिड़ापन—ये सारे उसके स्वभाव बनने लग जाएंगे।

अन्त:स्रावी ग्रंथियों का संतुलित होना बहुत आवश्यक है। हम उसके प्रति जागरूक रहें। यद्यपि यह कार्य स्वत: होने वाला है, हमारे वश की बात नहीं है। फिर भी भाव के साथ उनका बहुत बड़ा संबंध है। यदि भाव पवित्र होगा तो अन्त:सावी ग्रंथियों का संतुलन बना रहेगा। भावनात्मक स्वास्थ्य में गड़बड़ी आएगी तो अन्त:स्रावी ग्रन्थियों में भी गड़बड़ी आ जाएगी। यह एक चक्र है- यदि अन्त-स्रावी ग्रंथियां ठीक काम रही हैं तो भाव भी ठीक काम कर रहे हैं, भावनात्मक स्वास्थ्य भी ठीक हो रहा है और यदि भावनात्मक स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो मानना चाहिए कि अन्त:स्रावी ग्रंथियां भी संतुलित नहीं हैं, स्वस्थ नहीं हैं।

स्वभाव और अन्तर्द्वन्द्व निवृत्ति

मूल प्रश्न है—हम अपने भावों के प्रति जागरूक रहें। इसमें एक बड़ा खतरा है और वह खतरा है मानसिक संघर्ष का। व्यक्ति के भीतर एक अन्तर्द्वन्द्व चलता है, मानसिक संघर्ष चलता है। वह संघर्ष का जीवन जीता है। व्यक्ति जानता है कि बहुत खाना अच्छा नहीं है, ज्यादा गरिष्ठ भोजन करना अच्छा नहीं है किन्तु इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वह खाए बिना रह नहीं सकता। जब भी कोई प्रसंग आएगा वह खाये बिना नहीं रहेगा। खाने के बाद वह सोचता है—मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह बुरा हुआ है। खाएगा भी और बुरा भी सोचेगा।

कुछ लोगों में नशा करने की आदत हो जाती है। नशा करते हैं और साथ में यह भी जानते हैं कि यह बुरा है। ऐसा नहीं करना चाहिये। कुछ व्यक्तियों को अप्राकृतिक मैथुन की आदत हो जाती है। वे जानते हैं इससे सारी शक्तियां समाप्त होती हैं, पागलपन की स्थिति बन जाती है और एड्स तक की स्थिति बन जाती है। जानते हैं यह काम अच्छा नहीं है पर इच्छा प्रबल होने पर रहा ही नहीं जाता। फिर कहते हैं कि यह बुरा हुआ, ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह है मानसिक संघर्ष। इसका नाम है अन्तर्द्वन्द्व। यानी अच्छा नहीं जानते हुए भी कार्य को करना। एक आदमी ऐसा है जो बुरा करता है किन्तु जानता नहीं है कि बुरा है, उसमें कम से कम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक संघर्ष तो नहीं होता। जो व्यक्ति यह जानता है कि यह करना बुरा है फिर भी करता है और करने के बाद भी यह सोचता है कि ऐसा नहीं करना चाहिए था, बहुत बुरा हुआ। यह अन्तर्द्वन्द्व भावनात्मक स्वास्थ्य को बहुत बिगाड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रश्न है—इस मानसिक संघर्ष को कैसे मिटाए ? इस अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति को कैसे समाप्त करे ? इसके लिए उपायों की खोज जरूरी है। भावक्रिया का, जागरूकता का, वर्तमान में जीने का जो सूत्र है, वह भावनात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। एक जीवन है अतीत का और एक जीवन है वर्तमान का। एक हमारे साथ आ चुका और एक आ रहा होगा। अनागत अभी आया नहीं। हमारे जीवन के तीन प्रकार बन गए—अंतीत का जीवन, वर्तमान का जीवन और भविष्य का जीवन। अतीत का जीवन भावनात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से कैसा रहा, यह तो नहीं कहा जा सकता। आगे उसका परिणाम भुगतना है, किन्तु वर्तमान में भी अगर व्यक्ति जागरूक बन जाता है तो समस्या से छुटकारा पा सकता है। यद्यपि एक सीधा संघर्ष है अतीत और वर्तमान में। हर व्यक्ति कहता है यह वही तो है जिसने ऐसा किया था। अतीत का जीवन वर्तमान पर हावी रहता है, अतीत का जीवन वर्तमान का साक्षी रहता है और सामाजिक जीवन में अतीत की छाप ज्यादा होती है। वर्तमान की छाप उसके सामने धुंधला जाती है।

परिवार नियोजन का अधिकारी प्रचार करने एक गांव में गया। गांव के लोगों ने उसकी स्थिति का पता लगा लिया। यह अधिकारी कौन है? इसकी क्या स्थिति है ? इसका परिवार कितना है ? उसने बहुत प्रचार किया दो से ज्यादा नहीं। बहुत प्रचार किया। उस अधिकारी के 10 बच्चे हैं, यह जानकर लोगों को बड़ा ताज्जुब हुआ। एक व्यक्ति बोल उठा—महाशय ! परिवार नियोजन का प्रचार करते हैं और आपके 10 बच्चे हैं। अधिकारी बोला—भाई ! क्षमा करें। मैं पहले विकास विभाग में था और वहां से इस विभाग में आया हूं।

वर्तमान पर अतीत हावी रहता है। हम वर्तमान में देखते हैं किन्तु अतीत से हटकर नहीं देखते। सामाजिक परिवेश में या सामुदायिक जीवन में वर्तमान बाद में सामने आता है, अतीत पहले ही बोल उठता है। इसलिए हम अतीत को बिलकुल अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अध्यात्म के क्षेत्र में स्थिति बिलकुल बदल जाती है। अध्यात्म के मूल्य और मानदण्ड बिलकुल बदले हुए होते हैं। अगर हम वाल्मिकी को डाकू की दृष्टि से ही देखें तो यह सामाजिक परिवेश हो सकता है, अध्यात्म की भूमिका बिलकुल नहीं हो सकती। अध्यात्म की भूमिका में आज यदि डाकू संत बन गया तो वह संत ही है, डाकू था ही नहीं ।

अर्जुनमालाकार, जो प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करते थे, एक ही क्षण में मुनि बन गए। वे उसी राजगृही नगर में जब भिक्षा के लिए जाते तो लोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते कि साधु बना है मेरे पिता को मारकर, मेरे भाई को मार कर। जहां भी जाते गालियों की बौछार मिलती। कितनी अवज्ञा और कितनी अवहेलना ! यह बात तब होती है जब अतीत हावी होता है। अगर अध्यात्म की भूमिका होती तो महावीर साधु बनते ही नहीं। अगर अध्यात्म की भूमिका होती तो कभी संत बनते ही नहीं। अध्यात्म की भूमिका में कहा जाएगा—अशुभ योग में से शुभ योग में आ गया, अशुभ भाव में से शुभ भाव में आ गया और स्वभाव बदल गया। जिस व्यक्ति ने यह सोच लिया कि अब मैं वह नहीं करूंगा, जो मेरे द्वारा प्रमादवश पहले किया गया था। 'फिर नहीं करूंगा" जिसकी मनोदशा ऐसी बन गई, उसका स्वभाव बदल गया। सामाजिक भूमिका में अगर स्वभाव बदलता है तो सामाजिक लोग इसे स्वीकार नहीं करेंगे। अध्यात्म का स्वीकार है—स्वभाव बदल सकता है और स्वभाव के बदल जाने पर व्यक्ति बदल जाता है। व्यक्ति जिस पर्याय में जी रहा था, वह पर्याय बदल गया। व्यक्ति मर गया। वह जो था, वह तो है ही नहीं।

स्वभाव एक पर्याय है

विमर्श का बिन्दु है- स्वभाव ध्रुव है या एक पर्याय है ? अगर ध्रुव है तो बदलने की आवश्यकता ही नहीं है और प्रयत्न करने पर भी बदला नहीं जा सकता। जैसा है वैसा ही रहेगा। त्रिपदी है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की। स्वभाव ध्रौव्य के साथ जुड़ता है तो बदलने का प्रयत्न करना भी हमारी समझदारी नहीं और वह बदलेगा भी नहीं। अगर स्वभाव पर्याय है तो पर्याय का अर्थ होगा उत्पन्न होना और व्यय हो जाना। पर्याय से हम चिपके कैसे रह सकते हैं। हम कैसे कह सकते हैं कि मेरा तो ऐसा ही स्वभाव है यह बदलेगा नहीं ? जो आदत पड़ गई है, वह अब छूटेगी नहीं। इस त्रिपदी के सिद्धांत को जानने वाला कोई भी यह कह नहीं सकता।

मनष्य एक पर्याय है। मनुष्य नाम का कोई भी द्रव्य नहीं है। वह एक पर्याय है। मनुष्य, पशु, पक्षी— ये सब पर्याय हैं। पैदा हुए हैं और नष्ट हो जाएंगे। मनुष्य जीवन भी एक पर्याय है। हमारा स्वभाव में कौन-सा शाश्वत सत्य आ गया कि बदेगा ही नहीं। स्वभाव बदलल सकता है पर पहले हमारा दर्शन सम्यक् होना चाहिए। जब दर्शन ही सम्यक् नहीं है तो फिर आचरण और व्यवहार की बात ही कहां से आएगी। न जाने कितने लोग यह मान बैठे हैं कि मेरा स्वभाव नहीं बदलेगा, मेरी आदत नहीं बदलेगी। जो लोग धर्म के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में आ गए, उनकी भी धारणा यही है कि मेरी आदत तो बदलेगी ही नहीं। साधु जीवन में आ जाने के बाद भी कभी-कभी ऐसी धारणा बना लेते हैं कि अब तो यह आदत बदलने की नहीं है। बड़ा आश्चर्य होता है ! उन्होंने स्वभाव को भी शाश्वत सत्य मान लिया है, एक अस्तिकाय मान लिया। उन्होंने यह मान लिया कि मेरा स्वभाव ऐसा था, है और रहेगा। कितना मिथ्यादर्शन है। जो अशाश्वत है उसे शाश्वत मान लेना मिथ्या दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अनित्य को नित्य मान लिया, अशाश्वत को शाश्वत मान लिया। यह भी मिथ्यादर्शन है। यह मिथ्यादर्शन बदलना चाहिए, यह धारणा बदलनी चाहिए। स्वभाव बदलता है और जो भावात्मक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं है, वह पाया जा सकता है। उसमें विकास किया जा सकता है। यह गतिशील भावना रही तो संभावना उज्ज्वल बन जाएगी और स्थिर बन गए तो कोई संभावना शेष नहीं रहेगी।

संकल्प स्वभाव परिवर्तन का

साधना का अर्थ है गतिशीलता। निरंतर गति और निरंतर परिवर्तन की बात। जो परिवर्तन की बात नहीं सोचता, वह शायद अध्यात्म में प्रवेश पाने का अधिकारी ही नहीं है। उस व्यक्ति में पहली बात यह होनी चाहिए कि मैं अशुभ योग की प्रवृत्तियों और आदतों को बदलना चाहता हूं। इसलिए अध्यात्म में प्रवेश पाना चाहता हूं। यह अर्हता आए तो शायद एक नया रूप निखरेगा। पुरानी भाषा थी– संसार में आग लग रही है इसलिए मैं साधु बनना चाहता हूं, साध्वी बनना चाहती हूं। जन्म-मरण की लाय लग रही है यह भी एक सचाई है, वास्तविकता है। आज हम दूसरी भाषा में सोचें। वह भाषा होगी– मैं अपने पुराने स्वभाव को बदलना चाहता हूं और नए स्वभाव का निर्माण करना चाहता हूं इसलिए अध्यात्म में प्रवेश पाना चाहता हूं। मैं पुराने संस्कारों से मुक्ति पाना चाहता हूं और नए संस्कारों का निर्माण करना चाहता हूं, इसलिए अध्यात्म में प्रवेश पाना चाहता हूं। मैं अशुभ योग की प्रवृत्तियों को कम करना चाहता हूं और शुभ योग की प्रवृत्ति का जीवन जीना चाहता हूं, इसलिए अध्यात्म में प्रवेश पाना चाहता हूं। यह सम्यक्-दर्शन स्पष्ट हो जाए तो अध्यात्म में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है और वही व्यक्ति भावनात्मक स्वास्थ्य का जीवन जी सकता है।

सबसे ज्यादा मूल्यवान भावनात्मक स्वास्थ्य

बहुत महत्त्वपूर्ण है भावनात्मक स्वास्थ्य। हमने जीवन को तीन भागों में बांट दिया– एक शारीरिक जीवन, एक मानसिक जीवन और एक आध्यात्मिक जीवन। शारीरिक जीवन से ज्यादा मूल्यवान है मानसिक जीवन और उससे ज्यादा मूल्यवान है भावनात्मक जीवन। यह भावनात्मक जीवन भावनात्मक स्वास्थ्य पर निर्भर है। उसका विकास कुछ दृष्टिकोणों, कुछ मान्यताओं को बदल कर ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्वभाव शोधन की प्रक्रियाओं को गम्भीरता से जीवन में उतारकर भावनात्मक स्वास्थ्य को ठीक रखकर सत्यं शिवं सुन्दरम् की त्रिपथगा प्रवाहित कर सकते हैं।

4.4 अहिंसा और शान्ति

भगवान् महावीर ने कहा– सच्चं भयवं– सत्य ही भगवान् है। जहां सत्य है, वहां अहिंसा है। गांधीजी भी 'ईश्वर सत्य है' की मान्यता पर जोर न देकर 'सत्य ही ईश्वर है' का पोषण किया। उन्होंने सत्य को साध्य माना और इसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा को ही एकमात्र उपयोगी साधन स्वीकार किया है। जहां सत्य है, वहां शान्ति है। सत्य, अहिंसा और शन्ति– तीनों परस्पर जुड़े हुए हैं, इन्हें कभी पृथक् नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न है अहिंसा की प्रतिष्ठा का

अहिंसा की बात तब तक फलित नहीं होगी जब तक मनुष्य के जीवन में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। मुझे आश्चर्य है कि अहिंसा की बात करने वाले भी इच्छा संयम पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, अहिंसा की बात का कोई सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा।

आर्थिक विषमता आज की मुख्य समस्या है। व्यक्तिगत स्वामित्व असीम हो रहा है। व्यक्तिगत स्वामित्व का न होना व्यावहारिक नहीं है किन्तु व्यक्तिगत स्वामित्व का असीम होना अन्याय है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए अहिंसा से पहले परिग्रह के सीमांकन पर ध्यान देना आवश्यक है।

अहिंसा की प्रस्थापना में एक महत्त्वपूर्ण आयाम है– सुविधावादी दृष्टिकोण बदले। हम प्रदूषण से चिन्तित हैं, त्रस्त हैं। सुविधावादी दृष्टिकोण प्रदूषण पैदा कर रहा है, उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। समाज सुविधा को छोड़ नहीं सकता किन्तु वह असीम न हो– यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरन्तर जारी रहा तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा।

हिंसा : कारणों की खोज

सूर्य से अंधकार बरसता है, यह बहुत आश्चर्य की बात है। इससे भी बड़ा आश्चर्य है सामाजिक जीवन में हिंसा का विस्तार होना। सामाजिक जीवन की आधारशिला है– परस्परता का समझौता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सहयोग करे, कोई किसी को बाधा न पहुंचाए। आचार्य उमास्वाति ने दर्शन जगत् को एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया। समाज दर्शन के क्षेत्र में भी उसका बहुत मूल्य है। उनका सूत्र यह है– 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'– परस्पर एक दूसरे को सहारा देना। यह जीव का आचरण रहा है। समाज का अर्थ है संबंधों का जीवन। शान्तिपूर्ण संबंधों में समाज फलता-फूलता है। तनावपूर्ण संबंधों में वह मुरझा जाता है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच तनाव न हो, यह हमारी भावना है। यदि तनाव है तो उसे कैसे मिटाया जाए, उसके उपाय खोजने हैं।

हिंसा के कारणों को पांच वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

- मानसिक तनाव
- निषेधात्मक दृष्टिकोण
- मानसिक चंचलता
- नाड़ीतंत्रीय असंतुलन
- जैव-रासायनिक असंतुलन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विषय में अन्य अवधारणाएं भी मिलती हैं–

- ✦ हिंसा का बीज जीन में है
- ✦ हिंसा का बीज वातावरण में है
- ✦ हिंसा का बीज मौलिक मनोवृत्ति में है।

इन वैज्ञानिक अवधारणों के अतिरिक्त दार्शनिक धारणा यह है कि हिंसा के बीज कर्म-संस्कारों में हैं। इन अवधारणाओं के विस्तार में हम न जाएं। उक्त वर्गीकरण के पांच सूत्रों पर ध्यान केन्द्रित करें तो हम अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं, हिंसा में कमी ला सकते हैं और अहिंसा को विस्तार दे सकते हैं।

अहिंसक संस्थाओं का अपना मंच हो

क्या यह कार्य अहिंसा के विषय में प्रयोग और प्रशिक्षण के बिना किया जा सकता है ? एक प्राचीन अवधारणा है– अहिंसा एक जलाशय है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह उसकी सुरक्षा के सेतु-बंध है– 'अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्'। समस्या का मूल हेतु है परिग्रह। हिंसा उसका परिणाम है। आर्थिक समस्या ने हिंसा की समस्या को जटिल बनाया है। असत्य, चोरी उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। कलह और युद्ध– यह हिंसा का शिखर है। महावीर की इस वाणी में अनुभव का साक्षात्कार होता है।

अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली स्वयं सेवी संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्र संघ में एक मंच हो। अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली स्वयं सेवी संस्थाओं का अपना एक मंच हो, संयुक्त राष्ट्र संघ हो। उसका अपना अर्थ-शास्त्र हो, समाजशास्त्र हो, आचार-संहिता हो। यदि हम यह बात प्रस्तुत नहीं करेंगे तो अहिंसा विश्वमानस में अपना स्थान नहीं बना पाएगी।

अहिंसा की सफलता के सूत्र

एक ओर अहिंसा की बात चल रही है दूसरी ओर शिक्षा में अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। वर्तमान शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक ही सीमित है। जब तक हमारी शिक्षा में बौद्धिक व्यक्तित्व के साथ भावनात्मक व्यक्तित्व के विकास की बात नहीं जुड़ेगी, अहिंसा की बात व्यर्थ हो जाएगी।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। ऐसा व्यक्तित्व जिसमें अध्यात्म और विज्ञान दोनों समान रूप से समाए हुए हैं। केवल अध्यात्म बहुत उपयोगी नहीं होता और केवल विज्ञान बहुत खतरनाक होता है। यह असंतुलन एक समस्या है। जिसका समाधान खोजा जाना चाहिए ।

आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कुछ बातों पर ध्यान केन्द्रित होना जरूरी है–

- ✦ प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अनुकंपी-परानुकंपी तंत्र का संतुलन
- मस्तिष्क के दाएं और बाएं पटल का संतुलन

हम इस संतुलन को साध पाएं तो अहिंसा का एक प्रायोगिक रूप विश्व के सामने प्रस्तुत होगा। यह संतुलन जितना विस्तार करेगा उतना ही अहिंसा को विश्वव्यापी प्रतिष्ठा मिलेगी। ऐसा होने पर अहिंसा का शुभ और तेजस्वी रूप प्रस्फुटित हो सकेगा तथा चारों तरफ शान्ति ही शान्ति दिखाई पड़ेगी।

4.5 मस्तिष्क नियन्त्रण और जैविक घड़ी

मनुष्य का मूड बदलना रहता है। एक दिन में भी वह एक जैसा नहीं रहता। कभी वह शान्त और कभी वह उत्तेजित। कभी प्रसन्न और कभी विषण्ण। जैसे-जैसे भाव चक्र बदलता है, वैसे-वैसे मूड भी बदलता रहता है। मनुष्य की कार्यक्षमता भी बदलती रहती है। एक दिन में उसके कई रूप बन जाते हैं। इसका हेतु क्या है ? इसकी खोज हजारों वर्ष पहले भी की गई थी और आज के वैज्ञानिक भी कर रहे हैं। प्राचीन खोज का निष्कर्ष है– स्वर-चक्र और अर्वाचीन खोज का निष्कर्ष है जैविक घड़ी। मस्तिष्क, प्राणशक्ति, स्वर और काल– इनके योग से जीवन की एक लय बनती है। उसका यौगिक नाम है– स्वरचक्र या स्वरोदय और वैज्ञानिक नाम है– जैविक घड़ी।

मनुष्य का स्वर चन्द्र और सूर्य से प्रभावित होता है। अत: प्रत्येक दिन में और प्रत्येक पक्ष में श्वास की गति भिन्न-भिन्न होती है। सूर्योदय के समय स्वर चक्र का नियम इस प्रकार है–

	शुक्लपक्ष (सूर्योदय के समय)	कृष्णपक्ष (सूर्योदय के समय)
तिथि	1. बायां स्वर (इड़ा नाड़ी)	1. दायां स्वर (पिंगला नाड़ी)
	2. बायां स्वर	2. दायां स्वर
	3. बायां स्वर	3. दायां स्वर
	4. दायां स्वर (पिंगला नाड़ी)	4. बायां स्वर (इड़ा नाड़ी)
	5. दायां स्वर	5. बायां स्वर
	6. दायां स्वर	6. बायां स्वर
	7. बायां स्वर	7. दायां स्वर
	8. बायां स्वर	8. दायां स्वर
	9. बायां स्वर	9. दायां स्वर
	10. दायां स्वर	10. बायां स्वर
	11. दायां स्वर	11. बायां स्वर
	12. दायां स्वर	12. बायां स्वर
	13. बायां स्वर	13. दायां स्वर
	14. बायां स्वर	14. दायां स्वर
पूर्णिमा	15. बायां स्वर	15. दायां स्वर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह स्वर परिवर्तन का प्राकृतिक नियम है। श्वास स्वत: चालित और इच्छा-चालित प्रवृत्तियों के बीच संपर्क-सूत्र है। वह स्वत: चालित भी है और उस पर ऐच्छिक नियंत्रण भी किया जा सकता है।

श्वास नियंत्रण के द्वारा मस्तिष्क तरंग, हार्मोन के स्राव तथा चयापचय की क्रिया पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों की खोजों से पता चला है कि स्वर चक्र की भांति दाएं-बाएं मस्तिष्क पटलों का भी एक चक्र है। मस्तिष्क का एक पटल नब्बे से सौ मिनट तक सक्रिय रहता है। उसके पश्चात् वह निष्क्रिय हो जाता है। दूसरा पटल सक्रिय हो जाता है। आटोनोमिक नाड़ीतंड़ के दो भाग हैं– पेरासिम्पेथेटिक (परानुकंपी इड़ा नाड़ी) और सिम्पेथेटिक (अनुकंपी पिंगला नाड़ी)। पेरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम शारीरिक क्रियाओं को मंद करता है। सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता है। अनुलोम-विलोम श्वास पद्धति के द्वारा इनमें संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

भावनाओं का उद्गम स्थल लिम्बिक तंत्र का एक भाग हाइपोथेलेमस है। सूक्ष्म शरीर से भाव के प्रकंपन स्थूल शरीर के मस्तिष्क में आते हैं और हाइपोथेलेमस में वे प्रकट होते हैं। फिर मन के साथ जुड़कर मनोभाव बनते हैं। उनके आधार पर हमारा व्यवहार संचालित होता है। लयबद्ध दीर्घश्वास के द्वारा लिम्बिक तंत्र पर नियंत्रण किया जा सकता है।

श्वास और मस्तिष्क के चक्रों का जैविक घड़ी के साथ गहरा संबंध है। विलियम फ्लीश के अनुसार पुरुष की शक्ति, सहिष्णुता और साहस का समय चक्र तेईस दिन का होता है। दूसरा मत है कि मनुष्य में बुद्धिमता का समय चक्र तीस दिन का होता है। स्त्रियों में ग्रहणशीलता और अन्तर्दर्शन का समय चक्र अट्ठाइस दिन का होता है। ये समय चक्र प्रत्येक कोशिका में प्राप्त हैं। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां– भूख, नींद, जागरण आदि-आदि समय-बोधक जीवन घड़ी के साथ जुड़ी हुई हैं। प्राणधारा का प्रवाह शरीर के अंगों में सदा एक समान नहीं होता, वह बदलता रहता है। उसका परिवर्तन-चक्र इस प्रकार है–

सुबह तीन बजे से पांच बजे तक	फेफड़े
सुबह पांच से सात बजे तक	बड़ी आंत
सुबह सात से नौ बजे तक	पेट
सुबह नौ से ग्यारह बजे तक	तिल्ली अग्न्याशय
दोपहर ग्यारह से एक बजे तक	हृदय
दोपहर एक से तीन बजे तक	छोटी आंत
दोपहर तीन से पांच बजे तक	उत्सर्जन तंत्र
सायंकाल पांच से सात बजे तक	गुर्दे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सायंकाल सात से नौ बजे तक	हृदय की झिल्ली
रात्रि में नौ से ग्यारह बजे तक	श्वसनतंत्र, पाचनतंत्र, उत्सर्जनतंत्र
रात्रि में ग्यारह से एक बजे तक	मूत्राशय
रात्रि में एक से तीन बजे तक	यकृत

प्राण और श्वास– ये दो मस्तिष्क नियंत्रण के लिए बहुत उपयोगी तत्त्व हैं। प्राण हमारी जैविक शक्ति है। उसके द्वारा हमारा शरीर, वाणी, मन, श्वासोच्छ्वास इंद्रियां और जीवन संचालित है। श्वास प्राणशक्ति द्वारा ग्रहण की जाने वाली पौद्गलिक वर्गणा है। इन दोनों के नियमों को समझकर मस्तिष्क की शक्तियों का अनपेक्षित उपयोग किया जा सकता है।

वैज्ञानिक जैविक घड़ी के बारे में जो खोज कर रहे हैं, वह खोज योग और अध्यात्म के क्षेत्र में स्वरचक्र और ऋतुचक्र के नाम से हुई थी। वर्ष में छह ऋतुएं होती हैं। उन ऋतुओं में शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर मनुष्य बदलता रहता है। यह एक स्थूल तथ्य है। मनुष्य प्रतिदिन बदलता है। उसका स्वभाव जैसा प्रात:काल होता है, वैसा मध्याह्न में नहीं होता। जैसा मध्याह्न में होता है, वैसा सायंकाल नहीं होता। इस परिवर्तन का हेतु ऋतुचक्र है। प्रत्येक मनुष्य एक दिन में पूरे ऋतुचक्र का अनुभव करता है–

प्रथम प्रहर	बसंत
मध्याह्न	ग्रीष्म
अपराह्न	प्रावृट्
संध्या	वर्षा
आधी रात	शरद
अपर रात्रि	हेमन्त

ऋतुचक्र में होने वाले परिवर्तन इस दैनिक ऋतुचक्र में भी होते हैं। समूचे दिन एक जैसा मूड नहीं रहता। उसका हेतु यह ऋतुचक्र है। मस्तिष्क की क्रिया स्वरचक्र, प्राणचक्र, समयचक्र और ऋतुचक्र सापेक्ष है। इस सापेक्षता को समझकर सफलता की दिशा में चरण आगे बढ़ाए जा सकते हैं।

अभ्यास

1. सहअस्तित्त्व के लिए अनेकांत की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए बतायें कि जीवन में उसे कैसे अवतरित किया जा सकता है ?
2. आर्थिक साम्य के लिए अहिंसा की उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डालें?
3. समाज विकास के लिए भावात्मक स्वास्थ्य क्यों जरूरी है तथा उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. अणुव्रत का स्वरूप

5.1 अणुव्रत दर्शन

अणुव्रत नैतिकता का वह महत्वपूर्ण आयाम है जिस
जीवन को सफल बनाया जा सकता है। सांसारिक व्यामोह औ
दौड़ ने मानव जीवन को नरक बना दिया है। ऐसी विकट एवं भयावह स्थिति में मानव जीवन को नवप्रभात की प्रथम किरण का दर्शन कराने के लिए उद्यत है अणुव्रत। अणुव्रत के बारे में जानकारी करने के पूर्व व्रतों को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

चरित्र-विकास के लिए किये जाने वाले संकल्प का नाम अणुव्रत है।

अनन्त आकाश है और अपार पदार्थ। मन पर कोई नियंत्रण नहीं है। वह दौड़ता है, इंद्रियां दौड़ती हैं। यह खुली दौड़ मनुष्य को भोगी, हिंसक और क्रूर बना देती है।

क्रूरता से अशान्त हो मनुष्य ने साध्य के बारे में सोचा। आखिर उसने जान लिया कि जीवन का साध्य शान्ति है।

शान्ति को पाने के लिए उसने क्रूरता को छोड़ना चाहा। क्रूरता को छोड़ने के लिए हिंसा, हिंसा को छोड़ने के लिए भोग और भोग को छोड़ने के लिये इंद्रिय और मन की निरंकुशता को छोड़ने का अभ्यास किया। वह अभ्यास आत्मा की सहज पवित्रता और उसे अपवित्र बनाने वाली मन की चंचलता के बीच अवरोध बन गया, इसलिए हमारे आचार्यों ने इसे व्रत कहा।

व्रत अणु क्यों ?

व्रत अपने आप में पूर्ण होता है, किंतु आचरण की क्षमता समान नहीं होती, इसलिए उसके दो स्तर किये गये हैं– महाव्रत और अणुव्रत। असीम रूप में स्वीकार किये जाने वाले व्रत महाव्रत और सीमा के साथ स्वीकार किये जाने वाले व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

स्वरूप की दृष्टि से व्रत एक है। व्रत का काम है– आत्मा और उसे अपवित्र बनाने वाली दुनिया के बीच में दीवार खड़ी करना। पर दीवार कमजोर भी हो सकती है और मजबूत भी। अभ्यास के आरम्भ में वह उतनी मजबूत नहीं बनती जितनी कि अभ्यास करते-करते युगों बाद बनती है। प्रत्येक आत्मा मोहाणुओं के आकर्षण से खिंची रहती है। वह उन्हें विकार की ओर खींचता रहता है। उस आकर्षण के खिंचाव से बचने के लिए जो अधिक सफल होता है वह विकार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक दूर जा सकता है और जो कम सफल होता है उसकी विकार से दूरी भी कम होती है। इस वस्तु-स्थिति के आधार पर ही व्रत के प्रारम्भिक या अल्प-अभ्यास को अणु कहा गया है। आत्मा और अपवित्रता के बीच लोहावरण सघन नहीं बना, दीवार मजबूत नहीं बनी, इसलिए उसका नाम अणुव्रत हो गया।

व्रत और समाज-कल्याण

भारतीय मानस में व्रतों के संस्कार बहुत पुराने हैं। ये हृदय की स्वतंत्र भावना से लिए जाते हैं। कानून को तोड़ने में संकोच नहीं होता। व्रतों को तोड़ने में बहुत बड़ा पाप माना जाता है। व्रत न लें, यह पाप है; पर लेकर उसे तोड़ डालें, यह महापाप है– यह यहां की सामान्य धारणा है।

लोग कहते हैं– इतने महर्षि हुए, व्रतों का जी-भर उपदेश दिया पर बना क्या ? अनैतिकता बढ़ी है, कम नहीं हुई। सोचने का अपना-अपना दृष्टिकोण है। हमें तो लगता है कि व्रतों से जो हो सकता है, वह हुआ है । जो व्रतों से नहीं हो सकता, उसकी आशा हम उनसे क्यों करें ?

लोग व्रतों से समाज की व्यवस्था चाहते हैं। हमारा विश्वास यह है कि व्रत समाज को व्यवस्था नहीं दे सकते। व्रत हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता और पवित्रता के प्रतीक हैं। व्यवस्था में दबाव होता है। व्रत आत्मा का धर्म है और व्यवस्था है सामूहिक जीवन की उपयोगिता। व्रत अपरिवर्तित रहा है और व्यवस्था देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रही है। जो लोग व्यवस्था की दृष्टि से व्रतों का मूल्य आंकते हैं, उनकी धारणा में व्रत असफल रहे हैं। व्रतों के आचरण से समाज की भोग-वृत्ति पर बहुत अंकुश रहा है। हिंसा को खुलकर खेलने का अवसर नहीं मिला। इस दृष्टि से देखें तो व्रत समाज की आत्मा के प्रेरक रहे हैं।

अणुव्रत नया तत्त्व है या प्राचीन

व्रत नये नहीं हैं। उनका संकलन नया है। वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में जिन व्रतों की अपेक्षा है, उन्हें अणुव्रत में संकलित किया गया है।

व्रत शब्द का प्रयोग वैदिक, जैन और बौद्ध– तीनों परम्पराओं में मिलता है। अणुव्रत का प्रयोग पहले-पहल जैन आगमों में हुआ है। जिन्होंने अपवाद और आपद्-धर्म की छूट से रहित अहिंसा का आचरण करना चाहा, उनके अहिंसा धर्म को महाव्रत कहा गया। बिना प्रयोजन नहीं मारूंगा, निपराध को नहीं मारूंगा, संकल्पपूर्वक नही मारूंगा– इस प्रकार अपवाद और आपद्-धर्मपूर्वक जिन्होंने अहिंसा का आचरण किया, उनका अहिंसा-धर्म अणुव्रत कहलाया। मुनि का धर्म महाव्रत और सामाजिक व्यक्ति का धर्म अणुव्रत कहलाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में श्रावको के व्रतों को ही अणुव्रत कहा जाता है। 'अणुव्रत' शब्द जैनागमों से लिया गया है पर यहां इसका प्रयोग 'छोटे-छोटे व्रत'– इस सामान्य अर्थ में किया गया है।

प्रश्न– जो व्यक्ति अणुव्रती बनते हैं, वे जीवन-शुद्धि में विश्वास करने वाले होते हैं। क्या उनका यह विश्वास उनके जीवन-व्यवहार में प्रतिबिम्बित है ?

उत्तर– अणुव्रती व्यक्तियों के व्यवहार जीवन-शुद्धि के प्रतीक हों, यह बहुत आवश्यक है। किन्तु हर व्यक्ति लम्बे समय तक एक गति से नहीं चल पाता। कुछ व्यक्ति अपने व्यवहारों से जीवन-शुद्धि के विश्वास को पुष्ट करते हैं और कुछ व्यक्ति प्रतिगति कर लेते हैं। मन की प्रबलता और दुर्बलता प्रगति और प्रतिगति में निमित्त बनती है। प्रगति सबल मनोबल की प्रतीक है। जो मनुष्य किसी भी स्थिति में मूलस्थिति से पीछे न हटने का संकल्प लेकर चलता है, वह प्रतिगति नहीं करता। किंतु जिसका मानसिक संकल्प दुर्बल होता है, वह बार-बार पीछे मुड़कर देखता है और अनुस्रोत में बहने के लिए उद्यत हो जाता है। प्रतिस्रोतगामी व्यक्ति ही अपना उत्कर्ष कर सकता है। इसीलिए आगम सूत्रों में कहा गया है–

अणुसोय पट्ठिए बहु जणम्मि,
पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा,
दायव्वो होउ कामेणं।

सारा संसार अनुस्रोत में बह रहा है पर जो व्यक्ति अपना अपूर्व निर्माण करना चाहता है (मुक्त होना चाहता है), प्रतिस्रोतगामिता के लक्ष्य से प्रतिबद्ध है, उसे स्वयं को प्रतिस्रोत में ही मोड़ना चाहिए। प्रतिस्रोतगामिता में बाधाएं बहुत आती हैं। इसलिए कुछ व्यक्ति विचलित हो जाते हैं। विचलित व्यक्तियों के व्यवहार उनके विश्वास के अनुरूप नहीं हो सकते। जो व्यक्ति दृढ़ संकल्पी होते हैं और अपने लक्ष्य से प्रतिबद्ध रहते हैं, उनके व्यवहार उनके विश्वास के साक्षी बन जाते हैं। अतः हमें यह मानकर चलना चाहिए कि कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में उनका विश्वास प्रतिबिम्बित है और कुछ व्यक्ति अपनी दुर्बल मनोवृत्ति के कारण विश्वास और अविश्वास की दोहरी भूमिका निभा रहे हैं।

---

1. श्रमणों की उपासना और व्रतों का आचरण करने वाला गृहस्थ श्रावक कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5.2 व्रतों की भाषा और भावना

प्रश्न– अणुव्रत के व्रत ग्यारह हैं और नैतिकता का क्षेत्र व्यापक है। क्या ग्यारह व्रतों में मनुष्य की समग्र नैतिकता समाविष्ट हो सकती है ?

उत्तर– कोई भी व्यक्ति जो एक निश्चित लक्ष्य तक पहुंचना चाहता है, सबसे पहले दिशा का निर्धारण करता है। गंतव्य की दिशा सही होने पर ही लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। यह तथ्य यथार्थ है कि नैतिकता की दिशाएं बहुत व्यापक हैं और व्रतों की संख्या बहुत सीमित है। इससे व्रती व्यक्तियों की नैतिकता एक सीमित परिधि में बंधी हुई-सी प्रतीत होती है। किन्तु व्रतों की भावना में नैतिकता के जो संकेत हैं, वे स्वयं प्रकाश-स्तंभ बने हुए हैं। भावना के आलोक में नैतिकता की दूसरी सारी दिशाएं सहज रूप में स्पष्ट हो जाती हैं।

नैतिकता की कुछ दिशाओं का प्रतिनिधित्व व्रतों की भावना में अंतर्निहित है। भावना को सूक्ष्मता से समझने का प्रयास किया जाए तो ये दिशाएं स्वयं खुल जाती हैं। कुछ दिशाएं ये हैं–

1. करुणा
2. समानता
3. मानवीय एकता
4. प्रामाणिकता
5. यथार्थ चिन्तन
6. कथनी और करनी में सामंजस्य
7. भोग-संयम
8. ममत्व-मुक्ति

नैतिकता की इन व्यापक दिशाओं के आधार पर ही व्रतों की रचना हुई है। जो व्यक्ति इन दिशाओं को नहीं समझता वह व्रतों को स्वीकार नहीं कर पाता। व्रतों की भाषा स्वीकार भी कर ले पर वह उनका पालन नहीं कर पाता।

नैतिकता भाषा की परिधि में समाहित नहीं हो सकती। नैतिकता एक भावना है जो असीम और अनन्त है। अहिंसा अणुव्रत की भावना समता या करुणा में अन्तर्निहित है। जो व्यक्ति करुणा को अच्छी प्रकार पकड़ लेता है, वह अनैतिक नहीं हो सकता। अनैतिकता का मूल आधार है– क्रूरता। जो व्यक्ति क्रूर होता है वही किसी का हनन कर सकता है, किसी को सता सकता है, किसी को लूट सकता है और किसी का शोषण कर सकता है। संक्षेप में कहा जाए तो क्रूर व्यक्ति ही दूसरे के हितों की हत्या कर सकता है।

जिस व्यक्ति के हृदय में करुणा का स्रोत फूट पड़ता है, वह किसी के प्रति क्रूर नहीं बन सकता, किसी का अहित नहीं सोच सकता और असत् आचरण नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकता। वर्तमान में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आज का धार्मिक अकरुण है। उसके हृदय में अहिंसा और मैत्री का स्रोत प्रवाहित नहीं है। इस स्रोत के बिना व्रत-स्वीकार मात्र भाषाग्राही रह जाता है, भावना कहीं पीछे छूट जाती है।

एक बार सर एंड्रूज ने महात्मा गांधी के सामने एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा, हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी समस्या क्या है ? आप यहां किस समस्या से चिन्तित हैं और किस बात से प्रसन्न हैं ? गांधीजी ने उत्तर दिया, मैं इस बात से बहुत चिन्तित हूं कि हिन्दुस्तान की नयी पीढ़ी से करुणा समाप्त हो रही है। करुणा समाप्त होने का अर्थ है कि हिन्दुस्तान की नैतिकता समाप्त हो रही है। इस चिन्ता के साथ मुझे प्रसन्नता भी है कि हिन्दुस्तान की मिट्टी में एक अनुपम विशेषता है जो करुणा के स्रोत को सूखने नहीं देती है। एक बार ऐसा प्रतीत होता है कि करुणा का स्रोत सूख रहा है, किन्तु वह शीघ्र ही प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत हो जाती है।

प्रश्न– अणुव्रती बनने वाले अणुव्रत के मूलव्रतों को आधार मानकर चलते हैं अथवा अणुव्रत के निर्देशक तत्त्वों के माध्यम से नयी दिशाएं भी खोलते हैं ?

उत्तर– अणुव्रती ग्यारह व्रतों का संकल्प करता है। संकल्प की भाषा संक्षिप्त है किन्तु व्रतों की भावना निर्देशक तत्त्वों में है। व्रत-ग्रहण की मनःस्थिति भावना-प्रधान होनी चाहिए। व्रतों की भावना को हृदयंगम किए बिना केवल भाषा के आधार पर चलने वाला व्यक्ति अणुव्रत के साथ न्याय नहीं कर सकता। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्रतों की भाषा में परिवर्तन हो सकता है। नैतिकतामूलक हर तथ्य भाषा में बंध भी नहीं सकता। इसलिए करणीय और अकरणीय को निर्देशक तत्त्वों के आधार पर ही लिया जा सकता है। कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय के सैकड़ों प्रकार बन सकते हैं, और व्रत की भाषा से बचकर गलत काम भी किया जा सकता है, क्योंकि भाषा की अपनी सीमाएं हैं, वह भावना की असीमता का स्पर्श नहीं कर पाती।

अणुव्रत की आचार-संहिता में 'शोषण नहीं करूंगा' यह शब्दावलि नहीं है, किन्तु शोषण करने वाला व्यक्ति अणुव्रत की भावना का आदर नहीं करता। अणुव्रत की भावना की गहराई तक पहुंचने वाला व्यक्ति किसी भी स्थिति में शोषण नहीं कर सकता और न उसे वैध मान सकता है। जिन व्रतों में संकल्पपूर्वक किसी छोटे प्राणी का वध करना भी वर्जित है, वहां मनुष्य के श्रम का शोषण करना वर्जित कैसे नहीं होगा ?

भाषा का प्रमाण न मिलने पर भी भावना के धरातल पर यह स्वतः प्राप्त है कि मनुष्य किसी का शोषण न करे।

'पशु पर अति भार लादना' व्रत की भाषा में प्रत्यक्ष निषिद्ध नहीं है। किन्तु निर्दय व्यवहार न करने की भावना का आदर देने वाला व्यक्ति अतिभार लादने का अमानवीय कार्य कैसे कर सकेगा ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने विरोधी व्यक्ति के विचारों को कुचलने की चेष्टा करना अणुव्रत की भावना के अनुसार विहित नहीं है, अत: व्रतों की भाषा में ऐसा न होने पर भी अहिंसा का व्रत लेने वाला और मानवीय स्वतंत्रता में विश्वास करने वाला अणुव्रती यह काम कैसे कर सकता है ? विरोधी व्यक्ति या विरोधी विचारों को कुचलने की बात हिंसा के जगत् में मान्य हो सकती है और घट भी सकती है, किन्तु अहिंसा के क्षेत्र में यह सर्वथा अस्वाभविक है।

प्रश्न– क्या राजनीति के क्षेत्र में विरोधी विचारों को सहने की स्थिति बन सकती है ?

उत्तर– अहिंसा में विश्वास रखने वाले राजनैतिक व्यक्ति के लिए सहिष्णु होना बहुत जरूरी है। सहिष्णुता के अभाव में उनका विश्वास फलित नहीं हो सकता। अभी हाल ही की घटना है। एक राजनैतिक व्यक्ति ने वैचारिक स्वतन्त्रता का आदर करते हुए विरोधी विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए हाथ बढ़ाया। इस काम के लिए अपनी ओर से पहल करके उसने विनम्रता का परिचय दिया। इसके बारे में पूछा गया कि एक राजनैतिक व्यक्ति ऐसा कर सकता है क्या ? उसने इस प्रश्न का एकटूक उत्तर देते हुए कहा– एक राजनैतिक व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। पर क्या एक धर्माचार्य का शिष्य ऐसा कर सकता है। यदि नहीं तो फिर वह सही अर्थ में शिष्य, अहिंसक या धार्मिक कैसे हो सकता है ?

थोड़ी-सी गहराई में जाने का प्रयास हो तो व्यवहार में परिलक्षित होने वाले विरोध का विलय हो सकता है। विरोध का विलय न हो तो भी वैचारिक विरोध से कोई खतरा नहीं होता। खतरा तब होता है जब विरोधी स्थिति के अस्तित्व को समाप्त करने का भाव पैदा हो जाता है। अणुव्रत के निर्देशक तत्त्व समन्वय का संकेत देते हैं, अत: वहां विरोधी विचारों को कुचलने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

व्रत और अप्रमाद के संस्कार

प्रश्न– अणुव्रत का पहला नियम है– मैं चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा। यह व्रत अहिंसा के परिपूर्ण विकास की प्रेरणा है अथवा उसकी खण्डश: साधना का प्रतीक है ?

उत्तर– अहिंसा या मैत्री एक अखण्ड तत्त्व है। इसे खण्डश: विभाजित कैसे किया जा सकता है ? अमुक व्यक्ति के प्रति हिंसा और अमुक के प्रति अहिंसा– ये दोनों स्थितियां साथ-साथ चलें, यह बहुत आश्चर्य की बात है। जिस व्यक्ति में अहिंसा की समग्रता है, जिसके अन्त:करण में अहिंसा का अजस्र प्रवाह है, उसके लिए कोई भी प्राणी हिंस्य नहीं होता। अहिंसा की इस अखण्डता का सम्बन्ध व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियों के साथ है। किन्तु जहां शरीर-धारण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिवार्यता है, परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ सम्पर्क है, वहां व्यवहार जगत् में व्यक्ति को कुछ ऐसे काम करने पड़ते हैं, जो अहिंसा की अखण्डता में बाधक हैं।

जिन व्यक्तियों का जीवन अहिंसा की दृष्टि से परिपूर्ण है वे बाह्य व्यवहार में भी पूर्ण जागरूक रहते हैं, किन्तु जिनकी अन्तर्-वृत्तियों में चैतन्य का अपेक्षित विकास नहीं है, उनका बाह्य व्यवहार भी उस सीमा तक अप्रमाद-शून्य होता रहता है।

वह व्रत अन्तर्-वृत्तियों के जागरण के लिए है। जिस व्यक्ति की वृत्तियां जागृत हैं, वह अंश मात्र भी हिंसा नहीं कर सकता। उसकी दिशा हिंसा के निर्मूलन की दिशा है। उसका आदर्श है– मैं हिंसा नहीं करूंगा अथवा मैं पूर्ण अहिंसक रहूंगा। इस आदर्श तक पहुंचने के लिए व्यक्ति हिंसा के अल्पीकरण की दिशा में प्रस्थान करता है, किन्तु देह-धारण की अनिवार्यता के लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि उपकरण सामग्री प्राप्त करने हेतु उसे हिंसा-क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। हिंसा में प्रवृत्त होने पर भी उसका संकल्प रहता है कि मैं त्रस (चलने-फिरने वाले) जीवों की हिंसा नही करूंगा। वनस्पति, भूमि, पानी अग्नि और हवा की हिंसा किए बिना जीवन चल नहीं सकता। अत: मैं अपनी दिशा में स्थावर जीवों की हिंसा का अपवाद रखता हूं।

हिंसा में प्रवृत्त होने की पहली भूमिका है– देह धारण की अनिवार्यता और दूसरी भूमिका है– जीवन की सुरक्षा। सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी प्राणियों और मनुष्यों से अपना बचाव करने की अपेक्षा होती है। इसलिए अहिंसा की ओर गति करने वाला व्यक्ति दूसरा संकल्प करता है– मैं निरपराध प्राणियों का वध नहीं करूंगा। कभी-कभी अनजान में प्राणी-वध हो जाता है। इसलिए इस व्रत की भाषा के साथ यह भी जुड़ जाता है कि निरपराध प्राणियों का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।

कुछ व्यक्ति सक्रिय रूप में अनिष्टकारी होते हैं और कुछ व्यक्ति अनिष्ट करने का अवसर देखते रहते हैं। इन दोनों श्रेणियों के व्यक्ति अपराधी होते हैं। इनसे अपनी सुरक्षा करने के लिए हिंसा की अनिवार्यता उपस्थित हो जाती है। किन्तु निरपराध व्यक्ति की हिंसा न करने का संकल्प लेने वाला अहिंसा की दिशा में प्रस्थान कर देता है। चूंकि शरीर और जीवन के प्रति उसका ममत्वभाव जुड़ा रहता है, अत: वह अहिंसा को खण्डश: स्वीकार करता है। अहिंसक व्यक्ति के मन में हर हिंसा के प्रति अशक्यता का अनुभव होना चाहिए। यह अनुभव ही उसे अखंड अहिंसा तक ले जा सकता है। हर व्यक्ति शरीर और जीवन के प्रति सर्वथा निर्ममत्व की स्थिति में नहीं जा सकता। इसलिए अहिंसा के क्रमिक विकास का मार्ग सुझाया गया है।

प्रश्न– सामाजिक व्यक्ति आक्रामक या अपराधी व्यक्ति का अपराध सुरक्षा की दृष्टि से क्षम्य नहीं मानता किन्तु अपराध की संभावना से किसी व्यक्ति या प्राणी का प्राणवध कोई करे, वह इस नियम की सीमा में है या नहीं ?

उत्तर– अतीत और वर्तमान में आक्रान्ता तथा भविष्य में अपनी आक्रामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तियों से बाधा पहुंचाने वाले सभी प्राणी अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। अपराध की तात्कालिक संभावना से अपराधी का चित्र उभर आता है। जैसे कोई व्यक्ति जंगल में जा रहा है। सामने से शेर आता हुआ दिखायी दिया। शेर द्वारा आक्रमण संभावित है। आक्रमण होने के बाद मनुष्य संभल नहीं सकता। इसलिए वह उसके आक्रमण से पहले ही अपना बचाव करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार की घटनाओं में आक्रमण किए बिना भी संभावित आक्रमणकारी अपराधी बन जाता है। आक्रमण और संभावित आक्रमण अथवा अनिष्ट– ये दोनों स्थितियां अपराध की स्थिति का निर्माण कर देती हैं। आक्रमण की कल्पना और सुदूर अतीत में हुए अपराध का प्रतिशोध– ये दोनों स्थितियां संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत आ जाती हैं। अत: अणुव्रत की साधना करने वाला व्यक्ति ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

व्रत का आधार

नीतिशास्त्र के अनुसार "नैतिकता व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है।" ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को "आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है, वह समाज का सच्चा कल्याण अपने-आप ही कर देता है।"[1] ऊपर की पंक्तियां व्यक्तिवादी विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वार्थपरता है, इसलिए वह समाज को नहीं भाता। नैतिकता और व्यवहार की रेखाएं दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतंत्रता का समाज के लिए समर्पण है। नीतिशास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहिर्मुखी होती है और नीतिशास्त्र की दृष्टि अन्तर्मुखी।

बहिर्मुखी दृष्टि से देखने पर व्यक्तिवाद स्वार्थपरता से अधिक मूल्यवान् नहीं लगता पर सही माने में यह स्वार्थपरायणता नहीं है। यह आत्मनिष्ठता है। अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात थोथी होती है। वैयक्तिक कल्याण की मर्यादा को न समझने वालों से समाज का उच्चतम कल्याण नहीं हुआ है। वैसे व्यक्तियों द्वारा सम्भव है समाज को बाहरी सफलताएं मिली हों, नैतिकता की दृष्टि से वे मूल्यवान् नहीं हैं। "नैतिक प्रयत्न द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।"[2]

1. नीतिशास्त्र पृ. 42, 43।
2. नीतिशास्त्र पृ. 167।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्रेयस्[1] के साथ अभ्युदय[2] आता है। वह दूसरों को चोट नहीं पहुंचाता। कोरा अभ्युदय किसी महान् साध्य का प्रासंगिक फल या गौण परिणाम नहीं होता, इसलिए वह शुद्धि की मर्यादा का वाहक नहीं रह सकता। समाज समर्पण और परस्परोपग्रह[3] की प्रयोगभूमि है, इसलिए वह अभ्युदयवादी है। एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निश्रेयस् का संगम-स्थल होता है। व्यक्ति समाज के बन्धन से बिलकुल खुला नहीं होता है तो बिलकुल बंधा भी नहीं होता। समाज की अपेक्षाओं से वह जुड़ा होता है, इसलिए वह अभ्युदयकारी होता है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों के शोधन व नियमन में वह समाजमुक्त भी होता है, इसलिए वह अभ्युदयवादी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-मोक्ष की मर्यादा में व्यक्ति-शोधन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्युदयकरण, इन दोनों की सहस्थिति लिए चलता है। यह अभ्युदय और निश्रेयस् का पृथक्करण नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निश्रेयस् दो न हों तो फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे दो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वरूप वाली वस्तुओं को एक मानना मतिविपर्यय है।

अभ्युदय और निश्रेयस् की आराधना का देश-काल की दृष्टि से बंटवारा हुआ। उससे अवश्य ही सम्मोह बढ़ा। अमुक-काल और अमुक क्षेत्र धर्म या निश्रेयस् की आराधना का है और अमुक देश, काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निश्रेयस् और अभ्युदय की साधना का बंटवारा हुआ, वह उचित नहीं है। किन्तु इनके स्वरूप का स्वयंजात पार्थक्य है, वह अकृत्रिम है, इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक कार्य निश्रेयस् के लिए हो, यह स्थिति साधना के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निश्रेयस् के लिए नहीं होती। स्वजाति, समाज, राष्ट्र तथा अपर राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निश्रेयस् से मेल खाने वाली भी बहुत सारी प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हें निश्रेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निश्रेयस् और अभ्युदय का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यकार है। निश्रेयस् की व्याख्या में "जहां तक किसी प्रकार का आचरण इस निश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है, वहां तक आचरण को भला कहा जाता है।"[4] "जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।"[5] अभ्युदय के मार्ग में भलाई-बुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और वहां राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी निंदनीय नहीं समझा जाता।

1. आत्मिक-उत्थान।
2. आर्थिक या सामाजिक उत्थान।
3. आपसी सहयोग।
4. नीतिशास्त्र, पृ. 168।
5. नीतिशास्त्र, पृ. 168।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्युदयवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मौत प्राणी की पूर्ण समाप्ति है। यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारभूत शरीर का सर्वोपरि महत्त्व है। निश्रेयस् साधना में जीवन और शरीर का महत्त्व नहीं, वहां उनके नियमन-संयम का महत्त्व है। जीवन क्षण-भंगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अंश और सार-भाव इतना ही है कि जितना वह निश्रेयस् का साधन बने। इसलिए अणुव्रत का घोष है- "संयम: खलु जीवनम्"- संयम ही जीवन है। जीना संयम नहीं है, निश्रेयस् की विचारणा में वस्तुत: जो संयम है, वही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद व्रत का आधार नहीं बन सकता। सुख मिले, दु:ख न हो, जीवन बना रहे, मौत न हो- यह प्राणी मात्र की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। सुखैषणा और प्राणैषणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुख-सुविधा में कहीं खलल न पड़ जाये- यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे संग्रह का भाव आता है। वह मन के बांध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ संग्रह के लिए संग्रह-प्रधान बन जाता है। दूसरों के शोषण, उत्पीड़न, दमन आदि सभी कुचेष्टाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। सुख पाने और दु:ख से बचने की वृत्ति को मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से इसे संग्रहवाद कहना चाहिए। अभ्युदय में सुख की कामना छूटती नहीं, इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दु:ख देकर सुख पाने और दूसरों को मारकर जीने की वृत्ति बुरी है, यह माना गया। निश्रेयस् आनन्दमय है। आनन्द चरित्र का उदात्तीकरण है। सुख पौद्गलिक तृप्ति या पूर्ति है। इसलिए वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए सुख की कामना को बुरा माना गया। शरीर-धारण और जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना सुखवाद नहीं है। वह आवश्यकता की पूर्ति है। जीवन-निर्वाह की दो प्रधान जरूरतें हैं- कपड़ा और रोटी। रोटी जैसे शरीर की सहज मांग है, वैसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है, फिर भी लज्जा का संस्कार समाज में इतना प्रधान बन गया कि कपड़ा पहली जरूरत बन गया। रोटी के बिना कई दिन काम चल सकता है, पर कपड़े के बिना एक घंटा भी काम नहीं चल सकता। रोटी की खोज में आदमी तभी जा सकता है जबकि कपड़ा पहने हुए हो। भावना का अतिरेक भी हुआ है। बम्बई की बात है। एक दिन मैंने एक भाई से पूछा- इस टाई का क्या उपयोग है? उत्तर मिला- कुछ भी नहीं। मैंने कहा- फिर इसका प्रयोग क्यों? उत्तर मिला- एक दिन इसे बांधे बिना ऑफिस में चला गया तो अधिकारी ने कहा- टाई न बांधना हो तो नौकरी छोड़ दो। जो कपड़ा आदिकाल में लज्जा, शीत, ताप आदि का त्राण बना, वह विकास पाते-पाते भावना का त्राण बन गया। यह अनर्थ-प्रयोग है। अर्थ-प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार वह जीवन की पहली जरूरत है, इसमें कोई दो मत नहीं हैं। दूसरी जरूरत रोटी है। तीसरी अपेक्षा है-घर। ये अपेक्षाएं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक अपेक्षामात्र रहती हैं, तब तक व्यक्ति इन्हें पूरी करता चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख-साधना, आराम और विलास का विशेष भाव जुड़ जाता है, तब ये अपेक्षाएं गौण बन जाती हैं और सुख-साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद। इसकी दिशा में सहज तृप्ति मिट जाती है। अतृप्ति का तांता सा लग जाता है। उपाध्याय विनयविजयजी ने सुखवाद की परम्परा को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है :

प्रथममशनपानप्रासिवाञ्छाविहस्ता-
स्तदनुवसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्यावासिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन्॥

रोटी, पानी, कपड़ा, घर, आभूषण, स्त्री, सन्तान, प्रिय-इन्द्रिय-विषय-स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द—इस प्रकार इच्छाक्रम सतत-प्रवाही है। इसमें बहने वाला व्यक्ति महाहिंसा और महापरिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर नियंत्रण जो है वही व्रत है। व्रती जीवन में इच्छा नियंत्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। व्रत के द्वारा जीवन की दिशा बदल जाने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन-निर्वाह के लिए अल्पहिंसा और अल्पपरिग्रह रहता है, बाकी की कामनाएं धुल जाती हैं। यही कारण है कि व्रत की भावना में सुख का प्रश्न प्रधान नहीं रहता। वहां मुख्य बात हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की होती है। यही व्रत का आधार है।

5.4 अणुव्रत रचनात्मक है या निषेधात्मक ?

कुछ तत्त्व रचनात्मक होकर भी निषेधात्मक होते हैं और कुछ निषेधात्मक होकर भी रचनात्मक होते हैं। युद्ध की तैयारी भाषा में रचनात्मक होती है, किन्तु उसका अर्थ निषेधात्मक होता है। अणुव्रत भाषा में निषेधात्मक है, किन्तु इसका अर्थ रचनात्मक है। जिससे जीवन का निर्माण हो, चरित्र का निर्माण हो, वह रचनात्मक कैसे नहीं होगा ?

इस आधे शतक से 'रचनात्मक' शब्द का आसन सबसे आगे बिछा हुआ है। उस प्रयत्न का आज कोई मूल्य नहीं आंका जाता, जो रचनात्मक न हो। अणुव्रत-आन्दोलन का मूल्य आंकने वाले कहते हैं—यह बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है। कुछ लोग अणुव्रत को इसलिए मूल्यवान नहीं मानते कि यह रचनात्मक कार्य नहीं है। इसके साथ कोई रचनात्मक प्रवृत्ति जुड़ी हुई नहीं है। आखिर कार्य का मूल्यावान् होना 'रचनात्मकता' पर निर्भर है। अणुव्रत-आन्दोलन है या नहीं, यह बड़ा जटिल प्रश्न है। किन्तु रचनात्मक हुए बिना आज इसकी गति भी नहीं हो सकती। यह रचनात्मक है तो अच्छी बात है। अगर वैसा नहीं है तो इसके संचालकों को इसे वैसा बनाने के लिए जी-जान से जुट जाना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सतत-गति और क्रियाशील जगत् में अरचनात्मक भी कुछ है, यह नहीं माना जा सकता किन्तु यह दार्शनिक बात है। जमाना दर्शन से दो कदम आगे बढ़ चुका है। आज के लोग केवल देखना और जानना नहीं चाहते, वे बदलना चाहते हैं। परिवर्तित युग का सत्य भी नया होता है। आज का रचनात्मक दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य श्रम करे, श्रम के द्वारा कमाई हुई वस्तु को भोगे। दूसरों के श्रम पर न जिये, आलसी बन बैठा न रहे, मूल्यांकन की दृष्टि को बदले, श्रमिक को छोटा न माने, अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए स्वयं कुछ-न-कुछ पैदा करे। इस दृष्टिकोण की तुलना में पिछला जमाना अवश्य अरचनात्मक रहा है।

कर्मभूमि के आदिकाल में मनुष्य श्रमिक था। आगे चल वह श्रम-विमुख हो चला। समाज संगठित हुआ। बुद्धिवाद बढ़ा, साधन बढ़े, मान और अपमान की धारणाएं बनीं। अनुपयोगी वस्तुओं में मूल्य का आरोप हुआ और मनुष्य ने अपने सहज-भाव से मुंह मोड़ लिया। संक्षेप में कहा जा सकता है—समाजीकरण या संगठनात्मक स्थिति ने मनुष्य को स्वभाव-विमुख बना दिया। यह श्रम से अश्रम की ओर जाने का इतिहास है।

समाजीकरण के अभाव में बुद्धि का वाद नहीं होता। ज्ञान आत्मा का सहज धर्म है। बौद्धिक विकास का क्रम स्पर्धा पर आधारित है। स्पर्धा की भूमि समाज है। उसने बुद्धि को बढ़ाया, बुद्धि ने साधनों का विस्तार किया। भूख एक है, प्यास एक है, किन्तु उन्हें मिटाने के लिए आज अनगिनत साधन हैं। साधन-सामग्री ने मनुष्य को छुटपन और बड़प्पन में बांट दिया। जिसे साधन अधिक सुलभ हों वह बड़ा और जिसे साधन कम सुलभ हों वह छोटा। बड़ा बनने वाला पूजा पाने लगा और छोटा उसे पूजने लगा। इस कृत्रिम भेद से अनावश्यक वस्तुओं में कृत्रिम मूल्य का आरोप हुआ। खान-पान के लिए अनुपयोगी वस्तुएं मूल्यवान् बन गयीं। मनुष्य का मोह श्रृंगार से जुड़ गया। मोह की आंख से मनुष्य ने देखा—काम करना छोटी बात है। वह श्रम से अश्रम की ओर झुक गया। रचनात्मक युग समाप्त हो चला।

रचनात्मक और अरचनात्मक—ये दोनों एक ही पहिये के दो सिरे हैं। एक ऊपर उठता है, दूसरा नीचे चला जाता है, दूसरा ऊपर आता है, पहला नीचे चला जाता है। ये दोनों मिल दुनिया की गाड़ी को आगे धकेल रहे हैं।

मनुष्य का सहज भाव है कि वह अपने जमाने को सर्वोत्कृष्ट देखना चाहता है। जमाना अपनी गति से चलता है। उसमें कारण-कार्य की नियत परम्पराएं प्रतिफलित होती हैं। आज जो अरचनात्मकता का जमाना है। वह समाजीकरण और उसकी छत्रछाया में पलनेवाली मिथ्या धारणाओं का परिणाम है। जब कभी रचनात्मक युग होगा, वह समूहीकरण और उसके पल्ले पड़ी मिथ्या धारणाओं के विघटन का परिणाम होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य में परिणाम के प्रति जो अभिलाषा होती है, वह कारण के प्रति नहीं होती। वह स्वर्ग चाहता है, स्वर्ग की साधना नहीं चाहता। आज बहुत लोग चाहते हैं मिथ्या धारणाएं टूट जायें, कृत्रिम भेद-रेखाएं मिट जायें, सब समान हो जायें और आत्मनिर्भर बन जायें। यह परिणाम की चाह तीव्र हो रही है। कारण की चाह बहुत ही क्षीण है।

समाजीकरण इतना हो रहा है कि व्यक्ति कोरा यंत्र रह गया है। वैयक्तिकता की बात कोई सुनना ही नहीं चाहता। व्यक्ति का समाज से भिन्न जैसे अस्तित्व ही न हो, वैसे वह जकड़ा जा चुका है। क्या यह सही हुआ है ? सामूहिकता सहज अनुभूति नहीं है। वह कुछेक के दिल में विचारों से पनपी है और बहुतों पर डंडे के बल से थोपी गयी है। आज का समाजवाद व्यक्तिवाद के विकृत स्वरूप की प्रतिक्रिया है। वह मनुष्यों के भौतिक हितों के स्तर को समतल बनाने में सफल भी हुआ है, किंतु वह अब भी परिणाम की धूरी के आसपास घूम रहा है, कारण की खोज बहुत दूर है। व्यक्तियों और वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आवश्यकता पूर्ति की चिन्ता का भार कम भी हुआ है, किन्तु मानवीय दुर्बलता का प्रतिकार नहीं हो सका। मान और अपमान, छोटा और बड़ा होने की वृत्ति सामूहीकरण की तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है। उत्पादन बढ़ा है, श्रम का मूल्य बढ़ा है, किन्तु उसका आधार है– पदार्थ और समाज। यह सारा परिणामवाद है। इसमें रचनात्मकता के अभाव की प्रतिकार-शक्ति नहीं है।

अणुव्रत आन्दोलन को 'अरचनात्मक' कहने में मुझे जरा भी हिचक नहीं होती। परिस्थितियों के भार से मनुष्य को रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर ले जाने वाला वाद और नीति क्षणिक उपचार है। वह मानव-स्वभाव का परिवर्तन नहीं है। मानव का स्वभाव [कहना चाहिए विभाव लेकिन वही आज स्वभाव जैसा हो रहा है] असंयम में रम रहा है, पदार्थ पर टिका हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य नया मोड़ देना है। उसे अपने-आप में टिका संयम में रमाना है। समस्या का स्थायी समाधान संयम है। मोह इतना बढ़ गया कि संयम की खोज कठिन हो रही है। व्यक्ति अकेला आता है और वैसा-का-वैसा चला जाता है। वह जीवन-भर सम्बन्धों की जोड़-तोड़ में रहता है। जानकारी का उपयोग कर्म में नहीं हो रहा है, यही मोह है। बुरे-भले को जान लेना ज्ञान-मात्र है, बड़ी बात है बुराइयों को छोड़ भलाई के रास्ते चलना। इसमें बाधा डालने वाला मोह है। मोह और असंयम एक ही स्वभाव की दो अभिव्यक्तियां हैं। पदार्थ से मोह हटते ही संयम आ जाता है अथवा संयम जागते ही पदार्थ का मोह टूट जाता है। निर्मोहता ही संयम है। राजनीति के सारे वाद पदार्थ-मोह से जुड़े हुए हैं। मनुष्य मनुष्य में मोह व्याप्त है, इसीलिए वे सहजतया उनके गले उतर जाते हैं। बात स्पष्ट है। जहां तक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न है वहां तक उनसे हमारा झगड़ा भी क्या है ? रोटी की व्यवस्था जीवन का सामान्य प्रश्न है। उसे कौन कैसे हल करता है, इसे हम महत्व ही क्यों दें ? हमें महत्त्व इसे देना चाहिए कि पदार्थ पर किसकी कैसी निष्ठा है ? पदार्थ की निष्ठा में कमी आ सके, उसी में संयम के आन्दोलन की सफलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरीबी का निराकरण और रोटी का प्रश्न समाजवाद, साम्यवाद व सर्वोदय से सुलझता है। इसके आधार पर हम घाटे-नफे को कूंतना नहीं चाहते हैं। हमारी कूंत का आधार यह है कि मानव-स्वभाव में कौन कितना परिवर्तन लाता है, संयम के मूल्यांकन में कौन कैसी प्रतिक्रिया पैदा करता है ? सत्ता और शक्ति पर आधारित वाद संयम के विकास को गति नहीं देते, भले फिर वे एक बार लोगों को भुलावे में डाल दें। अणुव्रत-आन्दोलन पदार्थ की सुविधा के साथ-साथ संयम की ओर बढ़ने की दिशा नहीं है। वह संयम के स्वतन्त्र मूल्यांकन और विकास की दिशा है। दूसरों को पदार्थ की सुविधा मिले, इसलिए संयम करना उसका अवमूल्यन करना है। संयम का अपना स्वतंत्र मूल्य है। वह जीवन की पवित्रता के लिए किया जाये। पवित्रता के साथ वैयक्तिकता का विकास हो जाता है। उसके विकास में साधनों की अपेक्षा स्वल्प हो जाती है। आवश्यकता-पूर्ति के साधनों की दुनिया में छोटे-बड़ेपन का भाव विकसित नहीं होता। बड़प्पन आए बिना झूठे मूल्यों का आरोपण नहीं होगा यह 'रचनात्मक' युग के निर्माण की सही दिशा है।

रचनात्मक आन्दोलन बहुत चल रहे हैं। वे जीवन की सुख-सुविधा के कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। प्राथमिक कठिनाइयों के निवारण की दिशा देते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के पास ऐसा सीधा कोई कार्यक्रम नहीं है, फिर भी इस एक अरचनात्मक आन्दोलन को हमारे भाई सहन कर लें तो कोई बहुत बड़ा हर्ज होने वाला नहीं दीखता।

प्रश्न रह-रहकर यही उठता है क्या कोरे संयम का आन्दोलन सफल हो सकेगा ? इसके लिए आप निश्चिंत हो जाइये। भलाई की एक रेखा भी विफल नहीं होती। यह पदार्थ नहीं है, जिसकी सफलता और विकास संख्या से मापा जाये। अन्धकार में प्रकाश की एक रेखा भी पथ दिखा सकती है। अणुव्रती वही होगा, जिसे पदार्थ का तीव्र मोह नहीं है। तीव्र मोह से संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा की जाती है। अणुव्रती का मार्ग अहिंसा-प्रधान होगा। अल्प हिंसा, अल्प उद्योग एवं अल्प परिग्रह से जीवन में रचनात्मक प्रवृत्तियां स्वयं जुड़ जाती हैं। दूसरों के श्रम पर वही जी सकता है, जो महाहिंसा, महाउद्योग और महापरिग्रह का जीवन जीये। ऐसा व्यक्ति सफल अणुव्रती हो नहीं सकता। रचनात्मक प्रवृतियों से संयम कि ओर झुकाव हो भी सकता है और नहीं भी होता। संयम के पीछे स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता अपने आप आती है। ज्यों-ज्यों संयम का विकास करता है, त्यों-त्यों आत्म-निर्भरता बढ़ती जाती है। साधना-क्रम के अनुसार एक जिनकल्प की कक्षा है। उसके अधिकारी सारा काम अपने हाथों से करते हैं। बाहरी वस्तुओं से उनका लगाव बहुत ही कम होता है। इसमें सन्देह नहीं कि संयम ही सारी समस्याओं का समाधान है, भले फिर वह प्रत्यक्ष रूप से हो या अप्रत्यक्ष रूप से। वह स्वयं भले अरचनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो किन्तु रचनात्मकता इसी के आसपास फलती-फूलती है। इसलिए हमें कोरी रचानात्मक प्रवृत्ति का मोह छोड़ कुछ अरचनात्मकता को भी गति देनी चाहिए।

5.5 प्रतिरोधात्मक शक्ति

व्रत इच्छा का स्वेच्छाकृत नियमन है। इसलिए वह एक विशिष्ट साधना है। यह सहज प्रवृत्ति पर अंकुश है। प्रतिरोधात्मक शक्ति की अपेक्षा समाज में विधेयात्मक शक्ति अधिक होती है। व्यक्ति जितना करता है, उतना नियंत्रण नहीं रख पाता। प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास कम मात्रा में होता है, तभी प्रवृत्तियां बुरी बनती हैं। प्राय: सुनने को मिलता है– अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत नकारात्मक हैं– नेगेटिव हैं। इनमें विधेयात्मक नहीं जैसा है– 'पोजिटिव' पक्ष नहीं जैसा है। आलोचना सही है। इसमें व्रत-परम्परा के ह्रास का इतिहास बोल रहा है। नकारात्मक-शक्ति का महत्त्व प्रकाश में नहीं आ रहा है। इसीलिए यह आलोचना होती है और इसीलिए ये बुराइयां चलती हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विलास या चरित्र-दोष और संग्रह– ये पांच बुराई के प्रवाह हैं। शेष बुराइयां इन्हीं की छोटी-बड़ी शाखाएं हैं।

कोई व्यक्ति क्रूर क्यों बनता है ? अनुशासनहीन क्यों बनता है ? असत्य क्यों बोलता है ? चोरी क्यों करता है ? विलासी क्यों बनता है ? संग्रह क्यों करता है ? इनके तथ्यों को खोजिए। ये सब परिस्थिति की विवशता से नहीं होते। आवरण स्थूल निमित्त है। मूल कारण व्यक्ति की प्रतिरोध या नियंत्रण का अभाव है। समाज की क्रियात्मक शक्ति अति विकसित है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ करता है। आवश्यक भी करता है और अनावश्यक भी। उपयोगी भी करता है और अनुपयोगी भी। अच्छा भी करता है और बुरा भी। विलास भी है– आराम से जीवन बिताने की वृत्ति भी है। आलस्य भी है– कुछ भी किये बिना सब कुछ पा लेने की भावना भी है। जिस व्यक्ति या समाज में नियंत्रण या निरोधशक्ति का उचित मात्रा में विकास होता है, वह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा ही कार्य करता है। जिनमें निरोध-शक्ति का विकास औचित्य से अल्प होता है, वे आवश्यक, उपयोगी और अच्छा कार्य करने के साथ-साथ अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा कार्य भी कर लेते हैं। जिनमें निरोध-शक्ति नहीं होती, वे आवश्यक, अनुपयोगी और बुरे कार्यों में ही रस लेते हैं। इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति विलासी, आलसी, पेटू और लुटेरे होते हैं।

रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाज को उन्नत धरातल पर ले जाने वाले यह न भूलें कि प्रतिरोध शक्ति का विकास हुए बिना वैसा होना सम्भव नहीं है। निषेध जीवन का शुद्धि-पक्ष है। विधि [कार्य] का अति-पक्ष या अवांछनीय पक्ष इसी के अभाव में बलवान बनता है। निषेध की शाश्वत-सत्यता तक मनोविज्ञान अभी नहीं पहुंच पाया है। इसीलिए केवल रचनात्मक पक्ष को ही एकांगी महत्त्व दिया जा रहा है। रचनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तियों के लिए अभ्यास या साधना आवश्यक नहीं होती। ये जीवन की सहज अपेक्षाएं हैं। उनकी शिक्षा भी तभी आवश्यक होती है, जबकि समाज स्व-नियंत्रण की बात भूल जाता है। स्व-नियंत्रण से मिलता कुछ भी नहीं, कुछ बनता भी नहीं, किन्तु यह सब अच्छाइयों की जड़ है, इसीलिए इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्रों में नैतिकता की ऊंची भावना है उनमें आत्म-नियंत्रण का भाव भी विकसित है। वे कठिन स्थिति को झेलने के लिए अपने पर काबू पा सकते हैं। कठिनाई व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निरोधक-शक्ति वाले बिना घबराये उसे लांघ जाते हैं और जो निरोधक-शक्तिहीन होते हैं, वे उसमें डूब मरते हैं। अधिकांश मानसिक रोग और बहुत सारे शारीरिक रोग इसी निरोधक शक्ति की कमी के कारण होते हैं। आत्महत्याओं का भी यही प्रधान कारण है, और भी अनेक बुराइयां इसी के अभाव में पनपती हैं। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन ने इस मूलभूत तथ्य को पकड़ा है। उसके लगभग सारे व्रत व्यक्ति को निरोधक-शक्ति की साधना की ओर ले जाते हैं। उनका हार्द– "मत करो, मत करो," इतना ही नहीं है, किन्तु 'मत करो'– इसके पीछे नियंत्रण-शक्ति की विराट् साधना जो छिपी हुई है, साध्य वह है। अमुक मत करो– ये उसी साधना के साधन हैं जो व्यक्ति के सद्विवेक और भलाई की मौलिक वृत्ति का जागरण किये देते हैं। ये व्रत केवल प्रतिरोध-शक्ति के विकास की ओर ले जाने वाली दिशाएं हैं। व्रती बनने वाले इन्हें ही साध्य मानकर न रुकें। आलोचना करने वाले साध्य के बाहरी रूप में ही न उलझें। दोनों व्रती और आलोचक आगे बढ़ें। साध्य की विराट् सत्ता को देखें। वहां उन्हें वह सत्य दिखाई देगा, जो स्पष्ट होते हुए भी आंखों से परे है और जिसका अभ्यास समाज-धारणा, राष्ट्र-धारणा और मोक्ष-धारणा सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध-शक्ति कम हुई है। उसके अभाव में बुराइयां अधिक पनपी हुई हैं। इसलिए कुछ मत करो, जो करो उसमें अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा मत करो–यह निषेध पक्ष निष्क्रियता या अकर्मण्यता-सा लग रहा है, पर यह अकर्मण्यता नहीं, कर्मण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक शोषक और लुटेरा भी कर्मण्य हो सकता है और होता भी है किन्तु वह अनियंत्रित और अपरिष्कृत कर्मण्यता है। कर्मण्यता का परिष्कार नियंत्रण से ही हो सकता है। समाज उसे भुलाये हुए है। इसीलिए वह कठोर कार्य लग रहा है। उसकी साधना भी लम्बा समय ले सकती है, भूलें भी बहुत हो सकती है। बुराई भी सहसा नहीं आती। उसका भी क्रमिक विकास होता है।" पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है। दूसरी बार संकोच होता है। तीसरी बार संकोच मिट जाता है। चौथी बार साहस बढ़ जाता है और फिर वह सहज बन जाती है।" यह बुरी प्रवृत्ति का अभ्यास-क्रम है। उसके संस्कार पकने में पीढ़ियां गुजर जाती हैं। भलाई के लिए भी यही क्रम है। भले संस्कार दिनों, महिनों या वर्षों में ही एक-रस नहीं बन जाते। उसके परिणाम और मूर्त्त प्रवृत्तियां तो और अधिक लम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिर्फ समाज के थोड़े आदमी ही आगे आते हैं, फिर प्रयत्न होते-होते वह समाज व्यापी बन जाता है, सहज भाव से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मसात् हो जाता है। इसलिए अल्पसंख्या की बात आंदोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि यह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ एक-रस होने की संभावनाएं इसमें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कर्तव्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। जर्मन दार्शनिक कांट ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित ऋण और अनिश्चित ऋण - इस प्रकार दो भागों में बांटा है। जो अनिवार्य आदत है, वह निश्चित ऋण-कर्तव्य है। अधिकतर ये कर्तव्य निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सार्वकालीन और सार्वदेशीय होते हैं और विधेयात्मक इनके विपरीत होते हैं अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतएव उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आंदोलन के व्रत निश्चित कर्तव्य की भूमिका के हैं, इसीलिए उनका स्वरूप अधिकतया निषेधात्मक है।

5.6 अणुव्रत की प्रेरणा

व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों का परिमार्जन करे—यह व्रत-ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वृत्ति का शोधन नहीं होता, केवल रूप और मार्ग का निरोध होता है, तब वह मिटती नहीं, रूपांतरित व मार्गान्तरित हो जाती है। बुराई नहीं मिटती, उसके रूप और प्रकट होने का मार्ग बदल जाता है।

अणुव्रती का ध्येय व्रतों की भाषा में सीमित नहीं है। ध्येय है—जीवन की शान्ति। उसके साधन इतने ही नहीं हैं, आगे और बहुत हैं। बुराइयां अशान्ति लाती हैं। वे भी इतनी ही नहीं हैं, जिनका कि यहां निषेध हुआ है। व्यक्ति की असीम योग्यता का कर्तृत्व शक्ति में हमें विश्वास है। उसका सुप्त मानस जागरण का संकेत मिलने पर जाग उठता है। जागरण का क्रम किसी का लम्बा और किसी का छोटा हो सकता है। जागरण के बाद आत्म-नियमन की बात आती है। यह भी किसी के लिए दीर्घ प्रयत्न-साध्य होता है और किसी के लिए स्वल्प प्रयत्न -साध्य।

क्या आज की सबसे बड़ी समस्या गरीबी नहीं है ?

अवश्य ही गरीबी सबसे बड़ी समस्या है, किन्तु ध्यान देने पर प्रतीत होगा कि व्यवहार की अशुद्धि उससे भी बड़ी समस्या है, गरीबी को बनाये रखने वाली समस्या है।

क्या अणुव्रत से आर्थिक समस्या को सुलझाने में योग मिल सकता है ?

आर्थिक समस्या को सुलझाने का प्रत्यक्ष साधन है—प्रचुर उत्पादन और उसका समुचित वितरण। किन्तु मनुष्य की समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अनेक समस्याएं हैं। उनमें चारित्रिक समस्या को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। जिस समाज में चरित्र-बल उन्नत होता है, वहां आर्थिक समस्या जटिल नहीं होती। चरित्र-बल के अभाव में ही आर्थिक समस्या उलझती है।

अणुव्रत स्वीकार करने से क्या भला होता है जिससे कि समाज को अणुव्रती होने की प्रेरणा मिले ?

सामाजिक मनुष्य जो व्यवहार दूसरों से नहीं चाहता उसकी रुकावट अणुव्रत का व्यापक प्रचार होने पर ही संभव हो सकती है। क्या आप चाहते हैं कि आपको पानी-मिला दूध मिले ? क्या आप चाहते हैं कि आपको मिलावटी आटा मिले ? क्या आप चाहते हैं कि आपको नकली और मिलावटी मसाले मिले ? क्या आप चाहते हैं कि आपको नकली औषधियां मिलें ? क्या आप चाहते हैं कि कोई दुकानदार असली दिखाकर नकली वस्तु दे। क्या आप चाहते हैं कि कोई आपको ठगे? आप इन सबको नहीं चाहते। यही अणुव्रत को स्वीकार करने की प्रेरणा है।

जहां आदमी को अपना स्वार्थ छोड़ना पड़े वहां अणुव्रती बनने से क्या लाभ ?

जो लोग अपने स्वार्थ को सर्वाधिक प्रधानता देते हैं, अनैतिक आचरण से धनार्जन करने या सत्ता हथियाने में जिन्हें लाभ दिखाई देता है, उन्हें अणुव्रत स्वीकार करने में कोई लाभ दिखाई नहीं देता, किन्तु सभी लोग यदि अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रधानता देने लग जाएं तो समाज की व्यवस्था टिक नहीं पाती।

5.7 व्रत साधना : सामाजिक मूल्य

व्रतों की शब्दावली में गूढ़ता नहीं है। उनमें भावनाएं गूढ़ हैं। उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है। संकल्पपूर्वक घात नहीं करने का एक व्रत है। उद्देश्यहीन हिंसा—आवेग-क्रोध, लालच, अधिकार, अभिमान, कपट की स्थिति में होने वाली हिंसा, संकल्पी हिंसा है। इसका पहला रूप शैकिया मनोवृत्ति से बनता है—शिकार खेलना, भैंसों या दूसरे जानवरों के साथ लड़ते हुए उन्हें मारना, ये और इस कोटि के दूसरे कार्य जीवन के आवश्यक अंग नहीं होते, केवल क्रीड़ा या मनोरंजन मात्र होते हैं। इसलिए अणुव्रती उनसे बचें। दूसरा रूप साम्राज्यवादी व संग्रहवादी मनोवृत्ति, जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनता है—आक्रमण करना, आग लगाना, भड़काना, विद्रोह फैलाना—ऐसी प्रवृत्तियां संकल्पी हिंसा के ही रूप हैं। 'संकल्पपूर्वक घात नहीं करना'— इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्तेजना मिले, वैसी प्रवृत्तियां न करना— यह भी उसी में समाया हुआ है। इसलिए अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहें। आक्रमण करना—यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्व से भी आगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पंचशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के रूप में बांधा है, उसमें एक शील है—आक्रमण न करना। यह अणुव्रत-भावना की बहुत बड़ी विजय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिंसा है, तभी राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की संधि का स्वर विवशता के बिना ही बलवान बनता जा रहा है। लोभ और विद्वेषवश वैयक्तिक या जातीय आक्रमण न हो, वैसा विवेक-जागरण भी अणुव्रत-आंदोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की वृत्ति का लाभ है—शान्ति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति, विश्व शान्ति। अनाक्रमण मैत्री की पहली मंजिल है। आक्रमण की वृत्ति क्रूरता से बनती है। वह अंकुरित न हो, इसके लिए छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (1) कठोर बन्धन से बांधना, (2) अंग-विच्छेद करना, (3) गरम शलाका से दागना, (4) निर्दयतापूर्वक पीटना, (5) पशुओं को आपस में लड़ाना, (6) त्रिशूल आदि के दाग लगाना, (7) बलात् दूसरों को अपने अधीन बनाना व अधीन किए रखना, ये छोटी किंतु क्रूरता की वृत्ति को पोषण करने वाली प्रवृत्तियां हैं। अनाक्रमण की भावना को प्रबल बनाने के लिए इनका निवारण भी अपेक्षित है।

शस्त्रास्त्र और गोला-बारुद के उद्योग-धन्धों का नियंत्रण भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिए आवश्यक है। आक्रमण की भावना के रहते हुए निःशस्त्रीकरण की बात नहीं फलती, वैसे ही अस्त्र-शस्त्रों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ अनाक्रमण की संगति नहीं होती। शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाले व्यापारी आक्रमण की वृत्ति को उभारने में ही अपना लाभ देखते हैं। आक्रमण की जड़ हिलाने के लिए पारिपार्श्विक पोषण-तत्त्वों को उखाड़ फेंकना होगा।

जिस राष्ट्र की व्यापारिक साख नहीं होती उसका व्यापार भी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनता। नैतिकता की कमी प्रतिष्ठा में भी कमी लाती है। आध्यात्मिक हानि के साथ-साथ व्यावहारिक हानि भी होती है। व्यापारिक अप्रामाणिकता छोड़ने का परिणाम केवल निर्यात-वृद्धि ही नहीं होता उससे राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास का अनुमापन भी किया जाता है। व्यापार में क्रूर व्यवहार —(1) माल पाकर नहीं मिला या कम मिला, (2) अच्छा माल पाकर बुरा मिला, (3) मूल्य पाकर नहीं मिला या कम मिला, (4) सौदा करके नहीं किया—करने से—ऊपर बताये हुए कार्य करने से प्रतिष्ठा टूटती है, नैतिक पतन होता है, इसलिए ऐसे कार्य जो व्रत की भाषा में नहीं आये हैं किन्तु ये उनकी भावना से परे नहीं हैं।

जिस समाज में (1) स्त्रियों का व्यापार, (2) वेश्या-वृत्ति से आजीविका, (3) लाइसेंस, नौकरी, ठेका आदि प्राप्त करने के लिए घृणित तरीकों का प्रयोग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4) स्त्रियों को धमका, फुसला, बहका, लुभाकर विवाह करना, (5) झूठे राशन कार्ड बनाना, (6) जुआखाना खुलवाना—ऐसी जघन्य प्रवृत्तियां चलती हैं, वह उन्नत सांस्कृतिक चेतना वाला नहीं होता, इसलिए व्यापार संबंधी अनैतिकता-निवारण की साधना का सामाजिक मूल्य भी कम नहीं है।

व्रत सारे-के-सारे वैयक्तिक होते हैं। धन सामाजिक होता है। एक की कमाई का लाभ अनेक को मिल जाता है। व्रत में वैसी बात नहीं है। एक व्यक्ति की व्रत-साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता। प्रासंगिक लाभ तो मिलता है। एक व्यक्ति अपनी भलाई के लिए कोई भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की भलाई में बिना कुछ किए अपना योग दे देता है। अनावश्यक संग्रह नहीं करने वाला दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का सहजभाव से निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ की बात हुई। हमारा तात्पर्य व्रत के मौलिक लाभ से है। उसका प्रतिदान नहीं होता। शांति उसी को मिलती है, जो व्रत के द्वारा अपनी वृत्तियों को शोधन करता है, वह दूसरों को नहीं मिलती। सगे-संबंधियों को भी उसका दाय-भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है, निमित्त मिल सकता है, पर शुद्धि का समर्पण नहीं होता—यही उनका वैयक्तिक स्वरूप है।

व्रतों को 'वैयक्तिक' इस अर्थ में ही कहा जा सकता है कि वे व्यक्ति की निजी स्थिति को ही प्रभावित करने वाली बुराई का नियंत्रण करते हैं। व्यक्ति के अलावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करने वाली बुराई का नियंत्रण करने वाले व्रत सामाजिक हो जाते हैं। वृत्ति-शोधन की अपेक्षा दोनों प्रकार के व्रत एक रूप हैं। यह संज्ञा-भेद प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होने वाले सहज परिणाम की अपेक्षा से है।

अभ्यास

1. अणुव्रत की शब्द संरचना पर प्रकाश डालते हुए जीवन में व्रत की आवश्यकता को सिद्ध करें।
2. अणुव्रत के निषेधात्मक व्रतों से जीवन में विधायकता का उदय कैसे हो सकेगा ?
3. क्या व्रत-साधना और सामाजिक मूल्यों को साथ-साथ निभाना संभव है? यदि हां तो कैसे ?

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. अणुव्रत आंदोलन

6.1 अणुव्रत का आंदोलन क्यों ?

प्रश्न : अणुव्रत-अनुशीलन कोई आन्दोलन नहीं है, उसमें स्थिति की गति और गति की स्थिति है, दोलन नहीं है। कुछ है तो आरोहण है, अतः आपने अपनी योजना का जो नाम दिया है, वह गलत दिखता है ?

प्रश्न स्वाभाविक है। अणुव्रती के लिए अणुव्रत अनुशीलन की वस्तु है, दोलन की नहीं। किन्तु अणुव्रत-अनुशीलन के प्रति मानव समाज में प्रेरणा जागृत हो, इसलिए आंदोलन आवश्यक है। इसकी भावना हमें इन शब्दों में ग्राह्य है कि अणुव्रतों की व्यापकता के लिए आंदोलन है। इसी भावना का संक्षेप अणुव्रत-आंदोलन है। तात्पर्य की भाषा यही है—लोगों को व्रत-ग्रहण की प्रेरणा मिले, व्रतों के प्रति आकर्षण बढ़े, लोग व्रती बनें।

प्रश्न : क्या अणुव्रत-आन्दोलन का कोई निर्धारित लक्ष्य है ?

जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी उच्चता का मापदण्ड बदले—इस उद्देश्य से अणुव्रत-आंदोलन चला और वह लक्ष्य की ओर सहज गति से बढ़ रहा है। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो, हृदय की श्रद्धा से हो—यह 'अणुव्रत' का साध्य है। आन्दोलन के प्रवर्तक की यह मान्यता है कि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती।

वैयक्तिक जीवन को पवित्र बनाए रखने की भावना के बिना चरित्र-विकास नहीं हो सकता।

वैयक्तिक चरित्र की उच्चताविहीन सामुदायिकता जो बढ़ रही है, वह गंभीरतम खतरा है।

संयमहीन राष्ट्रीयता की भावना भी खतरा है।

रंग-भेद और जाति-भेद के आधार पर जो उच्चता और नीचता की परिकल्पना है, वह भी खतरा है।

अधिकार-विस्तार की भावना त्यागे बिना निःशस्त्रीकरण की चर्चाएं चल रही हैं, वह भी खतरा है।

विश्व में जब कभी खतरे की घंटी बजती है, वह खतरा नहीं है। वह वास्तविक खतरे का ही परिणाम है। खतरा स्वयं छिपा रहता है। मनुष्य परिणाम से चौंकते हैं उसके कारण से नहीं।

मानवीय, जातीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पतन के दो कारण हैं :

(1) भोग-विलास का अतिरेक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) अति-संग्रह

प्रत्येक मनुष्य सुख-सुविधा और अधिकार की उच्चता चाहता है। यही चाह उसे दूसरों के प्रति अन्याय और अधिकारहरण की ओर ले जाती है।

इस परिस्थिति के संदर्भ में अणुव्रत का लक्ष्य इस प्रकार है :

(क) जाति, वर्ण, संप्रदाय, देश और भाषा का भेद-भाव न रखते हुए मनुष्य-मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।

(ख) मैत्री, एकता, शान्ति और नैतिक मूल्यों की रचना।

हम अणुव्रत-आंदोलन के द्वारा ऐसा वातावरण बनाना चाहते हैं जिससे प्रवाहित होकर जनता–

(1) मनुष्य जाति एक है– इस विश्वास की सुदृढ़ भूमिका पर रंग और जाति के भेद से होने वाली असमानता को नष्ट करे।

(2) आक्रमक नीति का परित्याग कर निःशस्त्रीकरण करे।

(3) आध्यात्मिक भावना के उन्नयन के द्वारा अधिकार-विस्तार की वृत्ति को नियंत्रित करे।

(4) आज का दृष्टिकोण कोरा आर्थिक बनता जा रहा है, उसे बदलने का प्रयत्न करे।

(5) प्रत्येक आवश्यक कार्य को आध्यात्मिकता से संतुलित रखे।

अगर ऐसा नहीं हुआ तो हिंसा, आक्रमण और प्रतिशोध की श्रृंखला बहुत लम्बी हो चलेगी।

व्यवस्था-सुधार या वृत्ति-सुधार

इच्छा और आवश्यकता की वृद्धि से विकास होता है– यह धारणा मिथ्या ही नहीं, घातक भी है। वैषम्य का जो विकास हुआ है, वह उसको निरंकुश छोड़ने का ही परिणाम है। सीमित इच्छाएं और सीमित आवश्यकताएं मनुष्य को मूढ़ नहीं बनातीं। असीमित इच्छाओं और असीमित आवश्यकताओं ने युग को वस्तु-बहुल बनाकर मनुष्य को रक्त का प्यासा बना डाला है और अब वह सारी सामग्री को अकेला ही निगल जाना चाहता है।

निरंकुश इच्छाएं ही शोषण करती हैं और युद्ध भी जो अभी-अभी लड़े गए थे, इन्हीं की देन है। प्रतिहिंसा से पीड़ित मनुष्य शान्ति चाहता है पर अशांति का मूल जो इच्छा का अनियंत्रण है, उसे मिटाना नहीं चाहता– यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

शांति का निर्विकल्प मार्ग है– भोग का अल्पीकरण। भोग के अल्पीकरण से परिग्रह का अल्पीकरण होगा और उससे हिंसा और असत्य का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज की दुनिया में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा को विकसित किए बिना विश्व-शान्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिए बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं, पर वे जीवन-क्रम को बदलते नहीं, अतः वे अहिंसक बन नहीं पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है और परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। लोग चाहते हैं— भोग-विलास जो हैं, वे तो चलते ही रहें, परिग्रह भी कम न हो और हिंसा भी छूट जाए। कैसा है यह व्यामोह ! भोग-विरति के बिना जो हिंसा-विरति चाहते हैं, वे बुराई की जड़ को सींचते हुए भी परिणामों से बचना चाहते हैं। जो हिंसा-विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं, उन्हें समझ लेना है कि हिंसा के कारणों को त्यागे बिना हिंसा को त्यागने का परिणाम केवल दंभ होगा, अहिंसा नहीं। आचार्य श्री तुलसी ने अपनी उदात्त वाणी में कहा— "जीवन को हलका बनाओ", क्योंकि अर्थ के गुरुतम भार से दबा जीवन पवित्र नहीं बन सकता।

जीवन-शुद्धि के लिए अहिंसा के द्वारा जिसको जीवन बदलना है, वह न दूसरों से अनावश्यक श्रम लेता है और न किसी का शोषण करता है। निश्चय में अहिंसा आती है, तब व्यवहार में स्व-निर्भरता अपने-आप आ जाती है। अथवा यों कहना चाहिए कि व्यवहार में स्व-निर्भर रहने वाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई श्रम करे या न करे, इससे अहिंसा का संबंध नहीं, किन्तु दूसरे से श्रम लेने के लिए परिग्रह व परिग्रह के लिए हिंसा इस तरह हिंसा को बढ़ावा मिलता है। स्वयं श्रम करने वाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा में नहीं फंसता। इस प्रकार स्व-श्रम निर्भरता से हिंसा को अधिक उत्तेजना नहीं मिलती। निष्कर्ष यह निकला कि अपना आवश्यक कार्य अपने आप करने से समाज में अभोग, अपरिग्रह और अहिंसा का जैसा जीवित विकास हो सकता है, वैसा विकास दूसरों के श्रम पर निर्भर रहने वाले समाज में नहीं हो सकता।

एक नयी विचारधारा आयी है, जिसका विधान है— अधिक उत्पादन करो। आवश्यकताएं अधिक होती हैं और उत्पादन कम, इस कारण समस्याएं बढ़ती हैं। आवश्यकताएं बढ़ें, वैसे ही उत्पादन भी बढ़ें तो समस्या पैदा न हो। यह हिंसा को बुलावा है। वस्तुएं थोड़ी हों, यह कोई अच्छाई नहीं, अधिक हों, यह बुराई नहीं, उन्हें कम करने की जो भावना है, वह अच्छाई है और उन्हें बढ़ाने की जो भावना है वह बुराई है। पहले वस्तुओं को बदलने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा ही तो अन्त में संस्कार बन जाती है। संस्कार की पूर्ति के लिए फिर स्पर्धा चलती है। उसमें औचित्य-अनौचित्य का कुछ विचार ही नहीं रहता और इस तरह बुराइयों का द्वार खुल जाता है। जब वस्तुओं को कम करने की वृत्ति बनती है, तब व्यक्ति को बुरे साधन अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यहीं से अच्छाई का अंकुर प्रस्फुटित होता है।

इसे कौन नहीं जानता कि अधिक उत्पादन की स्पर्धा ने हिंसा को प्रत्यक्ष निमन्त्रण दिया है! व्यापारिक स्पर्धा, राज्य-विस्तार या अधिकार-प्रसार की स्पर्धा ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के युग को अणुबमों की स्पर्धा का युग बना दिया है। स्पर्धा का अन्त सीमा में होता है, विस्तार में नहीं। अतृप्ति का अन्त त्याग में होता है, आसेवन में नहीं। यदि उत्पादन-वृद्धि के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की दिशा खुली रही तो अनुमान नहीं किया जा सकता कि मानव का अन्त होने से पहले स्पर्धा का कभी अन्त भी हो सकेगा।

आंदोलन के व्रत संयममय हैं। संयम निषेध-प्रधान होता है। करने से पहले जो नहीं करना चाहिए, वहाँ रुकना आवश्यक है। टॉल्सटाय ने अनुभव किया कि "एक वर्ग दूसरे वर्ग को गुलाम बनाए रखता है, वह दूसरों के दुःख और पाप का कारण है।" इस पर से उन्होंने एक सीधा-सादा-सा अनुमान निकाला--" मुझे दूसरों की सहायता करनी हो तो मैं जो दुःख मिटाना चाहता हूं उसे मुझे पहले वे दुःख देने बंद कर देने चाहिए।" उन्होंने बताया--"धनिकों के पास से लेकर गरीबों को देने की जो मेरी योजना थी, उसकी निरर्थकता मैं जान गया। मैंने देखा कि पैसा पैसे के रूप में हितकारी नहीं है, इतना ही नहीं, उल्टा अनिष्टकर है। कारण गरीब का हित तो उसकी अपनी मजदूरी का फल उसी के पास रहे, इसी में है।"[1]

सुख न लूटना और दुःख न देनो—यह संयम का सूत्र है और शाश्वतिक सत्य है। सुख देना और दुःख दूर करनो—यह उपयोगिता का सूत्र है और सामयिक सूत्र है। अर्थ-प्राचुर्य से समाज का विकास नहीं होता— ऐसा नहीं माना जाता। विकास की दशा भले ही दूसरी हो, प्राचुर्य को आवश्यकता से आगे नहीं ले जाना चाहिए। उपयोगिता से आगे प्राचुर्य जाता है, वह उन्माद लाता है। व्रत-विकास की दिशा में अर्थ-संग्रह कि कल्पना नहीं आती। अर्थ-दान की बात ही कहाँ रही? अर्थ संग्रह को उचित मानने पर विनियोग की बात आती है। उसकी (विनियोग) ही एक शाखा दान है। व्रत का अर्थ है- ममत्व हटे। स्वामित्व हटे। स्वामित्व हटने की पहली शर्त है—ममत्व हटे। पदार्थ-संग्रह में अपना अनिष्ट न दीखे, तब तक ममत्व-बुद्धि नहीं मिटती। संग्रह में अनिष्ट की भावना अध्यात्म दृष्टि से मिलती है। उसका आदर्श है—कोई कुछ भी संग्रह न करे। अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न उसे अपने अधिकार में ले। यह कठोर साधना है। इसके लिए जीवन की वृत्तियों का महान् बलिदान चाहिए । ऐसा न कर सके, उनके लिए फिर मध्यम मार्ग है। उसकी दृष्टि है—जीवन-निर्वाह की। आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाए। जितना संग्रह उतना बंधन-- यह व्रत-ग्रहण की पूर्व-भूमिका है। संग्रह द्वारा इष्ट-पूर्ति की कल्पना होती है, तब वह साध्य जैसा बना जाता है। आत्म-विश्वास की कमी है, उससे संग्रह को प्रोत्साहन मिल रहा है। लखपति-कोटिपति भी धन कमाने की दौड़ में जुटे रहते हैं। बुढ़ापे में क्या होगा, बाल-बच्चों का क्या होगा—ऐसी आशंकाएं उन्हें सताती रहती हैं। आत्म-विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता अपेक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाए

1. त्यारे करीशूं शूं ? पृ. 165

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और वह योग्यता के अनुरूप मिले, ऐसी स्थिति में जीवन की निश्चिन्तता आती है। भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होती है, संग्रह वृत्ति शिथिल बन जाती है। ऐसी भूमिका में व्रतों को विकसित होने का सुन्दर अवसर मिलता है। पर आज स्थिति दूसरी ही है। जहां ऐसी भूमिका है, वहां व्रतों की भावना नहीं है और जहां व्रतों की भावना है, वहां वैसी भूमिका नहीं है।

गरीबी में अभिलाषा बनी रहती है। अमीरी का दोष है- अतृप्ति। संतुष्टि या वृत्ति-संतुलन त्याग से उत्पन्न होता है। पहले वस्तु का त्याग और फिर वासना का त्याग।

त्याग समतावाद है। अपने हित के लिए सब कुछ त्यागे—यह सिद्धांत जैसा धनी के लिए है, वैसा ही गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो वस्तुएं साधनी चाहिए--(1) व्यसन-मुक्ति, (2) इच्छा-मुक्ति। धनिकों को उसके द्वारा तीन वस्तुएं पानी चाहिए--(1) व्यसन-मुक्ति, (2) इच्छा-मुक्ति, (3) अशोषण।

गरीबों को करना चाहिए--बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा की आकांक्षा का त्याग। धनिकों को करना चाहिए--बहु-भोग, बहु-परिग्रह, बहु-हिंसा और इनकी आकांक्षा का त्याग। समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा, समान भोग और विकास का समान अवसर मिलने का सिद्धांत है। सुख-सुविधा और भोग जहां साध्य बनते हैं, वहां संग्रह और शोषण घुस आते हैं। अणुव्रत आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं। इस क्षेत्र में जीवन का साध्य है—पवित्रता और वस्तु-निरपेक्ष आनन्द। सुख-सुविधा और भोग जीवन-निर्वाह की प्रक्रिया है। उसमें अधिक आकर्षण और ममकार नहीं होना चाहिए। "मैं जैसे अनुभूतिशील हूं वैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील हैं"—इसकी मार्मिकता तभी समझी जाती है जब बाहरी पदार्थों से आकर्षण और ममकार टूटता है। ये व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। मूढ़ व्यक्ति दूसरों की आनुभविक क्षमता को सही-सही नहीं आंक सकता। आध्यात्मिक दृष्टि विशुद्ध दर्शन है। वह अपनी समता का स्वीकार है। अपनी मानसिक स्थिति विषम न हो, यही साम्य है। यह अमूढ़ दर्शन है। इसी के आधार पर अणुव्रत आन्दोलन के स्वरूप आदि का निश्चय किया जा सकता है—

(1) अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप है--स्वनिष्ठता।
(2) अणुव्रत आंदोलन का ध्येय है--जीवन-शुद्धि।
(3) अणुव्रत-आंदोलन का आदर्श है--चरित्र का उत्कर्ष।
(4) चरित्र-अपकर्ष के हेतु हैं--बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा।
(5) चरित्र-उत्कर्ष के हेतु हैं--भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता।
(6) आदर्श-प्राप्ति के साधन हैं--अणुव्रत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह– ये पांच दोष हैं। इन में मूल दोष हिंसा है। उसकी वृत्ति विविध संयोगों में विविधमुखी बन जाती है। असत्य और चोरी, ये दोनों देह की अपेक्षाएं नहीं हैं। इसलिए ये वैदेहिक हैं। मुख्यतया ये सामाजिक स्थिति-सापेक्ष हैं। सामाजिक जीवन में जैसे यश, सम्मान, स्नेह की प्रवृत्तियां उभरती हैं, वैसे ही विरोध, कलह, निंदा, चुगली, दोषारोपण और भय की वृत्तियां भी प्रबल बनती हैं। इन वृत्तियों की निमित्त पा हिंसा का बीज असत्य के रूप में फूट पड़ता है। असत्य मन, असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाती है, फिर वह असत् के सत्करण और सत् के असत्करण में लग जाता है। संक्षेप में असत्य के चार कारण बतलाए हैं :

(1) क्रोध, (2) लोभ, (3) भय, (4) हास्य-कुतूहल।

क्रोध के आवेश में आकर व्यक्ति यथार्थता को बदल देता है। यथार्थ का निरूपण इच्छा-पूर्ति में बाधक बनता है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है। इसी प्रकार अनिष्ट की आशंका और हंसी-मजाक भी असत्य की इमारत है।

प्रतिष्ठा-बड़प्पन, पदार्थ का आकर्षण और अतृप्ति– ये चोरी के निमित्त बनते हैं। अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बड़प्पन के भाव पैदा ही नहीं होते। यह पर-सापेक्ष वृत्ति है। पदार्थ के प्रति आकर्षण अकेलेपन में भी होता है किन्तु वहां वस्तु का उपभोक्ता दूसरा नहीं होता, इसलिए उसे चुराने की वृत्ति नहीं जागती। जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है, वही अतृप्ति की है। अतृप्त या असंतुष्ट व्यक्ति का वस्तु-संग्रह आवश्यकता-निर्भर नहीं होता। वह केवल लालसा-निर्भर होता है, इसलिए असंतुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरे की वस्तु चुरा लेता है। इस प्रकार असत्य और चोरी, ये दोनों परिस्थिति-सहाचरित अपेक्षाएं हैं। तात्पर्य की भाषा में बुराई का बीज व्यक्ति की अपनी अशुद्धि है। सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर वह अनेक रूप बन जाती है। हिंसा ही निमित्त-भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती है।

वैयक्तिक स्थितियां या दैहिक अपेक्षाएं दो कोटि की हैं– देह-प्रधान और मानस-प्रधान। भूख-प्यास आदि देह-प्रधान अपेक्षाएं हैं और वासना, अब्रह्मचर्य, सुख-दुःख आदि मानस-प्रधान। अब्रह्मचर्य दैहिक है, फिर भी बाहरी निमित्त से उत्तेजित होता है, इसलिए परिस्थिति-सापेक्ष भी है। परिग्रह कुछ अंशों में दैहिक है, कुछ अंशों में वैदेहिक और बाहरी स्थिति सापेक्ष है। खान-पान भी परिग्रह है, इस दृष्टि से वह दैहिक भी है। परिग्रह के अधिक संचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, इस दृष्टि से वह वैदेहिक भी है। व्यक्ति का मापदण्ड धन बन जाता है। जिसके पास धन थोड़ा, वह छोटा और जिसके पास धन बहुत, वह बड़ा–ऐसी परिकल्पना आ जाती है। परिग्रह के संचय का निमित्त बदल जाता है, फिर वह जीवन-निर्वाह का साधन न रहकर विलास और बड़प्पन का साधन बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। निमित्त-परिवर्तन का सिद्धान्त व्यापक है। प्रत्येक कार्य की प्रारम्भ-दशा का निमित्त आगे चलकर उसी रूप में नहीं रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शीत और गरमी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। कुछ समय बाद दैहिक अपेक्षा जो थी, वह काल्पनिक बन गई। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लाज-रक्षा का विकास होते-होते सारा तन कपड़ों से ढंक गया। इससे आगे विकार आवरण भी एक निमित्त बना। शोभा, अभिमान और स्पर्धा— ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र परिधान की जो उपयोगिता थी, उसे सौंदर्य और स्पर्धा ने रौंद डाला।

समाज की धुरी अर्थ-नीति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अर्थ-नीति के आधार पर समाज बनता-बिगड़ता है। उसकी अच्छाई और बुराई के आधार पर वह अच्छा और बुरा बनता है। जब अर्थ-नीति श्रमनिष्ठ, स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर होती है, तब समाज भी अपने श्रम पर भरोसा करने वाला और अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ने वाला होता है। अर्थ-नीति जब अशिक्षित और शक्तिहीन वर्ग के श्रम का अनुचित लाभ उठाने की होती है, तब समाज विलासी, आलसी और संग्रहनिष्ठ बनता है। समाजवाद अर्थ-नीति को सर्वसाधारण उपयोगी यानी शोषण-हीन बनाने की प्रवृत्ति में संलग्न है। वैसा कुछ बनता-सा दीख पड़ता है। फिर भी वह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। वह हृदय में आये तो सत्ता के दबाव के बिना ही समाज शोषणहीन बन जाए। पर जैसे जाति के आधार पर छोटा-बड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जातिवाद नहीं मिटनेवाला है वैसे ही धन-राशि प्रतिष्ठा, बड़प्पन, विलास और सुविधातिरेक का साधन बनी रहेगी, उस स्थिति में न अपरिग्रह-वृत्ति जीवन में आने वाली है और न धन का आकर्षण छूटने वाला है। व्यवस्था सुधार समाजवादी योजना का फलित है। अपरिग्रह के सिद्धांत का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिए व्यवस्था सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। इस भूमिका में दोनों के साध्य एक न होने पर किंचित् सापेक्ष बन पाते हैं। सुधरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधरने में कठिनाई आती है। इसलिए साधारणतया (विशेष जागरूक व्यक्तियों को छोड़कर) वृत्ति-सुधार को शोषणहीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वृत्ति-सुधार हुए बिना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिए व्यवस्था-सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहती है।

आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन रहे, तब अणुव्रतों की कल्पना सफल नहीं हो सकती। अणुव्रती अणुव्रतों का पालन भी करे और जीवन को आर्थिक भार से बोझिल बनाये रखे, ऐसा बनना सम्भव नहीं। विलासी जीवन में धन चमकता है। सादगीपूर्ण जीवन में व्रत चमकते हैं। धन और व्रत, दोनों एक साथ नहीं चमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन-निर्वाह उपयोगी धन मिल जाता है किन्तु आडम्बर और विलास योग्य धन नहीं मिलता। विलास के लिए धन का अतिरेक और उसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन ऐसा होता है कि व्रत टूट जाते हैं। इसलिए अणुव्रती को जीवन-व्यवस्था का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चालू क्रम बदलना पड़ता है। ऐसा किये बिना वह व्रत और विलास दोनों साथ ही न्याय नहीं कर सकता। न वह सफल व्रती ही बन सकता है और न सफल विलासी ही रह सकता है। इस पर से अणुव्रती के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात आती है। शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं, किन्तु समाज-व्यवस्था वैसी न बनने पर भी कम-से-कम उसे तो अपना जीवन-क्रम बदलना ही होगा। धन के द्वारा बड़ा बनने की भावना, दूसरों से अधिक सुविधा पाने की भावना, दूसरों के श्रम द्वारा अनुचित लाभ कमाने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सहज धर्म हो जाता है। अणुव्रत विचार का लक्ष्य है—व्यक्ति-व्यक्ति में सहज धर्म का विवेक जगाना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा बुराइयों से बचे, बचने का उपाय करे, व्रती बने, वैसी भावना पैदा करना।

6.2 अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी जैन-परम्परा के कुशल नेता थे। गौर वर्ण, मंझला कद, सहज आकर्षण, प्रसन्न मुद्रा, चमकती आंखें और विशाल ललाट यह उनका बहिर्दर्शन है। चरित्र-विकास के उन्नयन की महान् आकांक्षा, अनाग्रह और समन्वय दृष्टि का व्यवहार में उपयोग भौतिक शक्तियों के विकास पर आध्यात्मिकता के अंकुश की सुदृढ़ आस्था, यह है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व।

धन से धर्म नहीं होता, हृदय-परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती, बल-प्रयोग हिंसा है, पारस्परिक सहयोग सामाजिक तत्त्व है, असंयमी दान का अधिकारी नहीं है आदि-आदि तेरापंथ की जीवनस्पर्शी मान्यताओं के वाहक होने के कारण वे क्रांति के सूत्रधार हैं। उनके विशाल व्यक्तित्व और कुशल वक्तृत्व ने अपार दिलों को छुआ है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से भारत और अभारत को भिन्न नहीं मानते। वे समूचे विश्व को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित और नैतिकता में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं।

मित्तलजी ने लिखा था– "अणुव्रत-चर्या की ओर प्रथम व्यवस्थित इंगित महर्षि महावीर ने किया है– ऐसी मेरी जानकारी है। अत: इस विचार के प्रवर्तक महर्षि महावीर माने जाने चाहिए, आचार्य तुलसी नहीं। मेरा दावा है कि स्वयं आचार्य तुलसी जैसा महर्षि महावीर का नम्र अनुयायी यह मंजूर नहीं कर सकता कि वह अणुव्रत-चर्या का प्रवर्तक या कल्पनाकार है। यदि आप मेरे दावे को कसना चाहें तो उसे आचार्य तुलसी के सामने पेश कीजिये और उनकी प्रतिक्रिया मुझे बताइये।"

अणुव्रत-चर्या के प्रवर्तक भगवान् महावीर हैं– यह सच है। पर अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं– यह भी उतना ही सच है। भगवान् ने अपने आप समय में अणुव्रतों के नियमों की रचना की। गृहस्थ-जीवन में उनका प्रवेश कराया। उस बात को आज ढाई हजार वर्ष हो गये। युग बदल गया। बुराइयों के रूप भी बदल गये। व्रत ग्रहण करने की परम्परा शिथिल हो गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य तुलसी ने व्रतों का नये रूप में वर्गीकरण किया। वर्तमान की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उन्हें आन्दोलन का रूप दिया। उन नये वर्गीकरण और आंदोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी हैं।

एक बार एक भाई ने पूछा– "क्या अणुव्रत का आरंभ आचार्य तुलसी ने किया है ?" मैंने कहा– "नहीं।" वही बोला– "तो फिर प्रवर्तक कैसे ?" मैंने कहा– "हम आचार्यश्री को अणुव्रत का नहीं किन्तु अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तक मानते हैं।" दूसरी बात– प्रवर्तक का अर्थ केवल प्रारम्भकर्ता ही नहीं, संचालक भी है। संचालन का दायित्व अभी आचार्यश्री के हाथों में है। इसलिए भी यह उपयुक्त है। उनको इस अर्थ में सन्देह हुआ। नालन्दा विशाल शब्द-सागर देखा। उसमें प्रवर्तक का अर्थ संचालक मिला और प्रश्नकर्त्ता को समाधान भी मिल गया।

6.3 अणुव्रती की पात्रता

इस विश्व में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियां, अनेक वर्ग, अनेक सम्प्रदाय और अनेक विचार वाले लोग हैं। भौगोलिक सीमा और विचारों के भेद ने लोगों को अनेक रूपों में बांट रखा है। वास्तव में ये सारे भेद कृत्रिम हैं। बाहरी सीमाएं मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं डाल सकतीं। इसलिए अणुव्रती बनने में जात-पांत आदि के भेद बाधक नहीं बनते।

अणुव्रत विधान के अनुसार जीवन-शुद्धि में विश्वास रखने वाला हर व्यक्ति अणुव्रती हो सकता है। अणुव्रत का मूल आधार है– मानवीय एकता और सह-अस्तित्व। जिस व्यक्ति का मानवीय एकता में विश्वास नहीं है, जिस व्यक्ति का सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं है, जिस व्यक्ति का मानवीय समानता में विश्वास नहीं है, वह अणुव्रती नहीं हो सकता।

आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म और धर्म को नहीं मानने वाला भी अणुव्रती हो सकता है ?

मानवीय एकता, समानता और सह-अस्तित्व में जिसकी आस्था है वह अणुव्रती हो सकता है, फिर वह चाहे शाब्दिक रूप में आत्मा-परमात्मा को माने या न माने, धर्म को माने या न माने, उपासना करे या न करे। ये उसकी व्यक्तिगत आस्था के प्रश्न हैं। अणुव्रत मानवीय आचार-संहिता है। जो मनुष्य है, वह मनुष्य होने तथा मानवता के प्रति आस्थावान् होने के नाते अणुव्रती होने का अधिकार-प्राप्त कर सकता है।

व्यक्ति-निर्माण की दिशा

अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक ढांचा बदल जाता है। व्रतों से वैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बदलती है, वह अन्तर् को नहीं छूती। व्रत अन्तर् को छूते हैं। अन्तर् का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होती। इसलिए एक साथ वैसा नहीं बनता। इस स्थिति में व्यक्ति-निर्माण की बात शेष रहती है। व्यक्ति समाज का अंग है। यदि एक अंग भी ज्योति-पुंज बनता है, उससे समूचे समाज को आलोक मिलता है। अणुव्रत-आन्दोलन आध्यात्मिक है। इसकी दिशा सबके साथ चलने की नहीं है। बुराइयां कर-कर सब लोग सुख-सुविधाएं पा रहे हैं, फिर अकेला मैं ही उन्हें छोड़ सुख-सुविधाओं से क्यों वंचित रहूं ? जो सबको होगा वही मुझे होगा, यह विचार अन्-आध्यात्मिक है। व्यक्ति का पतन उसके अपने बुरे कर्म से होता है, इसलिए मुझे उससे अवश्य बचना चाहिए, यह आध्यात्मिक चेतना है। व्यक्ति-निर्माण की सही दिशा यही है। आन्दोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति– (1) अभय, (2) सहिष्णु, (3) समभावी, (4) पवित्र, (5) सन्तुष्ट, (6) शान्त, (7) जितेन्द्रिय और (8) आग्रहहीन बने।

नैतिक श्रद्धा का जागरण

पहले धारणाएं बदलती हैं, फिर व्यवस्था। परिस्थितियों का परिवर्तन हुए बिना मनुष्यों का परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियां नैतिकता के अनुकूल होती हैं, मनुष्य नैतिक बनता है। वे उसके प्रतिकूल होती हैं, मनुष्य अनैतिक बनता है, यह बहुतों की धारणा है। यह परिस्थितिवाद है। भौतिकता का उत्कर्ष इसी धारणा से हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन परिस्थितिवाद का प्रचार नहीं करता। वह आध्यात्मिक है। परिस्थितियों की अनुकूलता से उसका कोई विरोध नहीं है। किन्तु उनकी अनुकूलता में ही मनुष्य नैतिक रह सकता है– इस धारणा से विरोध है। मनुष्य परिस्थितियों की उपज नहीं है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। भोग-वृत्ति से वह दुर्बल बनता है। कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, मनुष्य परिस्थिति से दब जाता है। आध्यात्मिकता का प्रवेश-द्वार है– त्याग। त्याग से आत्मा का बल बढ़ता है। आत्म-बल का मतलब है– भौतिक आकर्षण का अभाव। पदार्थ का आकर्षण मनुष्य में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल का सहज उदय हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है।

यह सच है– परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बनाकर उसे नहीं सुलझाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तर से मनुष्य की वृत्ति का रूपांतर हो जाता है। वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थतन्त्र में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं ? क्या उस व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते ? क्या राजनैतिक स्पर्धा नहीं होती ? एकतन्त्र एक परिस्थिति पैदा करता है, जनतन्त्र दूसरी। पूंजीवाद एक परिस्थिति पैदा करता है, साम्यवाद दूसरी। इनमें नैतिकता के एक रूप का विकास होता है तो उसके दूसरे रूप का विनाश भी होता है। अनैतिकता का एक रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिटता है तो उसका दूसरा रूप उभरता भी है। यह परिस्थितिवाद की देन है। उसे मुख्य मानकर चला जाये तो वह रुकेगी नहीं। आध्यात्मिकता परिस्थिति-निरपेक्ष है। मनुष्य आत्मा है। उसकी क्षमता असीम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी नैतिक रह सकता है। अणुव्रत-आंदोलन का ध्येय है– इस श्रद्धा को जगाना।

संख्या और व्यक्तित्व

किसी भी स्थिति का आकलन करने के लिए संख्या का उपयोग होता है। अणुव्रत-आंदोलन जन-मानस को कितना छू रहा है, इसकी जानकारी के लिए अणुव्रतियों की संख्या की जाती है। पर आंदोलन का विश्वास संख्या में नहीं, व्यक्तित्व में है। व्रत की सफलता चरित्र के विकास से नापी जाती है। चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति संख्या में भले ही थोड़े हों समाज के लिए पथदर्शक बन सकते हैं। व्रतों को स्वीकार कर उनके आचरण से जी चुराने वाले आंदोलन को प्रभावशाली नहीं बना सकते और अपना भी भला नहीं कर सकते। आंदोलन की भावना जन-जन तक पहुंचनी चाहिए। फिर कोई अणुव्रती बने या न बने, इसकी चिन्ता आंदोलन के संचालकों को नहीं होनी चाहिए। जो अणुव्रती बनें, उन्हें मार्ग-दर्शन मिले– इस दृष्टि से संख्या करना उचित लगता है।

संघटन या विघटन

संयम का अर्थ ही विघटन है। इसका मूल व्यक्तिवाद है। व्यक्ति का अपने लिए अपने पर अपना जो नियंत्रण है, वह संयम है। उसका संघटन हो ही नहीं सकता। अणुव्रत-आन्दोलन कोई संघटन नहीं है। इसमें पद और पदाधिकारी भी नहीं हैं। यह व्रतों के अनुशीलन की समान भूमिका है।

कुछ लोग अपने को (अवस्था या पद-मर्यादा में) बड़ा मानते हैं। वे व्रत लेने में सकुचाते हैं। उनके विचार से व्रत लेने की आवश्यकता छोटों को ही है। किन्तु यह विचार सही नहीं लगता। व्रत मन का दृढ़ संकल्प है। संकल्प की दृढ़ता के बिना बुराई से बचना सरल नहीं है। बड़ों का संकल्प सहज-भावतया दृढ़ ही होता है– ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। सम्भव है, संकल्प होने पर भी कहीं-कहीं व्यक्ति फिसल जाए। पर संकल्पहीन के फिसलने में तो कहीं बाधा ही नहीं है। संकल्प एक सहज आलम्बन है, जो व्यक्ति को फिसलने से बचाता है। संकल्प वाले व्यक्ति बहुत होते हैं। तब बाहरी रूप में सहज ही एक संगठन होता है। वे सब अपनी-अपनी पवित्रता में विश्वास रखने वाले हैं, इसलिए वास्तव में उनका संघटन विघटन ही है।

6.4 आन्दोलन का प्रसार

कुछ लोग अणुव्रत-प्रचार को समाज के लिए इष्ट नहीं मानते, यह उनका विचार है। किन्तु प्रत्येक वस्तु की अपनी मर्यादाएं होती हैं। उनकी परिधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को ध्यान में रखकर ही हम किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह सकते हैं। प्रचार की भी मर्यादाएं हैं। पहले विचार आता है, फिर आचार। दोनों के बीच में रहता है– प्रचार। प्रचार के माध्यम से ही विचार दूसरों तक पहुंच आचार बनता है।

भगवान् महावीर ने अनुभूति के स्वर में कहा– सुनो, मनन करो और आचरण करो।

वैदिक ऋषियों ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विकास-क्रम कहा।

विकास का वास्तविक क्रम यही है– जो सोए हुए हैं, उन्हें जगाओ, जो जागे हुए हैं, उन्हें प्रगति की ओर ले जाओ। प्रचार अपने-आप में न गुण है और न दोष। शुद्ध-साध्य की उपलब्धि के लिए शुद्ध साधनों द्वारा साधना के क्रम को प्रकाश में लाना प्रचार है और वह बुरा तो किसी प्रकार नहीं है। व्रत के प्रचार का मुख्य उद्देश्य समाज-शोधन है भी कहां ! उसका प्रधान लक्ष्य है– व्यक्ति-शोधन। समाज का नियन्त्रण हो सकता है, शोधन नहीं। शोधन व्यक्ति व्यक्ति का होता है। बहुत सारे शुद्ध व्यक्तियों का समाज शुद्ध बन जाता है।

समाज-संगठन की नींव सत्य और अहिंसा है– यह स्थूल-सत्य है। सचाई यह है कि वह पारस्परिक सहयोग के लिए संगठित हुआ और संगठन का परिणाम हुआ सुविधा। समाज-संगठन में सत्य और अहिंसा का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है, उतना ही मूल्य है जितना कि नदी को पार करने के लिए पुल का। समाज सत्य और अहिंसा के प्रयोग का विकास करने के लिए नहीं बना है। सुविधा या स्वार्थ की सिद्धि के लिए हिंसा और असत्य से बचना अहिंसा और सत्य का स्वतन्त्र मूल्य नहीं माना जा सकता। कोई भी हिंसक कहा जाने वाला प्राणी सतत हिंसा नहीं करता, सबकी हिंसा नहीं करता, हेतु के बिना हिंसा नहीं करता। क्या वह अहिंसा का व्रती है ? मूक प्राणी कभी नहीं बोलता, क्या वह सत्य का व्रती है ? व्रत विकास का संकल्प है। हिंसा और असत्य का न होना सुविधा के लिए भी हो सकता है, बचाव के लिए भी हो सकता है, प्रयोजन के अभाव में भी हो सकता है, और भी अनेक कारणों से हो सकता है। इसलिए अहेतुक या संगठन-हेतुक सत्य और अहिंसा को विकास-हेतुक सत्य और अहिंसा-व्रत के साथ तोलना एक अक्षम्य भूल हो सकती है।

संगठनहीन दशा में सत्य और अहिंसा का प्रचार नहीं होता, इसका कारण प्रचार की आवश्यकता का अभाव नहीं किन्तु उसकी क्षमता का अभाव है।

प्रचार लगन की परिपक्वता का लक्षण है। जैन परिभाषा के अनुसार यौगलिक-जीवन और इतिहास की भाषा के अनुसार मानव के आदि जीवन में ज्ञान का प्रचार-लब्ध विकास नहीं होता। उसका आचार सहज शुद्ध होता है, किन्तु किसी महान् उद्देश्य के लिए साधना-लब्ध शुद्ध नहीं होता। आज की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंगली जातियों में भी ऋजुता है, सचाई है, विकार की कमी है, वह सहज है। परिस्थिति की उत्तेजना न मिलने तक है। परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, दूसरा वातावरण सामने आता है, वे सहज गुण दोष में बदल जाते हैं। व्रत साधना-लभ्य आत्मस्थिति है। विकार का हेतु होने पर भी आत्मा विकृत न बने, परिस्थिति का कुयोग होने पर भी गुण दोष रूप में न बदले, उस आत्म-स्थिति का नाम व्रत है।

आज फिर से जंगली या असामाजिक जीवन बिताने की तैयारी समाज के पास नहीं है। समाज से दूर भागकर ऋजुता, सचाई और सौजन्य को पाने के लिए समाज तैयार नहीं है। इस स्थिति में हमारे पास व्यक्ति की भलाई का साधन एकमात्र व्रत ही बच रहता है। व्रत का कवच पहन व्यक्ति भौतिक आकर्षण से बचे, इसके लिए प्रचार भी आवश्यक है। मैथ्यू अर्नाल्ड की भाषा में– "समाज अपनी गति से आगे नहीं बढ़ सकता। उसे थोड़े से लोग जबर्दस्ती आगे ढकेलते हैं और ये थोड़े से लोग उन कतिपय व्यक्तियों से प्रेरणा पाते हैं, जो श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, जिनमें सूझ, साहस और शक्ति है।"

प्रचार के पीछे अपना स्वार्थ हो तो वह बुरा भी हो सकता है। हितलक्षी प्रचार बुरा नहीं होता। प्रकाश की चर्या भी अन्धकार के लिए विघ्न नहीं है, ऐसा हम कैसे कहें ?

अणुव्रत का प्रचार श्रद्धा-जागरण का प्रचार है। श्रद्धा का परिपाक ही व्रत में बदल जाता है। व्रत लेते समय उसका संकल्प लिया जाता है। व्रत का परिपाक दीर्घकालीन साधना से होता है। व्रत की पहली भूमिका है श्रद्धा का जागरण, बीच की है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण।

जैन भाषा में श्रद्धा या रुचि दो प्रकार की होती है– नैसर्गिक और आधिगमिक। मनोविज्ञान इसी तथ्य को नैसर्गिक और अर्जिता– इन शब्दों में बांधता है। रुचि आधिगमिक या अर्जिता भी होती है। इसलिए प्रचार पर पटक्षेप नहीं किया जा सकता।

आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में– 'सहज-श्रद्धा के लिए आन्दोलन जरूरी नहीं किन्तु श्रद्धा को जगाने के लिए आन्दोलन अवश्य चाहिए। शब्द की दृष्टि से यह अणुव्रतों का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आन्दोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहले श्रद्धा का है। हृदय-श्रद्धा से बदलता है, व्रत से नहीं।'

जो अहिंसा का प्रचार करेगा, वह उसकी पृष्ठभूमि और उसके परिणाम का भी प्रचार करेगा। मनुष्य मनुष्य समान है– यह दृष्टि तो स्पष्ट है ही, किन्तु अहिंसा के प्रचारक को यह समझना होगा कि आत्मा समान है। अहिंसा की पृष्ठभूमि है आत्मौपम्य– सब जीवन समान है। उसे समझे बिना अहिंसा का मर्म समझा ही नहीं जाता किन्तु सुखी रहने के लिए या समाज का सभ्य बने रहने के लिए ही कोई व्यक्ति अहिंसा या सत्य का व्रती बनता है तो बहुत छोटी बात होगी। उसे अहिंसा या सत्य का व्रती कहने की अपेक्षा अहिंसा और सत्य का स्वार्थी कहें तो अच्छा होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा भगवानदीनजी के अनुसार– "जहां मनुष्य में यह विश्वास पैदा हुआ कि वह समाज का सभ्य हुए बिना सुखी रह ही नहीं सकता, अपनी उन्नति कर ही नहीं सकता, अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता, उसे समाज का सभ्य बनकर रहना ही होगा, वहां अपने-आप समाज के प्रति सत्य व्रती बन जाता है। व्रत लेना नहीं पड़ता, उसका सत्य अपने-आप व्रत का रूप ले बैठता है।" इस विचारधारा में व्रत कहां है, यह कोरा स्वार्थ है। व्रत की कल्पना केवल स्वार्थ-पूर्ति ही हो तो भले ही उसे व्रती कहा जाए। हमारी नम्र धारणा में व्रत की भूमिका इससे ऊंची है। व्रत आत्मसंयम से आते हैं, आत्म-विकास के लिए संकल्प पूर्वक स्वीकार किए जाते हैं। इसलिए वे सामाजिक सुविधा-असुविधा से बनते-बिगड़ते नहीं। हो सकता है, कहीं-कहीं समाज का अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण उनके बनने-बिगड़ने में निमित्त बन जाए।

सामाजिक सुख-सुविधा की उपलब्धि के लिए जो सत्य और अहिंसा का विकास होगा वह सीमित होगा। जिस समूह से सुख-सुविधा उपलब्ध होती है वहां अहिंसा और सत्य का व्यवहार होगा। जहां राह नहीं मिलती, वहां हिंसा और असत्य का विकास होगा। इस भूमिका में अहिंसा और सत्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। यह तो निरा परिस्थितिवाद है। व्रत व्यक्ति का निजी 'स्व' है वह बलात् नहीं होता, स्वेच्छा से किया जाता है। व्रत कोई बाहरी वस्तु नहीं, वह इच्छा और आचरण का नियमन है। व्यक्ति में इच्छा पैदा होती है और आचरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वह आचरण जिसमें आत्मा का विकास रुके, न किया जाय और उसकी इच्छा भी मिट जाय, वैसा अभ्यास किया जाए– यही है व्रत। पराधीनता से कोई आदमी काम नहीं करता। वह व्रत नहीं, वह भोग की अप्राप्ति है। व्रत है– भोग-त्याग का स्वाधीन संकल्प और अभ्यास।

अणुव्रत-आन्दोलन व्रत की पूजा का आन्दोलन नहीं है। उसमें आदि से अन्त तक व्रतों के अभ्यास की चर्चा है। जो लोग व्रत की आराधना न कर केवल उसकी पूजा में ही श्रेय समझने लगे हैं, उनके लिए यह आन्दोलन चुनौती बन गया है।

भौतिक लाभ या अलाभ के मापदण्ड से सत्य और अहिंसा को मापा जाता है– यह भयंकर भूल है।

असत्य से दूसरे की हानि होती है, इसलिए वह अधर्म है– यह गलत है।

असत्य से आत्मा में मोह बढ़ता है, इसलिए वह अधर्म है और सत्य से उसमें प्रकाश आता है इसलिए वह धर्म है। असत्य या सत्य बोलना, यह स्थूल बात है। व्रत वह है, जिससे असत्य बोलने का मोह जो है वह मिट जाए, फिर चाहे असत्य भी बोलना पड़े। यह साधना अकेलेपन में भी मूल्यवान् है और समाज में भी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिक हानि-लाभ सच और झूठ दोनों से हो सकते हैं। उनके आधार पर इन्हें धर्म और अधर्म मानने की असंगति नहीं होनी चाहिए। उन्हें उनके स्वतंत्र गुण-दोष से ही आंकना चाहिए।

अर्थशास्त्र का नियम है– रुपये से रुपया आता है। नीतिशास्त्र का नियम है– आचरण से आचरण आता है। प्रचार की सीमा भी यही होनी चाहिए कि व्रती मनुष्य पैदा हों। उनसे व्रत की परम्परा आगे बढ़े। किन्तु जो लोग व्रत का नाम तक नहीं जानते, जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को नहीं समझते, उनकी हित-दृष्टि को ध्यान में रखकर व्रत का प्रचार किया जाएगा वह समाज का हित-पक्ष है– ऐसा हमें लगता है।

6.5 अणुव्रत के संदर्भ में नैतिकता

नैतिकता क्या है ?

नैतिकता का अर्थ है व्यवहार की शुद्धि। समाज में परस्पर व्यवहार चलता है। उस व्यवहार में प्रामाणिकता बरतना, सचाई रखना– यह नैतिकता है।

दूसरों के अधिकारों को हड़पने की चेष्टा नहीं होती, यह नैतिकता का मूल है। मूल बलहीन हो रहा है। इसलिए बहुत छोटी बातें भयंकर बन रही हैं। यदि उनका मूल दृढ़ होता तो इन छोटी-छोटी बातों को व्रत का रूप देने की आवश्यकता नहीं होती। व्रत संयम है। संयम का स्वरूप विभक्त नहीं होता। व्रत एक ही है। वह है अहिंसा। वैयक्तिक साधना में अहिंसा का अभिन्न रूप ही पर्याप्त था। उसका सामूहिक आचरण हुआ तब उसकी अनेक शाखाएं निकलीं। व्रतों का विकास हुआ। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य उसके सामाजिक पहलू हैं। यथार्थ पर पदार्थ डालने के लिए हिंसा का प्रयोग होता है, तब वह असत्य कहलाती है। पदार्थ-संग्रह के लिए उसका प्रयोग होता है, तब वह परिग्रह कहलाती है। वासना का रूप ले वह अब्रह्मचर्य बन जाती है। चोरी का प्रश्न विकट है। युग रहा तर्कवाद का। लोग सारे मसलों को तर्क से हल करना चाहते हैं। कहा जाता है युग बदल गया, समाज की परिस्थितियां बदल गईं। बदली हुई समाज-व्यवस्था में अहिंसा आदि व्रतों का कोई उपयोग नहीं रहा। वे आज अवैज्ञानिक हो गए हैं। पुराने जमाने में एक व्यक्ति को चाहे जितना धन-संग्रह करने का अधिकार था। इसलिए उसकी धनराशि का लेना चोरी माना गया। वर्तमान समाज-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के अधिकार निरंकुश नहीं हैं। आज मान लिया गया है कि धन का अनावश्यक संग्रह किसी के पास नहीं होना चाहिए। यदि कोई करे तो उसका धन लूट लेना चाहिए। यह चोरी नहीं है, चोरी है अनावश्यक संग्रह करना। हो सकता है, सामाजिक व्यवस्था और उसकी मान्यता के परिवर्तन के साथ चोरी की परिभाषा थोड़ी जटिल या विवादास्पद हो जाए। पर उसका कोई अर्थ ही न रहे, यह तो अब तक सम्भव नहीं, जब तक व्यक्तिगत स्व जैसा अधिकार मनुष्य को मिला रहेगा और मनुष्य में अतृप्ति का भाव बना रहेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोरी परिग्रह का ही एक रूप है। आकांक्षा ही मनुष्य को किसी बहाने दूसरे की वस्तु लेने के लिए प्रेरित करती है। वैज्ञानिक ढंग से वस्तु संग्रह करने में मनुष्य को माया नहीं करनी पड़ती, इसलिए वह संग्रह की प्रक्रिया कहलाती है और अवैधानिक ढंग से दूसरों की वस्तु लेने में माया का जाल बिछाना पड़ता है, विचार और कार्य की सहजता को छिपाना पड़ता है, इसलिए वह प्रक्रिया चोरी कहलाती है। वस्तु का संग्रह स्वयं सदोष है, भले फिर वह वैधानिक ढंग से हो या अवैधानिक ढंग से। वैधानिक ढंग से किये जाने वाले संग्रह को छोड़ने में सामाजिक प्राणी अपने को असमर्थ पाता है, किन्तु अवैधानिक संग्रह के लिए मनुष्य को बहुत ही नीचे उतरना पड़ता है, इसलिए उसे घृणित अर्थ में चोरी माना गया और संग्रह की इस प्रक्रिया से बचना आवश्यक माना गया।

समाज के तीन पहलू हैं– आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक आयोजन, आर्थिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक संगठन और जीवन की उच्चता के लिए नैतिक विकास आवश्यक माना जाता है। नैतिकता का स्रोत आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है आत्मा की अनुभूति और उसके शोधन का प्रयत्न। यह वैयक्तिक वस्तु है। बाहरी जगत् में व्यक्ति सामाजिक बनता है, अन्तर्जगत में वह अकेला होता है। अकेलेपन में जो अध्यात्म होता है, वही दो में नैतिकता बन जाती है। नैतिकता अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है।

क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?

नैतिकता का अखण्ड रूप है– आध्यात्मिकता या भौतिक आकर्षण से मुक्ति। वह है अहिंसा। अहिंसा और आध्यात्मिकता एक है, शाश्वत है, देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होती। आध्यात्मिकता का खण्ड रूप है– नैतिकता। स्वरूपत: वह भी अपरिवर्तित है, किन्तु प्रकारों के रूप में वह परिवर्तनशील भी है। देश-काल की स्थिति के अनुसार बुराई के प्रकार बदलते रहते हैं। बुराई नया रूप लेती है, नैतिकता का रूप भी नया हो जाता है। वास्तव में अनैतिकता का रूप भी एक ही है। वह है हिंसा। हिंसा के नये प्रकार का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का नया प्रकार बनता है। स्वरूप न हिंसा का बदलता है और न अहिंसा का।

अनैतिकता का मूल क्या है ?

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक वातावरण के वैषम्य से उद्भूत होती है– ऐसा माना जाता है। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है, पर अबाधित सचाई नहीं है। अनैतिकता भोग-वृत्ति से पैदा होती है, भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैषम्य नहीं आता। भोग की मात्रा बढ़ती है, तभी आर्थिक और राजनैतिक वातावरण का वैषम्य बढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्तेजना मिलती है। जो लोग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य में ढूंढते हैं, भोग-वृत्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियन्त्रण की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य का निवारण करना चाहते हैं, उन्होंने बुराई की जड़ को नहीं पकड़ा है। भोग-वृत्ति प्रबल रहेगी तब वैषम्य मिटेगा कैसे ? यह आलोचनीय विषय का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होता है, कुछ व्यवस्था बनती है। समय बीतता है। उभरी हुई भोग-वृत्ति फिर उस पर छा जाती है। वातावरण विषम बन जाता है। भोग के लिए शक्तियोग की उपासना लगभग समूचे मानव-समाज में परिव्याप्त है। आर्थिक और राजनैतिक समता तक पहुंचने का प्रयत्न समाज के लिए बुरा नहीं है, पर वह केवल यात्रा का विश्रान्ति-गृह है— इसे नहीं भुलाना है। आखिर वहां तक चलना है, जहां अनैतिकता की जड़ पर भोग-वृत्ति पैर रोपे बैठी है। उसे उखाड़ फेंकना है। व्रत का साध्य यही है।

समाज का समतापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढांचा ही नैतिकता का आधार है— यह भी अर्द्ध-सत्य है। लड़खड़ाती हुई आर्थिक स्थिति में भी त्याग के संस्कारों में पलने वाले लोग अनीति से परे रहे हैं और रहते आ रहे हैं। आर्थिक साम्य में भी अपराधों का लम्बा सूचीपत्र बनता है। इन दोनों स्थितियों को अन्तिम छोर या आपवादिक घटनाएं नहीं कहा जा सकता। यह सचाई है। इसी के सहारे हमें नैतिकता का आधार ढूंढना है। बुराई न करने में अपनी भलाई का विश्वास, बुराई का बुरा फल भोगने के निश्चित नियम का विश्वास, आत्मा के अमरत्व का विश्वास— ये तीन विश्वास नैतिकता के आधार हैं। इनका विकास किए बिना नैतिकता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता। समाज के लिए अपना अर्पण और सामाजिक एकता की दृढ़ भावना भी नैतिकता का स्थूल आधार बन सकती है, पर इस आधार पर नैतिकता व्यापक नहीं हो सकती। वह अपने समाज और राष्ट्र तक ही सीमित होती है। वह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक-कूटता के रूप में उभर आती है, जैसा कि बहुत सारे भौतिक-विचार-प्रधान राष्ट्रों में हो रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक साम्य के आधार में बंध जाने वाली नैतिकता का है। इसलिए हमें पथ की लम्बाई को कम नहीं नापना चाहिए। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके संस्कार दृढ़मूल किए जाए— यह बहुत बड़ी अपेक्षा है।

नैतिक विकास क्यों ?

नैतिक विकास का प्रश्न सामाजिक प्रश्न है। आध्यात्मिकता यद्यपि वैयक्तिक होती है, किन्तु आध्यात्मिकता-हीन व्यक्ति स्वतंत्र भाव से नैतिक नहीं हो सकता। इसलिए समाज के संपर्क में वह नैतिकता बन जाती है। नैतिकता के बिना व्यक्ति पवित्र नहीं रहता, इतना ही नहीं, किन्तु सामूहिक व्यवस्था भी नहीं टिक पाती। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रामाणिक न रहे, ईमानदार न रहे, तब संदेह बढ़ता है। संदेह से भय और भय से क्रूरता बढ़ती है। मनोविज्ञान के अनुसार भय के दो परिणाम होते हैं— पलायन और आक्रमण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकांश लड़ाइयां, अभियोग, आक्रमण और युद्ध भय के कारण होते हैं। यदि मनुष्य नैतिक रहे तो सहज ही विश्वास का वातावरण पैदा हो जाये। वर्तमान की विभीषिका और शस्त्र-निर्माण की स्पर्द्धा इसीलिए तो है कि एक दूसरे के प्रति संदिग्ध है, भयभीत है और क्रूरता अनायास बढ़ रही है। नैतिक विकास के बिना इस प्रवाह को रोका नहीं जा सकता।

नैतिक विकास की भूमिका

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख का मूल है– शान्ति, और शान्ति का मूल है– भौतिक आकर्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन होता है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और बड़प्पन– ये भौतिक या भौतिकता से संबन्धित हैं। इनकी अपेक्षाएं बढ़ती हैं, आत्मौपम्य बुद्धि मिट जाती हैं। प्राणी-प्राणी में या मनुष्य-मनुष्य में समता के भाव रहते हैं तो क्रूरता नहीं बढ़ती। उसके बिना अनैतिकता का पक्ष लड़खड़ा जाता है। मनुष्य-जीवन का दूसरा पक्ष रागात्मक है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य अनैतिक कार्य करता है। जातीयता या राष्ट्रीयता के आधार पर जो नैतिकता का विकास हुआ है, उसमें उसका स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह जाति और राष्ट्र के संकुचित प्रेम पर टिकी हुई होती है। वह अपनी सीमा से परे उग्र-अनैतिकता बन जाती है। जो व्यक्ति अपने राष्ट्र के हितों के लिए दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलने में संकोच न करे, क्या उसे नैतिक माना जाये ? जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्र– ये सारे समानता और उपयोगिता की दृष्टि से बनते हैं। मनुष्य-जाति एक ही है– यह बात भुला दी गयी है। गोरा गोरे से प्रेम करता है और काले को पशु से भी गया-बीता समझता है। सवर्ण और असवर्ण हिन्दुओं में भी ऐसा ही चल रहा है। जातीय और राष्ट्रीय पक्षपात भी स्पष्ट है। ये स्थूल दृष्टि से अच्छे भी लगते हैं। लोग उन यूरोपियनों को सराहते हैं, जो अधिक कीमत देकर भी अपने देशवासियों की दुकान से चीज खरीदते हैं। वही चीज दूसरी जगह कम कीमत से मिलने पर भी नहीं खरीदते। इसे राष्ट्रीय प्रेम का विकास माना जाता है। पर थोड़े से गहरे चलें तो दीखेगा कि यह, मनुष्य-जाति एक है, उसकी विपरीत दिशा है। इस कोटि की भावनाएं ही उग्र बनकर संघर्ष और युद्ध के रूप में फूट पड़ती हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र का विकास हो, अपनी जाति या भाषा की प्रगति हो, यह भावना यहीं तक सीमित रहे तो प्रियता को क्षम्य भी माना जा सकता है किन्तु वह प्रियता दूसरों के लिए अप्रिय परिस्थिति पैदा कर देती है, वहां मानव-जाति की अखण्डता विभक्त हो जाती है। इसलिए वह प्रेम भी अखण्ड मानवता की दृष्टि से अप्रेम ही है और उसके आधार पर विकसित होने वाली नैतिकता भी स्वतन्त्र मूल्यों की दृष्टि से अनैतिकता ही है, इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन का यह प्रयत्न है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतिकता का विकास केवल आध्यात्मिकता के आधार पर हो। दूसरों के अहित की चेष्टा करने से भले फिर दूसरों का अहित न हों, स्वयं उसी का अहित होता है, इसलिए दूसरों के अहित की चेष्टा से बचा जाये– यह आध्यात्मिकता है। इसके आधार पर जो नैतिक विकास होता है, वह किसी के लिए भी खतरनाक नहीं होता। यह मानव की ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र की एकता की दिशा है। यह विचार जितना दार्शनिक है, उतना ही वैज्ञानिक है। इसकी प्रक्रिया निश्चित है। इतिहास साक्षी है कि जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्र को मनुष्य ने ही जन्म दिया और आगे जाकर उसकी कृतियां ही उसके लिए अभिशाप बनीं– संघर्ष और संहार का कारण बनीं। राष्ट्र और क्या है ? व्यक्ति के स्वार्थों का विस्तार-क्षेत्र है। परिवार में स्वार्थों का विस्तार होने लगा और वह होते-होते राष्ट्र तक होता चला गया। यह स्वार्थ या भोग के विस्तार की दिशा है। इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना भी विशेष मूल्यवान नहीं है। आध्यात्मिकता इसकी विपरीत दिशा है। उसका स्वरूप है– स्वार्थ-त्याग या भोग-त्याग। अपने हित के लिए, अपनी शान्ति के लिए स्वार्थ और भोग का संयम कीजिये। नैतिकता का विकास अपने आप होगा।

"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग उठे जन-जन का मानस, ऐसी जागृति घर-घर हो॥"

6.6 अध्यात्म और नैतिकता

समाज और राज्य की परिचालिका नीति बाहरी प्रकाश है। वह देश, काल और स्थिति की उपज होती है। उसके अनुसार कोई भी कार्य बुरा या भला ही नहीं होता, किन्तु बुरा या भला भी होता है। अध्यात्म-दृष्टि या चरित्र-निर्मायिका दृष्टि अन्तर् का आलोक है। वह शाश्वत सत्य है, उसकी सीमा में देश-काल की अस्थिरता नहीं होती। नीति का आधार सद्-व्यवहार और समाज की भलाई है। अध्यात्म का आधार अन्तर्-शोधन और आत्मा की भलाई है। अध्यात्म जड़ है, नीति उसकी शाखा। जड़ के बिना शाखा का स्थायित्व नहीं होता, अध्यात्महीन नीति थोड़े में लड़खड़ा जाती है। इसलिए उसे अध्यात्म का अवलम्ब लेना ही चाहिए। इसमें एक दार्शनिक कठिनाई भी है। नीति का विचार सर्वसाधारण है, वैसे अध्यात्म का विचार सर्वसम्मत नहीं है। आत्मा, अमरत्व, पुनर्जन्म, अपने किये कर्मों का अवश्य भोग, परमात्म पद– ये अध्यात्मवाद की पूर्व मान्यताएं हैं। अनात्मवादी को ये स्वीकार नहीं होतीं, इसलिए दोनों के चरित्र का मापदण्ड अन्त तक एक नहीं होता। नीति सामाजिक जीवन की उपयोगिता है, इस दृष्टि से वह आत्मवादी को भी मान्य होती है, पर अध्यात्मवाद नीतिवादी को मान्य नहीं होता, अतएव समाज की भूमिका से परे विकास पाने वाले चरित्र का मूल्य आंकने की दृष्टि उसमें नहीं होती। अणुव्रत इस समस्या का समाधान है। उसका विचार न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीति है और न उस पर टिका हुआ है। उसका आधार शुद्ध आध्यात्मिकता है, उसकी आराधना का ध्येय आत्म-शोधन के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का परिमार्जन उससे सहज हो जाता है, इसलिए नीतिवाद और आत्मवादी दोनों के लिए वह समन्वय का मार्ग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य-शून्य, दिशा-शून्य हो गया। वह चलना चाहता है, पर दिशा नहीं मिल रही है। उसमें बुद्धि कौशल है, विवेक शक्ति है, पर जीवन की सही दिशा ढूंढने में या तो वह समर्थ नहीं है या उसे ढूंढने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। कुछ तो है ही। दिशा-भ्रम हो रहा है। उसी के परिणामस्वरूप पूंजी का मोह, आकर्षण और अधिकाधिक उपार्जन हो रहा है। पूंजी का अर्जन कितना और कैसे करना, इस परिमाण और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। इसीलिए अनावश्यक संग्रह और निकृष्टतम स्थानों से धन कमाने में मनुष्य की शक्ति खप रही है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन बोझिल बन रहा है, अनेक अनिष्ट विकल्प खड़े हो रहे हैं।

पदार्थपरक विकास जीवन में शांति लायेगा, सुख लायेगा और जो लोक-प्रतिष्ठा का पक्ष है, वह भी बलवान बनेगा, एक ऐसी मान्यता है। इसने विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित जगत् को आकृष्ट किया है या यों कहना चाहिए कि वह जगत् ही उस मान्यता का स्रष्टा है।

दूसरी मान्यता संयम-विकास या प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उसकी ध्वनि है– आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करो, अपना संयम करो, वृत्तियों का प्रतिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो।

दोनों भिन्न दिशाएं हैं। चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्वाचन करना है, उसे कहां और किस रास्ते से जाना है ? पदार्थ-विकास ने जगत् को अशान्त और विषम बना रखा है, यह प्रकाश की भांति स्पष्ट है। फिर भी इच्छा का अल्पीकरण और वस्तु का सीमाकरण अच्छा नहीं लग रहा है। विलास और बड़प्पन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। इसके निर्माण के दो हेतु हैं– व्यक्ति की आत्मिक कमजोरी और व्रत-पालन के अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र, समाज और परिवार का वातावरण व्रत पालन के अनुरूप नहीं होता, तब तक व्यक्ति को व्रत-पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन-निर्वाह की अनिश्चितता, प्रतिष्ठा और भोग-विलास की तीव्र भावना से धन के अतिमात्र संग्रह की वृत्ति पुष्ट होती है। निर्वाह की चिन्ता का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है। भोग-विलास की तीव्र भावना का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग-नियन्त्रण की शक्ति बढ़े, तभी सामूहिक रूप से अपरिग्रह की भावना को बल मिल सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो श्रम करता है, वह छोटा समझा जाता है। उसमें स्वयं ही हीनता की भावना बन जाती है। बड़ा वह है जो ज्यादा धनी है, बड़े मकानों में रहता है, भौतिक सुख-सुविधा से अधिक सम्पन्न है। भलाई और नीति के पथ पर चलकर व्यक्ति छोटा कहलाए, यह उसे अच्छा नहीं लगता। तब वह धन-संग्रह का मार्ग चुनता है। वहां सत्य और न्याय की बात गौण बन जाती है या उड़ जाती है। बड़ा-छोटा बनने का आधार पैसा रहे, वैसी दशा में अपरिग्रह की भूमिका नहीं बनती, पैसे का मोहक आकर्षण मूल्यांकन की दृष्टि को बदल देता है। यह मदिरा से भी अधिक मादक है। पैसे में भोग के प्रतिदान की शक्ति है, इसलिए उसकी ओर सहसा दृष्टि खिंच जाती है। बहुसंयोग और बहुभोग की पूर्ति के लिए बड़े परिग्रह की बात प्रधान रहे, वहां व्रत का ध्येय सफल नहीं हो सकता। इसलिए जो व्रती बनते हैं, वे परिग्रह की जड़-भोग-वृत्ति का नियमन करें, श्रम को नीचा और परिग्रह को ऊंचाई मानने की भावना को तोड़ें, तभी अपरिग्रह और अहिंसा का विचार आगे बढ़ सकता है। अगर ऐसा हुआ तो अवश्य ही व्रत-प्रधान या अहिंसा-प्रधान समाज का निर्माण हो सकेगा और अणुव्रती भाई-बहिन उस आदर्श समाज के आधार-स्तम्भ और सूत्रधार होंगे।

नैतिकता की समस्या : निष्ठा का अभाव

पुराने जमाने की बात है। एक जमींदर किसी महात्मा के पास गया। उसने महात्मा की भक्ति कर उनसे आशीर्वाद मांगा– महात्मन् ! आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा बड़प्पन जैसा है वैसा-का-वैसा बना रहे।

महात्मा ने प्रसन्न होकर कहा– तथास्तु।

एक गुलाम सामने खड़ा था। वह बहुत समय से महात्मा की उपासना कर रहा था। उसने भी आशीर्वाद मांगा। वह बोला– महात्मन् ! आप मुझे आशीर्वाद दें कि आदमी आदमी का गुलाम न रहे।

महात्मा ने मुक्त हास्य के साथ कहा– तथास्तु।

जमींदार स्तम्भ-सा रह गया। वह बोला– महात्मन् ! गुलामों के बिना ऐश्वर्य और बड़प्पन का अर्थ ही क्या होगा ?

मैं अपनी बात इसी कहानी से शुरू करना चाहता हूं कि मनुष्य की संपदा का मूल्य मनुष्य की गुलामी पर टिका हुआ है। यह बहुत बड़ा अधर्म और बहुत बड़ी अनैतिकता है। इसी संदर्भ में मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूं आपसे, आपके मित्रों से, आपके समाज से और आपके राष्ट्र से। क्या आपको नैतिकता पसंद है ? आप उत्तर दें, उससे पहले मैं दो प्रश्न और पूछ लूं। यदि वह आपको पसंद है तो क्यों ? और यदि पसंद नहीं है तो क्यों ? नैतिकता पसंद नहीं है, यह स्वर किसी भी दिशा से नहीं आ रहा है। हर दिशा से यही स्वर मुखर हो रहा है कि हमें नैतिकता पसंद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घी की दुकान पर एक पट्ट टंगा है। उसमें लिखा हुआ है– यहां शुद्ध देशी घी मिलता है। हलवाई की दुकान के पट्ट को देखिए। उस पर लिखा हुआ है– यहां शुद्ध देशी घी से बनी मिठाइयां मिलती हैं। किराने के दुकानदार ने अपने पट्ट पर लिख रखा है– मिलावट करना घोर पाप है।

असत्य अपने पैरों से नहीं चल सकता। वह सत्य की वैशाखी के सहारे चलता है। सफेद झूठ बोलने वाला आपको कभी धोखा नहीं दे सकता। आपको धोखा वह देता है, जो सत्य की ओट में झूठ बोलता है। खुली अनैतिकता को आप सहन नहीं कर सकते। नैतिकता के आवरण के पीछे छिपी अनैतिकता को आप सह लेते हैं।

यहां मिलावटी घी मिलता है, चर्बी से बनी मिठाइयां मिलती हैं, नकली मसाले मिलते हैं और मिलती है नकली औषधियां। पट्ट की इस भाषा को पढ़कर उस दुकान की सीढ़ियों पर कोई भला आदमी पैर रखना चाहेगा ?

अनुभव बताता है कि जो लोग दूसरों के साथ अनैतिक व्यवहार करते हैं, उन्हें भी अनैतिकता पसंद नहीं है। वे नहीं चाहते कि उन्हें कोई ठगे, उन्हें कोई धोखा दे, उन्हें पानी-मिला दूध मिले। प्रश्न होता है, फिर ये दूसरों को क्यों ठगते हैं ? उन्हें क्यों धोखा देते हैं ? उस समय वे अनैतिकता को क्यों पसन्द कर लेते हैं ? मैं आपसे सच कहता हूं कि धोखा देने के क्षणों में भी धोखा देने वाले को अनैतिकता पसंद नहीं है। उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ, हित और सुख-सुविधा का संस्कार जमा हुआ है। उस संस्कार की मादकता से उन्मत्त होकर वह अनैतिक आचरण कर लेता है, जो उसे पसन्द नहीं है। इस मानवीय दुर्बलता को ध्यान में रखकर ही महर्षि व्यास ने लिखा था–

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।"

मैं धर्म को जानता हूं, फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं कर पा रहा हूं। मैं अधर्म को जानता हूं, फिर भी उससे निवृत्त नहीं हो पा रहा हूं। यह क्यों ? ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर मैं दर्शन की गहराइयों में गए बिना देना चाहता हूं। आपने अपनत्व की रेखाएं बहुत छोटी खींच रखी हैं। उन रेखाओं के भीतर जो है, उसके प्रति आपका ममत्व है और उनसे बाहर जो है, उनके प्रति आपका ममत्व नहीं है। जहां आपका ममत्व है, वहां आप नैतिकता को पसंद भी करते हैं और उसका व्यवहार भी करते हैं। ममत्व की परिधि से परे आप नैतिकता को पसंद करते हुए भी अनैतिक व्यवहार कर लेते हैं। मैंने नहीं सुना कि हजारों ग्राहकों को मिलावटी आटा बेचने वाला दुकानदार अपने परिवार को भी मिलावटी आटा खिलाता है। मैंने नहीं सुना कि हजारों की रिश्वत लेने वाला राज्य कर्मचारी अपने लड़के से रिश्वत लेता है। अपने परिवार को मिलावटी आटा खिलाने से व्यापारी को कौन रोक रहा है ? ममत्व। अपने लड़के से रिश्वत लेने से राज्य कर्मचारी को कौन रोक रहा है ? ममत्व। यह ममत्व की रेखा व्यापक हो जाए तो वह ग्राहकों को मिलावटी आटा बेचने से रोक देगी, व्यवसायी को और रिश्वत लेने से रोक देगी, राज्य कर्मचारी को।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनैतिकता की समस्या को सुलझाने के दो विकल्प हैं– या तो ममत्व का विसर्जन या ममत्व का विस्तार। आदमी उन भावनाओं और व्यक्तियों के लिए अनैतिक व्यवहार करता है, जिन्हें अपना मान रखा है। उन पर से ममत्व हटा लेने का अर्थ होता है, अनैतिकता के जाल से स्वयं को मुक्त कर लेना। हिन्दुस्तान में व्रत की दीक्षा इसी ममत्व-विसर्जन की प्रक्रिया के संदर्भ में प्रचलित हुई थी। साम्यवादी देशों ने कानूनन ममत्व विसर्जन कराकर आर्थिक क्षेत्र की अनैतिकता के उन्मूलन का प्रयत्न किया है। लोकतंत्री समाजवाद भी उसी क्षितिज की ओर आगे बढ़ रहा है।

ममत्व-विस्तार का मंत्र हमारे धर्मशास्त्रों ने दिया था। सब जीवों का अस्तित्व वैसा ही है जैसा कि मेरा है। समूचा संसार ही मेरा परिवार है। ये उसके निष्ठा-सूत्र हैं। यहां ममत्व की रेखाएं बहुत व्यापक हो जाती हैं। फिर उनसे बाहर कोई नहीं रहता। फलस्वरूप अनैतिक व्यवहार के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता।

समस्या का मूल

कुछ लोग कहते हैं, अनैतिकता का मूल गरीबी है। कुछ लोगों का मत है कि उसका मूल अशिक्षा है। कुछ लोगों की धारणा में उसका मूल है व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और कुछ लोगों की धारणा में उसका मूल है भौतिकवादी दृष्टिकोण। मैं इन तथ्यों को अस्वीकार नहीं करता। फिर भी यह स्वीकार करने में असमर्थ हूं कि ये अनैतिकता के मूल कारण हैं। एक गरीब आदमी को हमने ईमानदार देखा है और यह भी देखा है कि जो बहुत संपन्न है वह बहुत बेईमान है। क्या यह सच नहीं है कि गरीब आदमी बहुत बड़ी बेईमानी कर ही नहीं सकता। बहुत बड़ी बेईमानी वही कर सकता है जिसके पास बहुत बड़े साधन होते हैं।

मैं निष्कर्ष की भाषा में यह कहना चाहता हूं कि अनैतिक न गरीब होता है और न संपन्न होता है। अनैतिक वह होता है, जिसमें निष्ठा का अभाव हो। निष्ठा-शून्य विपन्न आदमी भी अनैतिक होता है और निष्ठा-शून्य संपन्न आदमी भी अनैतिक होता है।

अनैतिक न अशिक्षित होता है न शिक्षित होता है। अनैतिक वह होता है जिसमें निष्ठा का अभाव है। निष्ठाशून्य अशिक्षित आदमी भी अनैतिक होता है और निष्ठाशून्य शिक्षित आदमी भी अनैतिक होता है।

अनैतिक न व्यक्तिवादी या भौतिकवादी दृष्टि वाला होता है और न समाजवादी या धार्मिक दृष्टि वाला होता है। अनैतिक वह होता है, जिसमें निष्ठा का अभाव है, निष्ठाशून्य व्यक्तिवादी या भौतिकवादी दृष्टि वाला भी अनैतिक होता है और निष्ठाशून्य समाजवादी या धार्मिक दृष्टि वाला भी अनैतिक होता है।

जिस आदमी में निष्ठा का बीज अंकुरित हो जाता है वह गरीब हो या संपन्न, अशिक्षित हो या शिक्षित, व्यक्तिवादी हो या समाजवादी, भौतिकवादी हो या धार्मिक, नैतिक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्ठा : स्वरूप और आधार

आप जानना चाहेंगे कि निष्ठा क्या है ? निष्ठा का अर्थ है चित्त की स्थिरता। अनैतिकता का मूल बीज ही है चित्त की चंचलता, चित्त का उद्वेग। जिन मनुष्यों का मन कहीं भी टिका हुआ नहीं है, वे समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं और भ्रष्टाचार करते हैं। स्थिर चित्त वाले आदमी ऐसा आचरण नहीं करते। आप यह भी जानना चाहेंगे कि निष्ठा किसके प्रति होनी चाहिए ? मेरा संक्षिप्त उत्तर होगा कि वह जीवन-मूल्यों के प्रति होनी चाहिए। जीवन के मूल्य मुख्यत: चार वर्गों में विभक्त हैं :

(1) वैयक्तिक मूल्य, (2) सामाजिक मूल्य,
(3) राष्ट्रीय मूल्य, (4) धार्मिक मूल्य।

शान्ति और स्वतन्त्रता– ये जीवन के वैयक्तिक मूल्य हैं। श्रम और संतुलित व्यवस्था– ये जीवन के सामाजिक मूल्य हैं। एकता और बलिदान– ये जीवन के राष्ट्रीय मूल्य हैं। मैत्री और सत्य– ये जीवन के धार्मिक मूल्य हैं।

निष्ठा की कमी : संदर्शन और निदर्शन

बहुत लोग पूछते हैं– नैतिक आदमी दु:ख का जीवन जीता है और अनैतिक आदमी सुख का जीवन जीता है। फिर नैतिक किसलिए होना चाहिए ? इस प्रश्न में मुझे निष्ठा के अभाव का ही संदर्शन हो रहा है। अनैतिक आदमी हजारों मनुष्यों के सुख को लूटकर अकेला सुख भोगता है और नैतिक आदमी हजारों दुखियों के दु:ख का समभागी होकर दु:ख भोगता है तो इसे मैं नैतिकता की विजय मानता हूं। जो लोग अनैतिक आचरण से प्राप्त सुविधाओं के सन्दर्भ में नैतिकता का मूल्यांकन करते हैं, वे इस तथ्य को भुला देते हैं कि वेश्या, चोर और डाकू की सम्पन्नता को सामाजिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। अनैतिक तरीकों से धन का अर्जन करने वाला भी इन्हीं की कोटि में आता है, अत: उसकी सम्पन्नता को भी सामाजिक मूल्य नहीं दिया जाना चाहिए। सामाजिक मूल्य उसी सम्पदा को दिया जा सकता है, जो अपने श्रम से प्राप्त होती है, जिसमें दूसरे के श्रम का शोषण नहीं किया जाता और उसके अज्ञान का अनुचित लाभ नहीं उठाया जाता। मुफ्तखोरी अन्त तक कभी भी वरदान नहीं होती। इस प्रसंग में मैं एक कहानी कहना चाहता हूं, जो बहुत छोटी होने पर भी मूल्य की दृष्टि से बहुत बड़ी है।

एक मेंढा और गाय पास-पास बंधे हुए थे। गाय के साथ एक बछड़ा था। बछड़े ने देखा, गृहस्वामी उसे सूखी घास खिलाता है और मेंढ़े को ओदन खिलाता है। यह क्रम कई दिनों तक चलता है। एक दिन बछड़े ने कहा– मां, तुम दूध देती हो, फिर भी अपने को सूखी घास मिलती है और यह मेंढ़ा कुछ भी नहीं देता फिर भी इसे बढ़िया माल मिलता है। यह पक्षपात क्यों, मां ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मां ने कहा– बेटा ! भला इसी में है कि थोड़ा लिया जाए और अधिक दिया जाए।

मां की बात बछड़े के गले नहीं उतर रही थी।

गृहस्वामी हाथ में आज छुरी लिये आ रहा है– यह कहते-कहते बछड़ा कांप उठा। गाय ने कहा– वत्स ! डर मत। छुरी उसी के लिए है जिसने मुफ्त में माल खाया है। इधर मेंढ़े के गले पर छुरी चल रही थी और उधर मां की बात बछड़े के गले उतर रही थी।

आरामतलबी का जीवन जीने की भावना क्यों पनपती है ? इसलिए कि बचपन से ही विद्यार्थी में सामाजिक मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न नहीं की जाती।

अधिक संग्रह की भावना भी इसी निष्ठा के अभाव में पनपती है। व्यक्ति में अहं की मनोवृत्ति सहज होती है। उसे निष्ठा के द्वारा परिष्कृत किए बिना वह श्रम और संतुलित व्यवस्था का समर्थन नहीं कर पाती।

गतिशीलता की अपेक्षा

अधिकांश लोग प्राचीनता के पक्षधर होते हैं। आधुनिकता का स्वर बहुत थोड़े लोगों में होता है। इस परिस्थिति में पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष चलता है। उसमें निष्ठा को पनपने का अवसर नहीं मिलता। मैं आपको प्राचीनता के विपक्ष या पक्ष में अथवा आधुनिकता के पक्ष या विपक्ष में खड़ा करना नहीं चाहता। मैं इस विषय में अपना अभिमत आपके सामने प्रस्तुत कर देना चाहता हूं। मैं कालकृत प्राचीनता के विपक्ष में नहीं हूं। रोटी खाते हजारों वर्ष बीत गये। आज भी रोटी खाना उतना ही जरूरी है, जितना हजारों वर्ष पहले था। इसे प्राचीन कहकर हम ठुकरा भी नहीं सकते।

मैं उस प्राचीनता की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं, जिसकी आज उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। बदली हुई परिस्थितियों में क्या दहेज का कोई मूल्य है ? समानता की दहलीज पर पैर रखती हुई समाज-व्यवस्था के परिपार्श्व में क्या बड़प्पन के प्रदर्शन का कोई मूल्य है ?

जिनका मूल्य समाप्त हो चुका, उनमें प्राण फूंकने का प्रयत्न रुढ़िवाद है। यह व्यक्ति की निष्ठा को तोड़ता है। सामाजिकता और आर्थिक व्यवस्था को नया मोड़ देकर ही मूल्यों की निष्ठा को विकसित किया जा सकता है।

एकाग्रता का अभ्यास

निष्ठा की समस्या का समाधान है मन को केन्द्रित करने का अभ्यास। यह शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए। पुराने जमाने में माना जाता था कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान करना, मन को एकाग्र करने का अभ्यास योगियों का काम है। आज इस विचार में परिवर्तन हो चुका है। अब इस विचार की प्रस्थापना हो चुकी है कि योग हर सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है और इसलिए आवश्यक है कि उसकी साधना से व्यक्ति सफल जीवन जी सकता है। मैं प्रस्तुत चर्चा में मन को केन्द्रित करने की प्रक्रिया आपके सामने रखूं, यह मुझे सम्भव नहीं लगता। मैं उसका संकेत भर कर देना चाहता हूं। दिशाबोध होने पर चलना सहज हो जाता है। हम इस बात को न भूलें कि चलना स्वयं को ही होता है।

आप घड़ी के सामने बैठ जाइये। मन को किसी एक शब्द, विचार या वस्तु पर टिका दीजिये। आप जितने क्षणों तक एकाग्र रहें उसे अंकित करते चले जाइये। साप्ताहिक प्रगति का लेखा-जोखा करते रहिये। अभ्यास करते-करते आप दस-पंद्रह मिनट तक एकाग्रता की स्थिति में रहिये। आगे का मार्ग स्वयं साफ हो जायेगा।

इस एकाग्रता का प्रभाव आपके व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं जीवन के हर पहलू पर होगा। मानवीय एकता का ध्येय और मन की एकाग्रता का अभ्यास– यह 'मणिकाचंन' योग है। इस पर निर्भर है समूची मानव-जाति की समृद्धि और उसके सह-अस्तित्व का भविष्य।

6.7 क्रांति का नया आयाम

क्रांति की परिभाषा है– सामाजिक धारणाओं, व्यवस्थाओं और व्यवहारों का पुनर्जन्म । उसका सूत्रधार है मनुष्य। मनुष्य का नया जन्म होता है, तब नए-नए प्रश्न उपस्थित होते हैं। आज का नया प्रश्न है– हम क्या करें ?

इसका नया उत्तर है– जो सूझे सो करें। कम-से-कम इतना ध्यान अवश्य रखें कि आपके ही समान सुख-दु:ख की अनुभूति वाले सामाजिक प्राणी के हितों की बलि चढ़ाकर अपने हितों का प्रासाद खड़ा न करें। राजनैतिक क्रांति द्वारा सत्ता और अर्थ के स्थानों में परिवर्तन हुआ है। सत्ता उच्चवर्ग के हाथों से खिसककर उस वर्ग के हाथ में आ गयी है, जो शोषित था। अर्थ का अधिकार व्यक्तिगत क्षेत्र से हटकर सामुदायिकता के क्षेत्र में चला गया। यह परिवर्तन कोई कम नहीं है, अभूत पूर्व परिवर्तन है। पर मानवता के स्तर पर यह अन्तिम नहीं है। विकास की संभावनाओं का अभी बहुत कम परिवर्तन हुआ है। अहिंसा की व्यापक निष्ठा के बिना वह हो भी नहीं सकता। अब तक जो क्रांति हुई है वह मानवीय उत्पीड़न और शोषण की प्रतिक्रिया है। इसलिए इसे मैं प्रतिक्रियात्मक क्रांति मानता हूं। क्रियात्मक क्रांति अभी नहीं हुई है। सत्ता और अर्थ का रूपान्तरण होने पर भी मनुष्य का पुनर्मूल्यन नहीं हुआ है। आज भी सत्तारूढ़ व्यक्ति का वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य है, जो एक राजा का था। मूल्य सत्ता को प्राप्त है, मनुष्य का स्वतंत्र मूल्य नहीं है। आज भी एक कर्मचारी को अधिकारी के सामने यह अनुभूति नहीं होती कि मैं इनके जैसा ही मनुष्य हूं। क्षमता और कार्य के भेद ने मनुष्यता को भी विभक्त कर रखा है। व्यवस्था के तारतम्य के नीचे जो मानवीय एकता की अनुभूति होनी चाहिए वह विकसित नहीं है। इसीलिए मानवता अखंड नहीं है। इस खंडित मानवता से ही अनेक विकृतियां और बुराइयां उत्पन्न हो रही हैं। हिंसा का दौर बढ़ रहा है।

आज का अहिंसक भी असहाय-सा दिखाई दे रहा है। वह जाने-अनजाने हिंसा द्वारा प्रस्थापित मूल्यों को ही मान्यता दिये चला जा रहा है। उसका बाह्याचार पर इतना बल है कि वह अध्यात्म की गहराइयों में झांक ही नहीं पा रहा है। मानवीय क्षमता या एकता को देखने के लिए उसके नेत्र अभी खुले ही नहीं हैं।

अहिंसक का क्षेत्र संन्यास ही नहीं है। उसकी साधना-भूमि है समूचा समाज। अहिंसक की पैनी दृष्टि बाहरी आवरणों को चीरकर गहराई में पैठ जाती है। वहां मनुष्य मनुष्य ही है, और कुछ नहीं है। सब बंधनों, व्यवस्थाओं, प्रवृत्तियों से परे, केवल मनुष्य और उसके ही जैसा मनुष्य।

अभ्यास

1. अणुव्रत आंदोलन कब और क्यों चलाया गया तथा कैसे यह एक मानवता का आंदोलन है इसे विस्तार से स्पष्ट करें।
2. क्या अणुव्रत एक असाम्प्रदायिक आंदोलन है। यदि है तो उसमें आचार्य तुलसी की क्या भूमिका है ?
3. राष्ट्रनिर्माण के लिए अणुव्रत की उपयोगिता को विस्तार से स्पष्ट करें।

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. अहिंसक समाज-संरचना

7.1. अहिंसा की पृष्ठभूमि

मानसिक शान्ति के लिए अहिंसा अनिवार्य है ही। किन्तु सामाजिक विकास और विकासोन्मुख गति के लिए भी वह कम अनिवार्य नहीं है। इस अनिवार्यता की अनुभूति कराना उतना ही अनिवार्य है जितनी कि अहिंसा अनिवार्य है। बहुत बार मनुष्य स्वास्थ्य के कारणों को जाने बिना अस्वस्थ बना रहता है। रोगी को रुग्ण होने की अनुभूति होना ही नीरोगता का पहला उपक्रम है। क्या वर्तमान समाज को इस बात का अनुभव है कि वह हिंसा के रोग से व्यथित है ? क्या वह इस व्यथा से उत्पन्न किसी अनिष्ट परिणाम को भोग रहा है ? क्या वह इससे मुक्त होना चाहता है ? क्या अहिंसा में वह अपनी समस्याओं का समाधान देखता है ? यदि देखता है तो क्या वह अपने स्वार्थों का विसर्जन करने को तैयार है ? ये वे प्रश्न हैं, जो अहिंसक को अपने आपसे पूछने चाहिए और उन लोगों से पूछने चाहिए जो अहिंसा को सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

भगवान् महावीर कारण और परिणाम दोनों की एकात्मकता का प्रतिपादन करते थे। हिंसा स्वयं प्रवृत्ति नहीं है, वह परिणाम है। हिंसा के कारण न हों तो वह निष्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार अहिंसा भी परिणाम है। अहिंसा की निष्पत्ति भी उसकी पृष्ठभूमि पर ही होती है।

पौधे के अग्र का फलना-फूलना या सूखना उस पर निर्भर नहीं है। उसकी निर्भरता मूल पर है। मूल को सिंचन मिलता है तो अग्र फलता-फूलता है और मूल को पोष नहीं मिलता है तो अग्र भी सूख जाता है।

हिंसा का मूल है ममकार और अहंकार। उसका अग्र है गाली-गलौज, उत्पीड़न और हत्या। दोनों का प्रतिबिम्ब है– स्वार्थ।

अहिंसा का मूल है आध्यात्मिक शक्ति की अनुभूति। उसका अग्र है प्रेम, मैत्री, समानता और एकता का व्यवहार। दोनों का प्रतिबिम्ब है– स्वार्थ का विसर्जन।

क्या शक्ति-संतुलन की पृष्ठभूमि का निर्माण हुए बिना अहिंसा का विकास संभव है ? इस प्रश्न पर मैं चिरकाल से सोचता रहा हूं। मैं चिर-चिंतन के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हिंसा का बीज शक्ति के प्रदर्शन से प्रस्फुटित होता है। एक व्यक्ति या वर्ग शक्ति का प्रदर्शन कर दूसरे व्यक्ति या वर्ग को अधीन रखना चाहता है। अधीनीकृत व्यक्ति या वर्ग के मन में इस हिंसा की प्रतिक्रिया होती है। इस असंतुलित शक्ति के वातावरण में हिंसा की आग भभक उठती है। इसी अनुभूति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षण में भगवान् महावीर ने कहा था– 'न अज्झावेयव्वा'– किसी भी मनुष्य पर हुकूमत मत करो, उसे अपने अधीन बनाकर मत रखो। यह अहिंसा का मूल मंत्र है। इसकी वेदी पर ही अहिंसा की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो सकती है। क्या वर्तमान हिंसा के पीछे आर्थिक शक्ति की अधीनता का योग नहीं है ? क्या वर्तमान हिंसा के पीछे सत्ता-बल का हाथ नहीं है ? यदि धनाधीश और सत्ताधीश दूसरों के जीवन-निर्वाह की स्वतन्त्रता की सुरक्षा का ध्यान रखते तो नक्सली हिंसा, सत्ता की छीनाझपटी और दलबदलू राजनीति का अभिनय नहीं होता।

स्वतन्त्रता का आधार है शक्ति का संतुलन– सबकी शक्ति का विकास या सबको शक्ति के विकास का उचित अवसर। जनतंत्र का आधार भी यही है। पर प्रतीत यह हो रहा है कि जनतन्त्र ने अहिंसा को प्रतिष्ठा नहीं दी है।

जिस देश के नेता और जनता दोनों में प्रामाणिकता की कमी और अपना-अपना स्वार्थ साधने की मनोवृत्ति प्रबल हो वहां अहिंसा की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ?

अणुव्रत अहिंसा के विकास की पृष्ठभूमि है। पृष्ठभूमि का निर्माण ही अहिंसा की संभावना को उत्पन्न करता हैं। हम कारण की उपेक्षा कर कार्य की सृष्टि का स्वप्न संजोएं।

अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा व्रत है। व्रत के मौलिक विभाग पांच हैं। शेष सब उनकी व्याख्याएं हैं। पांचों में भी मूलभूत व्रत एक अहिंसा है। सत्य आदि उसी के पहलू हैं।

आन्दोलन के कुछ विषयों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र से है। वे हिंसा को उत्तेजना देते हैं। इसलिए उनके संवरण की ओर संकेत किया गया है। दहेज में जीव-हिंसा का सीधा प्रसंग नहीं है। पर हिंसा का मतलब केवल जीव-वध ही नहीं है, उसका मुख्य सम्बन्ध मनुष्य की वृत्तियों से है। वृत्तियां लोभपूर्ण बनती हैं। वे सहज ही हिंसा की ओर झुक जाती हैं। हिंसा के प्रमुख कारणों से बचे बिना हिंसा से बचा नहीं जा सकता।

कुछ लोग ब्याज को अहिंसक व्यापार मान बैठे हैं, और कुछ लोग सट्टे को। खेती में हिंसा दीखती है। व्यापार में चाहे जितनी क्रूर-वृत्ति हो, वह हिंसा नहीं लगती। तात्पर्य कि हिंसा की मान्यता जीव-वध के साथ जुड़ी हुई है, वैसी वृत्तियों के साथ जुड़ी हुई नहीं है। अणुव्रत-आन्दोलन वृत्ति के परिशोधन को प्रधान मानकर चलता है। जीव-वध का हेतु भी अशुद्ध-वृत्ति है। वह छूटती है तो जीव-वध की प्रवृत्ति भी छूट जाती है।

चोरी क्या है ? शोषण क्या है ? इन सारे प्रश्नों का समाधान अहिंसा की पार्श्वभूमि में ही ढूंढना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तार में जाएं तो चोरी, शोषण आदि बुराइयां छूटे, यह अभिप्रेत है।

संक्षेप में, हिंसा को उत्तेजना देने वाली प्रवृत्ति छूटे, फिर भला उसका कोई नाम हो या न हो। इस प्रकार अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा की पृष्ठभूमि पर पनपने वाला एक अनुष्ठान है।

7.2 . अहिंसा की सफलता

लोग दण्ड-शक्ति से परिचित हैं, इसलिए उसमें विश्वास जमा हुआ है। अहिंसा में जो शक्ति है, वह हिंसा या दण्ड में नहीं है। पर दूसरों के नियंत्रण के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। दूसरों का नियंत्रण दण्ड-शक्ति ही कर सकती है। इसलिए लोग चाहते हैं, दण्ड की शक्ति चलती रहे। उसके बिना अराजकता की स्थिति हो जाएगी।

अनेक राष्ट्रों में अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न के विरोध में हिंसक क्रांतियां हुईं। वे अपने लक्ष्य में सफल हुईं। विश्वास दृढ़ हो गया कि हिंसा सफल होती है। हिंसा की सफलता का मतलब है- भौतिक-लक्ष्य की पूर्ति।

आज अहिंसा की सफलता का मानदण्ड भी वही है। आर्थिक कठिनाइयों को मिटा सके तो अहिंसा सफल हुई माना जाएगा और उन्हें न मिटा सकी तो विफल। सचमुच यह भूल हो रही है, अहिंसा को लक्ष्यहीन किया जा रहा है। अहिंसा का लक्ष्य जीवन-शोधन है। उसे अधिक प्रभावशाली किया जाए तो कठिनाइयों को पार करने का द्वार अपने आप खुलता है। अहिंसा का प्रयोग आर्थिक गुत्थी को सुलझाने के लिए किया जाए तो उससे परोक्षत: हिंसा को ही सहारा मिलता है।

आर्थिक समस्या के समाधान सूत्र 'सामाजिक साम्य' हो सकता है। अहिंसा का स्वरूप पवित्रता है, इसलिए वह व्यापक होने पर भी वैयक्तिक है। व्यवस्था का स्वरूप नियंत्रण है। उसमें स्थिति के समीकरण की क्षमता है। इसलिए व्यवस्था के परिणाम से अहिंसा को नहीं आंकना चाहिए। उसकी सफलता जीवन की पवित्रता में निहित है। स्वतन्त्रता की रक्षा अहिंसा से हो सकती है। हिंसा या दण्ड-शक्ति की माया जितनी बढ़ती है, उतनी ही परतन्त्रता बढ़ती है। मानवीय सफलता का सर्वाधिक उत्कर्ष स्वतन्त्रता है और वह अहिंसा के द्वारा ही लभ्य है।

7.3. अहिंसा और स्वतन्त्रता

अहिंसा और हिंसा ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धाराएं कभी मिलती नहीं। एक जीवन में दो धाराएं हो सकती हैं। एक वृत्ति में दोनों नहीं हो सकतीं। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता या अशक्यता और आत्म-शक्ति के अल्पविकास की दशा में पनपने वाली बुराई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा, शरीर, वाणी और मन (या आत्मा और शरीर) की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है, वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, वाणी और मन) का संगम है। व्यक्ति भी स्व-पर के संगम से बनी हुई संस्था है। जीवन का स्व-अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में स्वाभिमुखता या स्वरमण, वही अहिंसा है। पराभिमुखता या पदार्थाभिमुखता विभाव, विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास शुरू होते ही विभाव एकदम चला नहीं जाता। स्वभाव की मात्रा कम होती है, विभाव सताता है, अशान्ति और उद्वेग लाता है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है– मन, वाणी, शरीर और पदार्थ के प्रति नियन्त्रण-शक्ति बढ़ती है, तब विभाव उतना सताता नहीं। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावोन्मुख हो जाती है।

अहिंसा विशाल होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति क्रूर होकर भी 'सबका हिंसक बन जाये'– उतना क्रूर नहीं होता। उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रेखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम-से-कम परिवार का शत्रु नहीं होता। वह हर क्षण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति क्रोध करता है पर क्रोध ही करता रहे– ऐसा नहीं होता। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरन्तर नहीं बढ़ती। क्रोध की मात्रा बढ़ती है, व्यक्ति में पागलपन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बढ़ी हुई मात्रा भी शान्ति नहीं देती। थोड़े में समझिये, हिंसा को सीमित किये बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विशाल है, अनन्त है, बन्धन से मुक्त है। कोई समूचे जगत् के प्रति अहिंसक रहे तो रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है, प्रेम का धरातल ऊंचा और निर्विकार होता है, उससे आनन्द का स्रोत फूट निकलता है।

अहिंसा अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत है, फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजतया नहीं रमता। इसका कारण नियन्त्रण-शक्ति का अभाव है। मन, वाणी और शरीर की निरंकुश-वृत्तियों का प्रतिरोध करने की आत्म-शक्ति का जितना कम विकास होता है, उतना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ जाता है। हिंसा की मर्यादाएं कृत्रिम होती हैं। उनमें तड़क-भड़क और लुभावनापन भी होता है। अहिंसा में दिखावटीपन या बनावटीपन नहीं होता। वह आन्तरिक मर्यादा है। वह आती है, तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व– जीवन की स्वतन्त्रता निखरती है। आत्मानुवर्ती-नियामानुवर्ती यानी अहिंसक ही वास्तव में स्वतन्त्र है।

मनुष्य बुराई करते नहीं सकुचता। इसीलिए दुनिया का प्रवाह विकार की ओर है। भोग और इन्द्रियों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है– प्रकृति-विजय की ओर मनुष्य सफल अभियान कर रहा है। पर यह तथ्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति विजय नहीं है। शरीर, वाणी और मन को जीते बिना प्रकृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जीती जा सकती। स्व-विजय का प्रयत्न बहुत थोड़ा होता है, इसीलिए भोग सता रहे हैं, विकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दूसरे के साथ स्पर्धा है। वातावरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अभय है। अपनी मौत से डरना भी हिंसा है। जो दूसरों को पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाये रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआछूत, ऊंच-नीच और काले-गोरे के पचड़े में फंसे हुए हैं, उन्हें देखिये– वे अभय नहीं हैं, शान्त नहीं हैं। जिनकी भोग-लिप्सा बढ़ी हुई है, जो परिग्रह के पुतले और शोषण के पुंज बने हुए हैं, उनसे पूछिये, उन्हें कितनी शान्ति है ? शान्तिपूर्ण जीवन वही बिता सकता है, जो ऊपर की बुराइयों से दूर है। बुराई से दूर वही रह सकता है जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व-नियन्त्रण का पर्याप्त विकास होता है।

7.4. राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा– अणुव्रत

मैं इस स्थापना के साथ अपने विचार को आगे बढ़ाऊंगा कि मनुष्य असीम होकर जी नहीं सकता। रेखा खींचना उसके लिए अनिवार्य है। सबसे पहली रेखा है हमारा शरीर। इसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। दूसरी रेखा है परिवार। स्नेह और ममत्व की नैसर्गिक आकांक्षा की तृप्ति के लिए मर्यादा को मान्यता देनी होती है। तीसरी रेखा है घर। गर्मी और सर्दी से बचने के लिए हमें असीम को ससीम करना पड़ता है। चौथी रेखा है जाति। पारिवारिक संबन्धों की व्यवस्था और शक्ति-संवर्धन के लिए हम जाति की अधीनता स्वीकार करते हैं। पांचवीं रेखा है राष्ट्र। अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए हम राष्ट्रीय विधान को मान्यता देते हैं। छठी रेखा है संप्रदाय। अपनी आन्तरिक भावना की पूर्ति के लिए हम धर्म को मान्य करते हैं और उसकी परम्परा चलाने के लिए एक विचार के लोग मिल संप्रदाय का निर्माण कर लेते हैं। छोटी-मोटी रेखाएं अनेक हैं। मैंने उन्हीं रेखाओं का उल्लेख किया है, जो मुख्य हैं, और हमारे जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं।

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि इन रेखाओं को समाप्त कर दिया जाये। शरीर की रेखा को समाप्ति की ओर नहीं ले जाया जा सकता। घर भी अनिवार्य है। राष्ट्र की सीमा यदि मिटे तो मुझे प्रसन्नता होगी, पर उसे मिटाने की तैयारी भी दिखाई नहीं देती। परिवार, जाति और सम्प्रदाय की रेखाओं को मिटाने का स्वर राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में मुखर होता जा रहा है। मैं पारिवारिक सीमा के अतिक्रमण के विपक्ष में नहीं हूं। और मैं मुनि हूं इसलिए हो भी नहीं सकता। किन्तु इस पक्ष में भी नहीं हूं कि परिवार की सीमा का अतिक्रमण राजकीय कानून के बल पर एक रूढ़ि या विवशता बन जाये। अवस्था और चिन्तन की परिपक्वता आने पर कोई व्यक्ति पारिवारिक सीमा को छोड़ व्यापक क्षेत्र में प्रवेश पाता है, वह अभिनन्दनीय है। पर बच्चों के पारिवारिक स्नेह और ममत्व से वंचित करने का औचित्य उनके यांत्रिक जीवन निर्माण की पृष्ठभूमि पर ही स्थापित किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति और संप्रदाय की रेखाएं भी मेरी दृष्टि में परिहार्य नहीं हैं। उनकी अपरिहार्यता को मान लेने पर भी उनमें संशोधन के अवकाश को मैं स्वीकार करता हूं। जन्मता जाति और आनुवंशिक संप्रदाय– ये दोनों हितकर सिद्ध नहीं हो रहे हैं। इस पक्ष में संशोधन आवश्यक है। और वह यह हो सकता है– जाति कर्मणा और संप्रदाय स्वीकृत होना चाहिए।

कर्मणा जाति की परम्परा प्रचलित होने पर जातीय घृणा की आधारशिला को खंडित हो जाना स्वाभाविक है। स्वीकृत संप्रदाय के गतिशील होने पर सांप्रदायिक कट्टरता के समाप्त होने की प्रबल संभावना है।

मेरे आवागमन के लिए एक ही दरवाजा खुला रहे और शेष सब बंद, उस स्थिति में खुले दरवाजे का अहं ओढ़ लेना मेरे लिये नैसर्गिक है।

हवा के लिए एक ही खिड़की खुली रहे और शेष सब बंद।

उस वातावरण में खुली खिड़की का अहं ओढ़ लेना मेरे लिए नैसर्गिक है। सभी दरवाजे मेरे लिए खुले हों तो मैं किसी भी दरवाजे से प्रवेश करने में स्वतंत्र होता हूं और एकपक्षीय अहं से बच जाता हूं। मेरा अहं उन सबके हिस्से में चला जाता है।

सभी खिड़कियां मेरे लिए खुली हों तो मैं जिस दिशा की हवा हो उस खिड़की का उपयोग कर सकता हूं और हवा की प्रतिबद्धता के संकट से बच सकता हूं।

क्या यह संभव है ? मैं पूछ सकता हूं, इसमें असंभव क्या है ? कर्मणा जाति अपेक्षाकृत अधिक शक्तिस्रोत बन सकती है। स्वीकृत संप्रदाय परम्परागत संप्रदाय की अपेक्षा अधिक गति दे सकता है।

हिन्दुस्तान अनेक जातियों और संप्रदायों का संगम है। एकता को हमेशा अनेकता की समस्या का सामना करना पड़ता है। राष्ट्र एक है, जातियां और संप्रदाय अनेक। अनेक में होने वाला टकराव एक के अस्तित्व को खतरे में डाल देता है।

हिन्दुस्तान के प्रबुद्ध वर्ग के लिए यह जरूरी हो गया है कि राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ आधार देने के लिए वह कुछ प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना करे। कर्मणा जाति और स्वीकृत संप्रदाय– यह अवश्य ही नया मूल्य है। इसकी स्थापना से पुराना मूल्य विघटित होगा। मुझे लगता है, उसका विघटन अब असामायिक नहीं है। प्राचीन युग में जन्मना जाति का सिद्धांत बहुत लचीला था। उसके साथ कर्मणा जाति का व्यवहार भी चलता था। इन शताब्दियों में वह कठोर हो गया है। अब उसमें अधिक प्राणशक्ति नहीं है। स्वीकृत सम्प्रदाय की परम्परा आज भी कुछ अंशों में प्रचलित है। इसकी समस्या उन पर्वों में अधिक है, जहां जाति और संप्रदाय परस्पर घुले-मिले हैं। धर्म के आधार पर बनी हुई जातियों में धर्मनिरपेक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातियों की अपेक्षा कट्टरता अधिक पनपती है। जाति और धर्म को पृथक् कर देना मनुष्य जाति के हित में अधिक है। एक जाति का आदमी अपनी जाति का परिवर्तन किए बिना किसी भी धर्म को मानने में स्वतन्त्र है। यदि यह बात सम्मत हो जाए तो आनुवंशिक संप्रदाय की मान्यता से उत्पन्न समस्याएं सहज ही निराकृत हो जाती हैं।

मैं इस सचाई से अपरिचित नहीं हूं कि यह कल्पना कितनी दुरुह और कितनी कठिनाइयों से भरी है। कोई भी कल्पना एक ही क्षण में आकार नहीं लेती, यह मुझे ज्ञात है। रोग की चिकित्सा का पहला अंग है, उसका निदान खोज लेना। जातीय और सांम्प्रदायिक संघर्षों का निदान हमारे हाथ आ जाता है तो उसकी चिकित्सा हमारे लिए सुलभ हो जाती है।

जन्मना जाति और आनुवंशिक संप्रदाय की स्थिति रहते हुए क्या राष्ट्रीय एकता स्थापित नहीं हो सकती ? कर्मणा जाति और स्वीकृत संप्रदाय के मूल्य की स्थापना ही क्या राष्ट्रीय एकता का एकमात्र विकल्प है ? यह प्रश्न अनेक मंचों से उपस्थित हो सकता है। इसके उत्तर में इतना ही कहना मुझे पर्याप्त लगता है कि राष्ट्रीय एकता का सर्वश्रेष्ठ विकल्प यही है। इस स्थिति का निर्माण न हो तब तक दूसरा विकल्प भी उपेक्षणीय नहीं है।

मानवीय एकता का विचार राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में नहीं किया जा सकता। उसके होने पर अन्तर्राष्ट्रीय एकता भी सध जाती है, राष्ट्रीय एकता सहज ही सध जाती है।

क्या मानवीय एकता हमें प्रिय है ? नहीं है, यह कटु होते हुए भी बहुत यथार्थ है। व्यक्तिगत हितों और स्वार्थों के संस्कार बहुत प्रबल हैं। उनके अस्तित्व में व्यापक हितों और स्वार्थों की बात सोचना असंभव ही रहा है। जन-साधारण में परस्पर संदेह और अविश्वास कम होता है। उसमें जातीय और सांप्रदायिक घृणा की मात्रा उतनी नहीं होती, जो उन्हें दंगों तक ले जाए। दंगों तक ले जाने वाली घृणा की भूमिका का निर्माण कुछेक बुद्धिमान लोग करते हैं। वे अकारण ही नहीं करते, अपने निहित स्वार्थों के कारण करते हैं। ऐसा करने वालों में धर्म-संप्रदाय और राजनीतिज्ञ-संप्रदाय दोनों के लोग होते हैं। उनके गुरुत्व और नेतृत्व की सुरक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया है। इन बौद्धिक लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ या अहं की भावना कम हुए बिना क्या राष्ट्रीय एकता का स्वप्न फलित हो सकता है ? महात्मा गांधी ने इसी समस्या को ध्यान में रखकर व्यक्ति के चरित्र विकास को प्राथमिकता दी थी। अणुव्रत के माध्यम से भी इसी उद्देश्य को प्राथमिकता दी जा रही है। संघर्ष की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष लड़ने वाले कभी मुख्य नहीं होते। मुख्यता उन्हें लड़ाने वालों की होती है। सामाजिक विकास और व्यक्तिगत चरित्र को संतुलित महत्त्व देने पर ही इस भूमिका से निपटा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा धर्म नैतिकता-प्रधान और राजनीति यथार्थपरक हो तो राष्ट्रीय एकता की समस्या सद्यःसमाहित हो सकती है।

हिन्दुतान में राष्ट्रीय व्यक्तित्वों की अपेक्षा, प्रान्तीय व्यक्तित्व अधिक पनपते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। विशाल दृष्टिकोण वाले लोग कम हैं, जो राष्ट्रीय हितों के संदर्भ में प्रान्तीय हितों पर विचार करें। इस सारी समस्या पर मूल से ही विचार करना जरूरी है।

हिन्दुस्तानी बच्चों में बचपन से ही राष्ट्र से सम्प्रदाय और जाति की, सम्प्रदाय और जाति से परिवार की और परिवार से अपने आपको अधिक महत्त्व देने की मनोवृत्ति पनपती है, यही संस्कार उनमें भरा जाता है। आज शिक्षा का दायित्व सरकार ने ले रखा है। क्या वह इस संस्कार को उलटने की दिशा प्रस्तुत नहीं कर सकती ? प्रत्येक शिक्षा-संस्थान सामाजिक संगठन और सम्प्रदाय विद्यार्थी के सामने यह सूत्र प्रस्तुत करें।

व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र बड़ा है।

राष्ट्र का हित घटित होता है तो सबके हित घटित होते हैं। उसका हित विघटित होता है तो सबके हित विघटित होते हैं।

व्यक्ति की निष्ठा को व्यापक आधार देना ही समस्या का समाधान है। ऐसा किए बिना इस द्रौपदी के चीर को कभी नहीं समेटा जा सकता।

7.5 आध्यात्मिक समतावाद

'अनुत्तरं साम्यमुपेति योगी'– योगी अनुत्तर साम्य को पाता है। साम्य का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से चलता आ रहा है। जैनों की भाषा में अहिंसा और समता एक है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में जो सम रहे, वही अहिंसा की आराधना कर सकता है। राग-द्वेष आवेगात्मक वृत्तियां हैं। इनसे परे रहने का जो भाव है– मध्यस्थता है, वही साम्य है। गीता में 'समत्व' को योग कहा है।

साम्यवाद आज के दलित-मानस का प्रिय शब्द है। कुछ लोग साम्य वाद से घबराते भी हैं। दिल्ली में आचार्यश्री से एक व्यक्ति ने पूछा– क्या भारतवर्ष में साम्यवाद आएगा ? आचार्यश्री ने कहा– 'आप बुलायेंगे तो आएगा, नहीं तो नहीं।' उत्तर सीधा है कार्य को समझने के लिए कारण को समझना चाहिए। साम्यवाद का कारण है– पूंजीवाद। दो-सौ वर्ष पहले पूंजीवाद इस अर्थ में रूढ़ नहीं था, जिस अर्थ में आज है। अठारहवीं (ई. 1761) शदी में भाप का आविष्कर हुआ। उसके साथ-साथ पूंजीवाद आया। इससे पहले यातायात के साधन क्षुद्र वेग वाले थे। संग्रह के साधन सुलभ नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे, सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। संग्रह के साधन सुलभ नहीं थे, सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। वाष्प-युग ने यन्त्र-युग का रूप लिया। वर्तमान युग यंत्र युग है। इस युग में यातायात के साधन वेगवान बने और बनते जा रहे हैं। विश्व सिमट गया। यन्त्रों द्वारा कार्य होने लगा। कार्य करने की क्षमता मनुष्यों से हटकर मशीनों में आ गई। पूंजी का संग्रह सुलभ हो गया। व्यक्ति-व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति थी, वह कुछ ही व्यक्तियों के पास चली गई। सहज ही दो वर्ग बन गये– पूंजीपति और मजदूर। पहले बड़े नगर कम थे, गांव अधिक। मिलों ने गांवों को खाली किया। नगरों की आबादी बढ़ गई। हजारों मजदूर एक साथ काम करने लगे। इस परिस्थिति से उन्हें मिलने, संगठित होने और वर्ग बनाने का अवसर मिला। वर्ग-संघर्ष का बीज जड़ पकड़ गया।

पूंजीवाद का परिणाम है– बेकारी और उत्पादन की कृत्रिम आवश्यकता। मनुष्य का काम यन्त्र करने लगे तब हजारों का जीवन साधन एक व्यक्ति के पास आ गया। एक धनी और हजारों बेकार हो गए। संघर्ष की जड़ मजबूत हो गई। वही आगे जा साम्यवाद के रूप में फलित हुई।

पुराने पूंजीपतियों की धारणा यह थी कि यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहेगी। पूंजीपति और मजदूर इसी प्रकार बने रहेंगे। मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार प्रस्तुत किया। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। उसके अनुसार यह विश्व परिवर्तनशील है। मूलावस्था में विरोधी तत्त्व समवेत रहते हैं। जिस समय जिसकी प्रबलता होती है, उस समय वह व्यक्त हो जाता है। एक के बाद दूसरी अवस्था आती है, दूसरी के बाद तीसरी। दूसरी अवस्था पहली का परिणाम और तीसरी विपरिणाम का विपरिणाम होती है। यह क्रम चलता रहता है। पहले पूंजीवाद था, बेकारी बढ़ी, शोषण हुआ। शोषण से क्षोभ उत्पन्न हुआ– पूंजीवाद का ढांचा लड़खड़ाने लगा। प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद को जन्म मिला। आर्थिक दृष्टि से साम्यवाद का स्वरूप उत्पादन और वितरण में समाया हुआ है। इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो– यही है साम्यवाद का आर्थिक दृष्टिकोण।

कुछ पुराने दार्शनिकों ने कहा– सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। किन्तु सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाये, यह उन्होंने नहीं बतलाया। इसलिए आज के चिन्तक उसे दार्शनिक साम्यवाद कहते हैं। मार्क्स ने सम्पत्ति के वितरण को व्यवस्थित पद्धति बतलायी। इसलिए उसका साम्यवाद वैज्ञानिक साम्यवाद कहलाता है। उसने एक सीमा तक सम्पत्ति के वैयक्तिक प्रभुत्व को राष्ट्रीय प्रभुत्व के रूप में बदल दिया।

अणुव्रत का अभियान वैयक्तिकता से राष्ट्रीयता की ओर नहीं है। वह असंग्रह की ओर है। यह आर्थिक समस्या का समाधान नहीं है, किन्तु अर्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को तोड़ने की प्रक्रिया है। लोग कहते हैं– अपरिग्रह का उपदेश हजारों वर्षों से चल रहा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। तर्क सही है। वैज्ञानिक साम्यवाद के द्वारा समाज की अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन आया है, वह अपरिग्रह के उपदेश से नहीं आ सका है। इसका कारण दोनों का भूमिका भेद है। साम्यवाद का उद्देश्य है– व्यक्ति की आत्मा का परिशोधन या पदार्थ संग्रह की मूर्च्छा का उन्मूलन। इनकी प्रक्रिया भी एक नहीं है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था राज्य-शक्ति के द्वारा होती है और आत्मा का परिशोधन व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से होता है। अर्थव्यवस्था सामाजिक हो सकती है और आत्मा का शोधन वैयक्तिक ही होता है। संक्षेप में कहा जाये तो अपरिग्रह भोग-त्याग का प्रेरक है और साम्यवाद भोग की संतुलित व्यवस्था का प्रेरक। अपरिग्रह की एक लम्बी परम्परा है, जिसे मान्य कर लाखों-करोड़ों व्यक्ति आकिंचन्य का व्रत ले चुके हैं और उसका धागा आज भी टूटा नहीं है। साम्यवाद ने पूर्ण असंग्रह की ओर किसी को प्रेरित किया हो, ऐसा नहीं लगता।

अर्थव्यवस्था के परिष्कार में साम्यवाद या उसके पार्श्वों को छूती हुई दूसरी जनतन्त्र-प्रणालियां सफल न हुई हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनके द्वारा मानव की आवेगात्मक वृत्तियां परिष्कृत हुई हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वृत्तियों का परिष्कार पदार्थ-संग्रह को अनिष्टकर मानने पर ही हो सकता है। अध्यात्मवाद इसी दिशा का नाम है।

संग्रह का मूल भोग-वृत्ति में है। समाज की जितनी व्यवस्थाएं हैं, वे मात्रा-भेद से भोग-वृत्ति के परिष्कार हैं। अर्थ-तन्त्र उसका साधन है। अध्यात्मवाद का मूल त्याग में है। संग्रह-मात्र पाप है, भले ही फिर वह वैयक्तिक हो या सामाजिक। जितना परिग्रह उतना बन्धन, जितना बन्धन उतना मोह और जितना मोह उतनी मिथ्या धाराणाएं, यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तर्क-बुद्धि पैदा करता है।

अर्थ-तंत्र की परिक्रमा करने वाले सारे वाद भौतिक विकास को वैज्ञानिक और आत्मिक विकास को अवैज्ञानिक मानकर चल रहे हैं। परिष्कृत अर्थव्यवस्था ने भी संघर्ष की दिशा बदली हो, ऐसा नहीं लगता। विकास को मापा जाता है– पदार्थ से, शस्त्र से और सेना से।

सामाजिक प्राणियों के लिए सामाजिक-विकास अपेक्षित नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी सच है– अपरिग्रह से समाज का भौतिक विकास नहीं होता। वह आत्मा के विकास का पथ है। सामाजिक जीवन के लिए भौतिक पक्ष और उसकी समृद्धि के लिए परिग्रह आवश्यक माना जाता रहा है। परिग्रह इच्छा है, पदार्थ नहीं। इच्छा जुड़ती है, वह परिग्रह बन जाता है। इच्छा नियंत्रण किया जा सकता है, पदार्थ का नहीं। सामाजिक प्राणियों के लिए अपरिग्रह का अर्थ है– इच्छा-परिमाण। जीवन-यापन के दो विकल्प हैं– महा-आरम्भ और महा-परिग्रह तथा अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह। आज की भाषा में बड़ा उद्योग और अपार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह तथा छोटा उद्योग और सीमित संग्रह। उद्योग के केन्द्रीकरण से अर्थतन्त्र विकृत होता है। यह व्यावहारिक दोष है। उसका आध्यात्मिक दोष है– भोगवृद्धि। भोग के लिए प्रचुर परिग्रह चाहिए और उसके लिए बड़ा उद्योग। यह क्रम जीवन के दोनों, भौतिक और आध्यात्मिक, पक्षों को जटिल बनाने वाला है। उद्योग के विकेन्द्रीकरण या अल्पीकरण का आधार अल्प-भोग है। अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा भोग-त्याग या संयम है। इसीलिए यह आध्यात्मिक है। भारत का मानस चिरकाल से आध्यात्मिक रहा है। भारतीय लोग जो शान्तिप्रिय हैं, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक परम्परा है। आर्थिक साम्य सुख-सुविधा के साधन प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिक साम्य शांति या मानसिक-सन्तुलन का साधन है।

आत्म-तुला का विस्तार

व्रत नहीं दीखते, व्रती का व्यवहार दीखता है। जो क्रूर नहीं है, उचित मात्रा से अधिक संग्रह नहीं करता है, अपने पड़ोसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देता है, अपनी सुख-सुविधा और प्रतिष्ठा के लिए दूसरों की हीनता नहीं चाहता है, दूसरों के बुद्धि-दौर्बल्य, विवशता से अनुचित लाभ नहीं उठाता है– थोड़े में नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है, ये वृत्तियां ही अणुव्रती होने का स्वयंभू प्रमाण हैं। व्रतों की साधना के बिना उनका स्वीकारमात्र इष्ट फल नहीं लाता। पहली मंजिल में केवल वस्तु का त्याग होता है। अन्तिम मंजिल में वासना भी छूट जाती है। वस्तु-संग्रह के संस्कार भी मिट जाते हैं। व्यक्ति संस्कारों का पुतला होता है। उसमें सबसे अधिक घने संस्कार अपनी सुख-सुविधा के होते हैं, जिनका स्वार्थ-वृत्ति में पूर्ण आकलन हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के संस्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी कई भूमिकाएं हैं– परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी-जगत्। इनमें क्रमशः व्यापकता है। व्यक्ति का स्व जितना विशाल बनता है, उतना ही वह स्वयं विशाल बन जाता है। यह आत्मौपम्य-बुद्धि या आत्म-तुला का विस्तारक्षेत्र है। पहले-पहल वह अपने पारिवारिक जनों को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना। आगे जाकर मानव-मानव भाई-भाई का स्वर गूंजा। अन्तिम चरण में 'प्राणीमात्र समान हैं,' यह बुद्धि में समा गया।

समाज में आत्मौपम्य बुद्धिवाद फैला हुआ है, पर आत्मौपम्य बुद्धि से फलित होने वाले स्वार्थ-त्याग के व्रत की साधना नहीं है। ज्ञान का आवरण दूर हुआ है, किन्तु मोह नहीं छूटा है। यथार्थ ज्ञान मोह के रहते हुए क्रियात्मक नहीं बनता, इसलिए एक कदम और आगे बढ़ाना होगा। जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया, वैसे मोह को उखाड़ फेंकने की साधना करनी होगी। ऐसा किए बिना अन्याय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रामाणिकता का अन्त नहीं किया जा सकता। आत्म-तुला का संस्कार मोह से दबा रहता है, तभी व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीड़न करता है, उन्हें मारता है, सताता है, हानि पहुंचाता है। जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाये वह फिर किसी को न मार सकता है, न सता सकता है और न लूट सकता है। जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण कई राष्ट्रों का नैतिक बल बहुत ऊंचा है। बाहरी समानता का भाव भी इतना फल ला सकता है, तब भला आन्तरिक समता की वृत्ति के महान् परिणाम के बारे में कैसे संदेह किया जाये ? आत्मिक समानता की वृत्ति का उदय होने पर परिवार, जाति आदि के बाहरी भेद और भौगोलिक आदि कृत्रिम भेद-रेखाएं ही नहीं मिटतीं, उनका उन्माद भी मिट जाता है। उपयोगिता-पूरक भेद के रहने पर भी संताप बढ़ने का अवकाश नहीं रहता।

7.6. अहिंसक समाज-संरचना की संभावना

अहिंसक समाज और हिंसक समाज-- ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। कोई भी समाज ऐसा नहीं हो सकता, केवल हिंसा या अहिंसा के आधार पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अपनी और अपने व्यक्तियों तथा वस्तुओं की सुरक्षा के लिए हिंसा की बाध्यता आती है। इस स्थिति में विशुद्ध अहिंसक समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

समाज की रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। यदि मनुष्य हिंसक जानवरों की भांति एक-दूसरे को खाने दौड़ते तो समाज का निर्माण ही नहीं होता। एक-दूसरे के हितों में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अतः विशुद्ध हिंसक समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है– समाज हिंसा और अहिंसा दोनों के योग से चलता है। कोरी अहिंसा के बल पर वह चल नहीं पाता और कोरी हिंसा के बल पर वह टिक नहीं पाता। इस दुनिया में वही समाज अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकता है, जो शक्तिशाली है। शक्ति के स्रोत तीन हैं– अर्थ, सत्ता और धर्म।

परिभाषा

अर्थ और सत्ता– दोनों हिंसा के आधार पर चलते हैं और जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। धर्म का आधार है अहिंसा। वह जीवन को उच्चता प्रदान करता है। समाज-रचना के मूल में अर्थ और धर्म दोनों हैं। पर सामाजिक व्यक्ति को अर्थ जितना अनिवार्य लगता है, उतना धर्म नहीं लगता। उसका प्रथम आकर्षण अर्थ के प्रति, दूसरा सत्ता के और तीसरा धर्म के प्रति है। इसलिए अर्थ और सत्ता के पास जितना शक्तिसंचय है, उतना धर्म के पास नहीं है। इस परिस्थिति में अहिंसक समाज की रचना का प्रश्न बहुत उलझनें उत्पन्न कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसक समाज और अहिंसक समाज

इन दोनों को परिभाषा में बांधना, इनके बीच भेद-रेखा खींचना सरल कार्य नहीं है, फिर भी व्यवहार-संचालन के लिए ऐसा करना ही होगा। जिस समाज में अर्थ और काम की प्रधानता और आचार-धर्म की गौणता या अवहेलना होती है वह हिंसक समाज कहलाता है। जिस समाज में अर्थ, काम और धर्म– तीनों की संतुलित उपासना होती है, वह अहिंसक समाज कहलाता है। हिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा पर आवरण डाल देते हैं। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा से प्रभावित होते हैं।

पुरुषार्थ का सन्तुलन

भारतीय समाजशास्त्रियों ने पुरुषार्थ चतुष्टयी का प्रतिपादन किया था, जैसे– अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ समाज के भौतिक विकास का प्रमुख साधन है। काम उसकी प्रेरणा है। अर्थ और काम का एक युगल है। धर्म समाज के आध्यात्मिक विकास का मुख्य साधन है। मोक्ष उसकी प्रेरणा है। धर्म और मोक्ष का एक युगल है। प्रथम युगल हमारी भौतिक कक्षा का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा हमारी आध्यात्मिक कक्षा का। दोनों युगलों का अपना-अपना स्थान और अपना-अपना महत्त्व है।

सोमदेव सूरी ने एक प्रश्न उपस्थित किया कि पुरुषार्थ चतुष्टयी में से किस पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व देना चाहिए ? इस प्रश्न का मूल्य आज भी कम नहीं हुआ है। उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह आज भी मूल्यवान् है। उन्होंने कहा-- इनका संतुलित सेवन करना चाहिए। किसी एक का अति सेवन करने से वह स्वयं की हानि करता है और दूसरों को भी पीड़ा पहुंचाता है।

"एको ह्यत्यासेवितोधर्मार्थकामानां आत्मानमितरौ च पीडयति।"

अर्थ की अति का तात्पर्य है– काम और धर्म की क्षति। काम की अति का तात्पर्य है– अर्थ और धर्म की क्षति। धर्म की अति का तात्पर्य है– अर्थ और काम की क्षति। समाज को इन सबकी अपेक्षा है, इसलिए सामाजिक भूमिका में किसी एक को सर्वोच्च आसन नहीं दिया जा सकता।

ऐसा अनुभव हो रहा है कि वर्तमान समाज ने अर्थ को अतिरिक्त मूल्य दिया है। महामात्य कौटिल्य का प्रसिद्ध सूत्र है– 'अर्थ एवं प्रधानमिति कौटिल्यम्'। कौटिल्य अर्थ को ही प्रधान मानता है। इस अर्थ की प्रधानता से आज का समाज हिंसा के चक्रव्यूह में फंस गया है।

हिंसक समाज में ये तत्त्व फलते-फूलते हैं :

1. अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण।
2. स्वार्थ का उन्मुक्त प्रयोग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. गलत मूल्यों की स्थापना।
4. श्रम का अवमूल्यन।
5. नैतिकता का अवमूल्यन।

अहिंसक समाज में इन तत्त्वों को विकसित होने का अवसर मिलता है:

1. अर्थार्जन के साधनों की शुद्धि।
2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण।
3. मूल्यों की यथार्थता।
4. श्रम का उचित मूल्यांकन।
5. नैतिकता संबन्धी विवेचन यहां अपेक्षित है।
6. कर्तव्य की प्रेरणा।
7. स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ-सन्तुलन।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज, ये दो सापेक्ष इकाइयां हैं। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितों का संरक्षक है। व्यक्ति-विहीन समाज अस्तित्व में नहीं आता और समाज-विहीन व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाता। समुद्र जल बिन्दुओं की संहति के सिवाय और कुछ नहीं है, पर उससे बिछुड़े हुए जलबिन्दु को भूमि सुखा देती है।

व्यक्ति का जिस दिन समाजीकरण हुआ, उसी दिन उसने विकास की दहलीज पर पैर रख दिये। वह प्रस्तर-युग से आज अणु-युग तक पहुंच गया है।

व्यक्ति और समाज– ये दोनों परिवर्तनशील सत्ताएं हैं। संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति के आधार पर ये बदलते रहते हैं। सिद्धान्त और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। संस्कार व्यक्तिगत होते हैं, इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जीवन पर संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति– तीनों प्रभाव डालते हैं। समाज को प्रभावित करने वाले दो तत्त्व हैं– सिद्धान्त और परिस्थिति।

अहिंसा– संस्कार-परिवर्तन की प्रक्रिया

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तन से समाज परिवर्तित होता है और समाज के परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित होता है। व्यक्ति और समाज के बाह्य व्यवहार के परिवर्तन में यह बात घटित हो सकती है, किन्तु व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन में यह घटित नहीं होती। साम्यवादी देशों में एक विशेष सिद्धान्त और परिस्थिति का निर्माण हुआ है। उनके अनुसार वहां अर्थ पर होने वाला व्यक्तिगत स्वामित्व प्रतिबद्ध है। क्या इस प्रतिबद्धता को साम्यवादी देशों की जनता ने हृदय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता दी है ? क्या उनके व्यक्तिगत स्वामित्व के संस्कार बदल गये हैं ? क्या वहां आर्थिक घोटाले नहीं होते ? क्या कोई साम्यवादी देश यह दावा कर सकता है कि उसकी जनता में अनैतिकता या भ्रष्टाचार सर्वथा नहीं है ? यदि ऐसा हो तो मानना चाहिए कि साम्यवाद मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन में सफल हुआ है। यदि ऐसा नहीं है और समय-समय पर प्राप्त संवादों से यह ज्ञात होता है कि ऐसा नहीं है, तब मानना चाहिए कि साम्यवाद ने दण्डशक्ति को प्रखर बनाकर मनुष्य की प्रकृति को बाध्य कर रखा है, किन्तु उसे बदलने में सफल नहीं हुआ है।

मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता यदि किसी में है तो वह अहिंसा में ही है, अन्य किसी व्यक्ति में नहीं है।

अहिंसा व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति उसको हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से स्वीकार करता है वह परिस्थिति का सामना कर लेता है, किन्तु अनैतिक आचरण नहीं करता या कर ही नहीं सकता। इसका हेतु है करुणा का विकास, आत्मौपम्य की भावना का विकास।

जिसके अन्त:करण में करुणा प्रवाहित नहीं होती, वह सही अर्थ में साम्यवादी या समाजवादी हो सकता है, यह समझने में मुझे कठिनाई है और यह भी सच है कि राजनीतिक साम्यवाद की मर्यादा में मानवीय करुणा को वह स्थान नहीं मिल सकता जो सत्ता-संग्रह को मिलता है। पूंजीवादी समाज अर्थशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है तो साम्यवादी समाज सत्ताशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है। मानव के प्रति करुणा को प्राथमिकता कहीं भी प्राप्त नहीं है। वह केवल अहिंसक समाज में ही हो सकती है।

अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता का मूल्य सर्वोपरि नहीं होगा। उसमें सर्वोपरि मूल्य होगा मानवता का।

7.7 अहिंसक समाज-व्यवस्था

जीवन की आवश्यकताएं नहीं छूटती– यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति-क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है। निर्वाह की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित मानता है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएं होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण करना सभी समाजों में मान्य होता है। यह समाज की एकरूपता है। नियन्त्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सबमें एकरूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं– (1) भौतिक, (2) राजनीतिक, (3) सामाजिक, (4) नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमश: प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज-भय और आत्मपतन-भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी हैं और आखिरी आन्तरिक है। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए दंड की आशंका हो, वहां उनकी मर्यादा का पालन और जहां वह न हो वहां मर्यादा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक-नियन्त्रण दंड-प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक-जागरण है। इसलिए उसमें बाहर-भीतर का द्वैध नहीं होता। प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखने वाला बाहर की किसी भी शक्ति ने नहीं डरता, इसलिए सही माने में वह अभय है। अहिंसक समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्म-पतन का भय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है, जो आत्म-पतनकारक नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति का क्रम हिंसा को उत्तेजना देने वाला नहीं होता। वासना उसे उत्तेजित करती है। आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना ही अहिंसक समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

आवश्यकताएं अधिक रहे, वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन नहीं सकती। उसके बिना अहिंसा केवल औपचारिक हो जाती है। इसलिए आवश्यकताएं कम करना भी अहिंसक समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकताएं निर्वाह मूलक नहीं होतीं। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता है, तब आवश्यकताएं बढ़ती हैं। जब आवश्यकताएं बढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, अहिंसा औपचारिक बन जाती है। औपचारिक अहिंसा से वह शान्ति नहीं मिलती, जो उससे मिलनी चाहिए। इसलिए अहिंसक समाज-व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान लक्ष्य है– इच्छा का नियन्त्रण।

अहिंसक समाज-व्यवस्था : तीन भूमिकाएं

खाना स्वाभाविक लगता है। नहीं खाना स्वाभाविक नहीं लगता। खाने का समय नहीं खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है। खाना शरीर की जरूरत है, इसलिए प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर नहीं खाता, यह उसका हित है, इसलिए वह खाना छोड़ देता है– खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण-शक्ति कम होती है। वह पेटू बन जाता है, जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार-पक्ष है। परिमित करना– नहीं खाना, भूख सहना– यह हित पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियां इन तीनों पक्षों में समा जाती हैं। कानून या विधि-विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वाभाव-पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव-पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूं कहना चाहिए– विकार और स्वभाव का विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है तब आध्यात्मिक, नैतिक या व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित की परिभाषा की संज्ञा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप वासना की अति मात्रा-पूर्ति विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव है। वासना-विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा में खाना अकर्तव्य है, पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिए पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिए पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक-जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह स्वभाव के लिए विकार का और हित के लिए स्वभाव का त्याग करता है।

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वही उसका कर्तव्य माना जाए तो अकर्तव्य जैसा कुछ शेष ही नहीं रहता। शोषण, संग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वत:स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी असंग्रह के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढंकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है, इसलिए यह अकर्तव्य है। वैध ढंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार-प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिए वह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस से स्वाभाविक प्रेरणा-लभ्य नहीं है, इसलिए ये प्रधान कर्तव्य हैं।

अणुव्रती समाज-व्यवस्था में- अकर्तव्य का वर्जन, सामान्य कर्तव्य का नियन्त्रण और प्रधान कर्तव्य का विकास- ये तीन भूमिकाएं होंगी।

शासनमुक्त या शासनयुक्त ?

अहिंसक समाज शासन मुक्त होगा या शासनयुक्त ? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है। मेरे सामने जब यह प्रश्न आता है तब मेरी दृष्टि एक शास्त्रीय वर्णन की ओर चली जाती है। उसमें निरूपित है कि इसी विश्व में एक कल्पातीत नाम का लोक है। वहां दिव्य पुरुष रहते हैं। वे ऋद्धि और ऐश्वर्य से समान हैं, आयु और बल की दृष्टि से समान हैं। उनमें न कोई सेवक है और न कोई स्वामी- वे सब 'अहमिन्द्र' हैं। उनका समाज सोलह आना साम्यवादी और सोलह आना शासनमुक्त है।

इस वर्णन को आप कल्पना मानें या यथार्थ, यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। यदि यह कल्पना भी हो तो इसका मूल्य कम नहीं है। साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज की रचना की जा सकती है, इसमें यह संभावना प्रस्फुट हुई है।

साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व है- मानसिक विकास। यह मानसिक विकास क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशमन से होता है। इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिये बिना साम्यनिष्ठ शासनमुक्त समाज-रचना की आशा नहीं की जा सकती। महर्षि मार्क्स ने शासनमुक्त समाज की कल्पना की। उनके अनुसार साम्यवाद की चरम परिणति शासनमुक्त समाज है। हर साम्यवाद में वह हो नहीं सकी। साम्यवादी राष्ट्रों में शासन का नियन्त्रण अधिक कठोर हुआ है। मेरी समझ में इसका कारण है– मानसिक विकास की उपेक्षा। साम्यवादी राष्ट्रों ने समाज के भौतिक आधार में साम्य लाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप उनकी जनता साम्यवादी हो गयी, किन्तु साम्यनिष्ठ नहीं हुई। जिसमें साम्य की निष्ठा नहीं होती, वह शासनमुक्त नहीं हो सकता। जिनका क्रोध उपशान्त नहीं है वे लोग झगड़ालू होने के कारण समाज को हीन मानकर वर्गभेद उत्पन्न कर देते हैं। मायावी मनुष्य दूसरों को ठगते रहते हैं। लोभी मनुष्य अपने हितों की पूर्ति के लिए दूसरे के हितों का विघटन कर डालते हैं। जिस समाज में उच्चता और हीनता, ठगाई और अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने की मनोवृत्ति होती है, वह शासनमुक्त कैसे हो सकता है ? यदि महर्षि मार्क्स भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को जोड़ देते तो अवश्य ही साम्य का वाद साम्य की निष्ठा में बदलकर शासनमुक्त होने की ओर अग्रसर हो जाता।

अहिंसक समाज में भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रिया समन्वित होगी, इसीलिए वह शासनमुक्ति की ओर सतत गतिशील होगा।

व्यक्तिगत स्वामित्व

शासनमुक्त समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति की संग्रह-परायण मनोवृत्ति। हर आदमी अर्थ का संग्रह करता है और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। क्या अहिंसक समाज में यह व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य हो सकता है ?

प्रवृत्ति का विकास प्रेरणा से होता है। अपने सुख और अपने स्वत्व की प्रेरणा बहुत प्रबल होती है। वैयक्तिकता को विलुप्त करने से विकास की प्रेरणा क्षीण हो जाती है और उसे अमर्यादित छूट देने से वह उच्छृंखल हो जाती है। अतः अहिंसक समाज में व्यक्तिगत स्वामित्व एक सीमित अर्थ में ही मान्य हो सकता है।

अहिंसक समाज का दूसरा पहलू होगा अपरिग्रही समाज। अहिंसा और अपरिग्रह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। अहिंसक समाज का मुख्य सूत्र है– इच्छा-संयम, संग्रह-संयम और प्रवृत्ति का विकेन्द्रीकरण। इच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विस्तार, अर्थ का विकेन्द्रीकरण और हिंसा– ये सब साथ-साथ चलते हैं।

व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा क्या होगी ?

अहिंसक समाज का सदस्य व्यक्तिगत धन कितना रखे, यह संख्या निर्धारित करना बड़ा जटिल है। इसका सरल सूत्र यह हो सकता है– जितनी आवश्यकता उतना संग्रह। एक मनुष्य श्रम कर धन का अर्जन करता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर पाता। किसी मनुष्य में व्यावसायिक बुद्धि प्रबल होती है। वह बुद्धि-बल के सहारे विपुल धन कमा लेता है। श्रमिक की आवश्यकता श्रम से नियमित होती है, अत: वह यथार्थ होती है। बौद्धिक की आवश्यकता भी बौद्धिक हो जाती है। उसकी कहीं कोई सीमा नहीं होती। फिर 'जितनी आवश्यकता उतना संग्रह' इसका क्या अर्थ होगा ? अहिंसक समाज का सदस्य श्रमिक या बौद्धिक होने से पहले संयमी होगा। अत: वह वास्तविक आवश्यकताओं का अंबार खड़ा नहीं करेगा। उसका संग्रह दो नियामक तत्त्वों से नियंत्रित होगा :

1. अर्जन के साधनों की शुद्धि।
2. विसर्जन।

अहिंसक समाज में साधन-शुद्धि का साध्य से कम मूल्य नहीं होगा। अत: अहिंसक समाज का सदस्य अर्जन के साधनों की शुद्धि का पूर्ण विवेक रखेगा। वह व्यवहार में प्रमाणिक रहेगा–

(1) किसी वस्तु में मिलावट कर या नकली को असली बताकर नहीं बेचेगा।
(2) तोल-माप में कमी-बेशी नहीं करेगा।
(3) चोर-बाजारी नहीं करेगा।
(4) राज्य-निषिद्ध वस्तु का व्यापार और आयात-निर्यात नहीं करेगा।
(5) सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इन्कार नहीं करेगा।

अर्जन के साधनों की शुद्धि रखते हुए उसे जो अर्थ प्राप्त होगा, वह उसके लिए अग्राह्य नहीं होगा। अहिंसक समाज की आवश्यकता व्यक्तिगत संयम के द्वारा नियंत्रित होगी। अत: उसका सदस्य अतिरिक्त अर्थ का विसर्जन कर देगा। वह विसर्जित अर्थ सामाजिक कोष के रूप में संगृहीत होगा। समाज-कल्याण के लिए उसका उपयोग होता रहेगा। भगवान महावीर ने अहिंसा व्रतों के दो सूत्रों का प्रतिपादन किया था – (1) अल्प-आरंभ, (2) अल्प-परिग्रह। वर्तमान की भाषा में अल्प-आरंभ लघु व्यवसाय या लघु उद्योग और अल्प-परिग्रह का अर्थ आवश्यकतापूरक व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। अहिंसक समाज में महाआरंभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वृहत् व्यवसाय या वृहत् उद्योग) और महापरिग्रह (विपुलसंग्रह) व्यक्तिगत नहीं होंगे। उसका समाजीकरण दण्डशक्ति के आधार पर नहीं, किन्तु विसर्जन के आधार पर होगा।

सुरक्षा की निर्भरता

क्या अहिंसक समाज रक्षा के लिए पुलिस और सेना पर निर्भर होगा या उसे उनकी अपेक्षा नहीं होगी ?

इस प्रश्न पर मानवीय प्रकृति तथा समग्र विश्व के संदर्भ में विचार किया जा सकता है।

देश की आन्तरिक सुरक्षा का दायित्व पुलिस पर और बाहरी आक्रमण की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है। अहिंसक समाज की स्थापना होने पर आन्तरिक मामलों में सेना के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होगी और पुलिस की आवश्यकता भी कम-से-कम होगी। अहिंसक समाज में अणुव्रत का वह व्रत अनिवार्यत: पालनीय होगा–

"मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।"

अहिंसक समाज में सेना आक्रमणकारी नहीं होगी। उसका काम केवल अपनी सीमा की सुरक्षा करना ही होगा।

पुलिस और सेना से मुक्त समाज की कल्पना प्रिय बहुत है, पर व्यवहार की भूमिका में उसका अवतरण अल्पकाल और साधारण प्रयत्न-साध्य नहीं है। निष्कर्ष की भाषा में निकट भविष्य में उसकी संभावना नहीं है।

मूल्यों का परिवर्तन

अहिंसक समाज की संरचना के सामने सबसे बड़ी समस्या है मूल्यों का परिवर्तन। श्रम, वस्तु और संग्रह के मूल्य बदले बिना अहिंसक समाज-रचना की संभावना नहीं की जा सकती।

अहिंसक समाज की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है स्वार्थ। वह वैयक्तिक बड़प्पन और सुखानुभूति की प्रेरणा है। उसे कैसे बदला जाये ? क्या जनसाधारण किसी सैद्धान्तिक प्रेरणा को सामाजिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार हो सकता है ? इसमें भी हित-साधना की भावना कुछ ही लोगों में जागृत होती है। अधिकांश लोग अपने हित-साधन की चेष्टा में ही लगे रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस समस्या का आधारभूत आश्वासन यह है कि मानव-स्वभाव सतत गतिशील और विकासशील है। यदि समाज की धारा को एक ही धारा में प्रवाहित किया जाए तो स्वार्थ-संयम की बात उसके संस्कारों में रूढ़ हो सकती है। इस कार्य की निष्पत्ति में आध्यात्मिक वातावरण, आंशिक रूप में सामाजिक दबाव और सत्याग्रह अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं।

स्वार्थशासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलम्बन का अवमूल्यन हो जाता है। करुणाशासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलंबन का मूल्य बढ़ जाता है।

अभ्यास

1. अहिंसक समाज की संरचना में अणुव्रत की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए बतायें कि क्या व्रतों के आधार पर समाज-रचना संभव है।
2. नीति और अध्यात्म के भेद को स्पष्ट करते हुए अध्यात्म की मौलिकता को सिद्ध करें।
3. आर्थिक स्वस्थता के लिए अपरिग्रह की धारणा को स्पष्ट करते हुए विश्वशांति में उसकी उपयोगिता को रेखांकित करें।
4. राष्ट्रवाद और विश्वशान्ति को एक साथ कैसे स्थापित किया जा सकता है समझायें ?

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड द्वितीय

प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यास प्रथम

कायोत्सर्ग

भूमिका

जब शरीर को शिथिल और तनाव-मुक्त किया जाता है, तब उस स्थिति को शव की तरह होने से शवासन भी कहते है, किन्तु कायोत्सर्ग और शवासन में मौलिक अन्तर है। बाहर से दोनों क्रिया समान दिखाई देती है, किन्तु शवासन मुर्दे की तरह जड़वत् होने की अवधारणा प्रदान करता है जबकि कायोत्सर्ग में शरीर का विसर्जन अर्थात् शरीर के प्रति जो ममत्व और पकड़ है, उसे छोड़ना होता है तथा चैतन्य को निरन्तर जागृत बनाये रखना होता है।

श्वास-प्रश्वास पर चित्त को एकाग्र कर प्रत्येक अवयव को शिथिलता का सुझाव दिया जाता है तथा शिथिलता का अनुभव किया जाता है। कायोत्सर्ग लेटकर, बैठकर और खड़े-खड़े भी किया जा सकता है। आरम्भ में लेटकर कायोत्सर्ग करने में सुविधा रहती है। लेटकर शिथिलता सधने पर बैठकर और खड़े-खड़े कायोत्सर्ग का अभ्यास किया जा सकता है।

विधि :-

लेटकर कायोत्सर्ग करने के लिए शरीर को पीठ के बल लेटा दें। दोनों हाथों को शरीर के समानान्तर फैलाएं। हथेलियां आकाश की ओर खुली रखें। दोनों पैरों के बीच एक फुट का फासला रखें। शरीर को ढीला छोड़ दें। दाहिने पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को क्रमशः केन्द्रित करें। शिथिलता का सुझाव दें।

शरीर शिथिल हो जाए। .....
शरीर शिथिल हो रहा है। .....
अनुभव करें शरीर शिथिल हो गया है।
शरीर में शिथिलता के साथ चैतन्य का निरंतर अनुभव करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय

एक मिनट से पांच मिनट तक। साधना में विकास की दृष्टि से 45 मिनट का अभ्यास किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वास मन्द और शान्त रखें।

लाभ

कायोत्सर्ग शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्ति प्रदान करता है। भगवान् महावीर ने कायोत्सर्ग को समस्त दु:खों से मुक्ति प्रदान करने वाला बताया है **"सव्वदुक्खोविमोक्खाणं काउस्सग्गं"**। इससे प्रत्येक अवयव में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। कायोत्सर्ग से देह एवं बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है, एकाग्रता बढ़ती है, कलह उपशान्त होता है।

अभ्यास द्वितीय

1. पुनरावर्तन

निम्नलिखित आसनों का पुन: अभ्यास करें–

1. उत्तानपादासन 2. वज्रासन 3. सुप्तवज्रासन 4. सुखासन

5. पद्मासन 6. समपादासन 7. ताड़ासन 8. त्रिकोणासन

2. आसन : क्या और क्यों ?

आसन केवल शारीरिक क्रिया मात्र नहीं है, उसमें अध्यात्म-निर्माण के बीज छुपे हैं। आसन अध्यात्म-प्रवेश का प्रथम द्वार है। आसन शरीर की क्रियाओं को ही व्यवस्थित नहीं बनाता अपितु वाक् और मन को भी स्थिरता प्रदान करता है।

प्रेक्षा स्वरूप-उपलब्धि की प्रक्रिया है। व्यक्ति मूढ़ता से बहिर्यात्रा करने लगता है। बहिर्मुखी वृत्ति ही व्यक्ति को स्वरूप से दूर ले जाती है। स्वरूप की दूरी ही आधि-व्याधि और असमाधि का कारण बनती है। प्रेक्षा-साधना सर्वांगीण पद्धति है। इसमें जहां अध्यात्म के शिखरों की चर्चा है, वहां शरीर शुद्धि, श्वास और प्राण-शुद्धि के लिए आसन और प्राणायाम का भी विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता है।

आसन के लिऐ प्रयुक्त होने वाले वस्त्र आदि को भी आसन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये आसन सूत, कुशा, तिनके, ऊन आदि के होते हैं। ऊन का आसन श्रेष्ठ माना जाता है। आसन शरीर की सहज स्थिति के लिए है। हठयोग में आसनों के असंख्य प्रकार बताए गये हैं। जीव-योनियों के समान आसनों की संख्या भी चौरासी लाख है। इनमें चौरासी आसनों की प्रधानता रही है। शरीर की स्थिर स्थिति को जैन परम्परा में 'कायगुप्ति' कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन और शक्ति-संवर्धन

संस्कार-शुद्धि के साथ संयम एवं शक्ति-संवर्धन के लिए आसन का अभ्यास किया जाता है। स्थिति एवं गति आसन के दो स्वरूप हैं। इससे संस्कारों का विलय होता है। ध्यान के लिए "स्थित-आसन" उपयोगी है। इसमें लम्बे समय तक ठहरा जा सकता है। पद्मासन, वज्रासन, सिद्धासन, सुखासन एवं कायोत्सर्ग ये ध्यान-आसन हैं। स्थित-आसन से मांसपेशियों को विश्राम मिलता है। विश्राम की यह स्थिति कायोत्सर्ग का एक प्रकार है।

गति वाले आसनों में मांसपेशियों की पारस्परिक गति से शरीर को संतुलित बनाया जाता है। ये पेशियां जोड़ों को व्यवस्थित बनाती हैं तथा गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध संतुलन बनाये रखती हैं। इससे शक्ति का संवर्धन होता है।

गत्यात्मक आसनों में शरीर के अवयवों को गतिशील करना होता है। यह गति अत्यन्त धीमी तथा सावधानीपूर्वक की जाती है। इन्हें करते समय शरीर की बदलती हुई पेशियों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। गति के पश्चात् शरीर को कुछ समय तक शिथिल छोड़ देना आवश्यक है, जिससे विजातीय तत्त्व का निरसन एवं शरीर में शक्ति संचय हो सके।

प्रारंभ में आसन के अभ्यास से पेशियों पर स्वल्प-सा तनाव आता है, पर क्रमशः अभ्यास के द्वारा आसन की सहज स्थिति तक पहुंचा जा सकता है। उस समय तनाव का अनुभव नहीं होता है। केवल पेशियों या किसी अवयव को एक आकार में ले आना ही आसन का उद्देश्य नहीं है। आसन के साथ शरीर को शिथिल छोड़ना भी आवश्यक है, क्योंकि उससे ही स्नायु-संस्थान में ठहरे हुए विजातीय तत्त्वों का शोधन होता है। **योग-सूत्र** में उल्लिखित **"प्रयत्न-शैथिल्य"** यही अवस्था है, इससे शरीर शिथिल होकर तनाव-मुक्त हो जाता है।

आसन-विजय साधना का आधार है। उसके अभाव में व्यक्ति दीर्घ ध्यान, कायोत्सर्ग, भावना-योग आदि का अभ्यास कैसे कर सकता है? आसनों का प्रयोग केवल शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक भी है। आसनों के अभ्यास से न केवल कायसंयम ही होता है, अपितु वाक् और मन का भी संयम होता है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक तनाव-मुक्ति सहज होती है। आसनों के नियमित अभ्यास से काया अन्तरंग यात्रा के उपयुक्त बन जाती है। बाह्य-क्लेश एवं परिषह-विजय की क्षमता उत्पन्न होने लगती है।

आसन और स्वास्थ्य

आसन शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति एवं आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्माण करता है। आसन अस्वस्थ व्यक्ति के लिए उपयोगी है, तो स्वस्थ व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान युग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्याधिक्य एवं व्यस्तता से मनुष्य अपने जीवन की उपयोगी एवं आवश्यक क्रियाओं का भी परित्याग कर देता है, जिससे न केवल वह स्वास्थ्य से हाथ धोता है, अपितु जीवन-विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है।

आसन से मानसिक प्रसन्नता के साथ-साथ शरीर के अवयवों पर सीधा असर होता है। संधि-स्थल, पक्वाशय, यकृत, फेंफड़े, हृदय, मस्तिष्क आदि सम्यक्तया अपना कार्य करने लगते हैं।

आसन से मांसपेशियां सुदृढ़ एवं सुडौल बनती है, जिससे पेट एवं कमर का मोटापा दूर होता है। चर्बी भी आसन से स्वयं कम होने लगती है। आसन करने से शरीर के सभी अंग एवं तंतु सक्रिय हो जाते हैं, जिससे रोग-प्रतिकार की क्षमता एवं स्वास्थ्य उपलब्ध होता है।

स्नायु-मंडल को शक्ति-संपन्न एवं सक्रिय करने के लिए आसन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। स्नायुओं में क्रियावाहिनी और ज्ञानवाहिनी दोनों प्रकार की नाड़ियां होती हैं। आसन से उन पर विशेष प्रकार का दबाव पड़ता है। इससे वे पुष्ट एवं सक्रिय बनती हैं। उनकी सक्रियता एवं क्रियाशीलता शक्ति उत्पन्न करती है। स्नायु-मंडल मस्तक से लेकर पांव के अंगुष्ठ तक फैले हुए हैं। आसन से समस्त स्नायु प्रभावित होते हैं, अत: स्वास्थ्य-साधना की दृष्टि से आसन की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

साधना की दृष्टि से जोड़ों में लचीलापन अत्यन्त अपेक्षित है। सुषुम्नाशीर्ष तथा सुषुम्ना के जोड़ों में लचीलापन होने से उनके अन्दर से प्रवाहित होने वाले शक्ति-स्रोतों को सक्रिय किया जा सकता है। स्वास्थ्य एवं साधना की दृष्टि से सुषुम्ना (स्पाइनल कोर्ड) का स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। आसनों से सुषुम्ना पर सीधा असर होता है।

आसन की गतिविधि से पाचन-संस्थान सक्रिय बनता है। उसके रासायनिक द्रव्यों का समुचित स्राव होता है।

आसनों का सीधा असर रक्त-संचार पर भी होता है जिससे रक्त-संचार सम्यक्तया होने लगता है। साथ ही प्रत्येक अंग का पोषण एवं अशुद्ध तत्त्व का परिहार होता है।

बौद्धिक विकास के साथ भौतिक वातावरण ने व्यक्ति को आज तनाव-पूर्ण स्थिति में पहुंचा दिया है। रक्तचाप एवं रक्तमंदता की बीमारी प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस पर नियंत्रण के लिए योगासन अचूक साधन है। कायोत्सर्ग के रूप में खोजी गई विधि जहां व्यक्ति को तनाव-मुक्त करती है, वहां रक्तचाप पर भी नियंत्रण करती है।

आसनों में श्वास-प्रश्वास का भी विशेष प्रयोग किया जाता है जिससे फेफड़ों की क्रिया पूरी होती है। उसका परिणाम हृदय और रक्त-शोधन पर पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन का हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स) पर भी प्रभाव पड़ता है, जो शरीर एवं भावनाओं का नियंत्रण करती हैं। इन ग्रंथियों से विशेष प्रकार के स्राव होते हैं, जिन्हें हार्मोन कहते हैं। इससे शरीर, मन एवं चैतन्य-केन्द्रों के विकास में सहयोग मिलता है। शरीर-विज्ञान ने ग्रन्थियों के कार्य एवं प्रवृत्तियों पर सूक्ष्मता से अनुसंधान किया है। उससे ज्ञात हुआ है कि कौन-कौन-सी ग्रन्थियां किन-किन भावों का कार्य एवं नियंत्रण करती हैं। उनको नियंत्रित करने के लिए आसन, बन्ध आदि अन्य यौगिक प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

आसन का उद्देश्य

आसन से शरीर की सुघड़ता और सौंदर्य में अभिवृद्धि होती है। साथ ही मानसिक शांति और निश्चिन्त जीवन की उपलब्धि होती है। आसन करने का उद्देश्य है– शरीर के यंत्र को साधना के अनुरूप बनाना। शरीर का प्रत्येक अवयव सक्रिय एवं स्वस्थ बने, यह स्वास्थ्य और साधना दोनों दृष्टियों से अपेक्षित है। यह निर्विवाद है कि काया की क्षमता के अभाव में वाक् और मन शीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं। वाक् और मन पर संयम से पूर्व काय-संयम आवश्यक है। उसके लिए आसन प्रक्रिया एक सम्यग्-अनुष्ठान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट उद्घोषित किया है– "जिन-शासन को जानने के लिए आहार-विजय के साथ आसन-विजय को जानना आवश्यक है।"

योगासन और व्यायाम में मौलिक अन्तर है। व्यायाम यानी एक्सरसाइज अथवा बॉडी-बिल्डिंग (Body-building) से शरीर की मांस-पेशियों एवं कुछ अवयव ही पुष्ट बनते हैं। उनकी पुष्टता एक बार मांसपेशियों के उभार के रूप में सामने आती है, पर अन्त में उनमें कड़ापन आने लगता है। उनको छोड़ देने से मांसपेशियां ढीली पड़ जाती हैं और वे असुन्दर दिखाई देने लगती हैं। दूसरे प्रकार के व्यायाम– कुश्ती, दौड़, बैठकें– एक बार तो शरीर की मांसपेशियां आदि को प्रभावित करते हैं, किन्तु स्थायित्व की दृष्टि से उनके भी अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं आते।

योगासन योगियों द्वारा खोजा गया अनूठा विज्ञान है। योगासन मात्र हाथ-पांवों को ऊंचा-नीचा करना ही नहीं है, उसके पीछे पूरा विज्ञान है। कौन-सा आसन किस अवयव पर क्या प्रभाव डालता है, वह प्रभाव क्यों, किसलिए होता है, इन सबकी प्रायोगिक व्याख्याएं आज शोधकर्त्ताओं के पास उपलब्ध है।

3. आसन-प्राणायाम के आवश्यक विधि-निषेध

1. जिन व्यक्तियों के कान बहते हों, नेत्रताराएं कमजोर हों एवं हृदय दुर्बल हो, उन्हें शीर्षासन नहीं करना चाहिए।

2. उदरीय अवयवों से पीड़ा एवं तिल्ली में अभिवृद्धि वाले व्यक्तियों को भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन नहीं करने चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. कोष्ठबद्धता (कब्ज) से पीड़ित व्यक्ति को योग-मुद्रा, पश्चिमोत्तानासन अधिक समय तक नहीं करना चाहिए।

4. हृदय-दौर्बल्य में साधारणतया उड्डियान और नौली-क्रिया नहीं करनी चाहिए।

5. फेफड़े के दौर्बल्य में उज्जाई प्राणायाम और कुम्भक न किया जाए।

6. जिन व्यक्तियों के उच्च रक्तचाप रहता हो उन्हें कठोर यौगिक अभ्यास नहीं करना चाहिए।

4. सावधानियां

1. यौगिक अभ्यास का प्रभाव क्लान्ति या स्फूर्तिनाश नहीं होना चाहिए। यौगिक अभ्यास के बाद पूर्ण उत्साह की अनुभूति होनी चाहिए।

2. पूरे अभ्यास क्रम को एक साथ निरन्तर करना आवश्यक नहीं है। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार विश्राम किया जा सकता है।

3. अभ्यास-क्रम में लगाए गए बल से शरीर की किसी भी प्रणाली पर कोई तनाव न पड़े।

4. आसन सजग रहकर, आत्मविश्वास से संपादित करने से ध्येय की पूर्ति होती है।

5. यदि बीच में लम्बे समय तक अभ्यास रुक गया हो तो उसका पुन: अभ्यास करें। उसकी पूरी मात्रा तक पहले की अपेक्षा अल्प समय में ही पहुंचा जा सकता है।

6. अल्प मात्रा में ठोस खाद्य पदार्थ या पूर्ण मात्रा में पेय पदार्थ ग्रहण करने के उपरान्त लगभग डेढ़ घंटे तक योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।

7. योगाभ्यास के बाद आधे घण्टे तक भोजन एवं दस मिनट तक नाश्ता न करें।

8. आसनों के अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाएं। कम समय में अधिक आसन के बजाय आसनों के समय बढ़ाने की कोशिश करें।

9. आसन में सामान्यत: श्वास गहरा व दीर्घ लेना चाहिए। शरीर का झुकाव व मुड़ना हो उस समय रेचन करें, सीधा करते हुए पूरक करें।

10. आसनों के पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाएं।

11. आसन करते समय अपने चित्त को सजग रखकर उसमें ही अपने आपको लीन रखें। कम से कम मानस चक्षुओं से उस आसन का साकार रूप बना लें।

5. आसन

1. शशांकासन

'शशक' शब्द का अर्थ है– खरगोश, जो कि एक अत्यन्त कोमल और शान्त स्वभाव वाला प्राणी है। यह आसन साधते समय शरीर की आकृति शशक यानी खरगोश जैसी बन जाती है अत: इसे शशांकासन कहा गया है। साथ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शशांक शब्द का अर्थ चंद्रमा है। तात्पर्य यह कि शशांकासन चन्द्रमा की ही तरह शीतलता प्रदान करता है।

विधि

वज्रासन की स्थिति में पंजों के बल ठहरें। हाथों को घुटनों पर रखें। पूरक करते हुए हाथों को आकाश की ओर उठाएं। रेचन करते हुए हाथ एवं ललाट (चित्रानुसार) को भूमि पर स्पर्श कराएं। दोनों हथेलियां, परस्पर सटी हुईं, बाहें कानों के पार्श्व से सटकर जाते हुए, सिर के आगे भूमि पर स्पर्श करेगी। पूरक करते हुए उठें। पुनः रेचन कर भूमि को स्पर्श करें।

दीर्घ अवधि तक शशांकासन में रुकना हो तो श्वास की गति सहज और गहरी रहेगी।

समय

एक मिनट से तीन मिनट। अभ्यास के पश्चात् धीरे-धीरे इसे आधे घंटे तक बढ़ा सकते हैं।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

शशांकासन क्रोध के उपशमन और शांति के जागरण के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इससे स्कंध, कटिभाग, पेट के अवयव संतुलित होते हैं, उनकी सुन्दरता और सौष्ठव में अभिवृद्धि होती है। यह आसन बालक-बालिकाओं के लिए सहज करणीय एवं अत्यन्त उपयोगी है। बचपन से ही आवेग और संवेगों पर नियन्त्रण-क्षमता का विकास होने से श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण होता है। चेहरे पर रक्त की लालिमा आती है, कान्ति में वृद्धि होती है। रक्तचाप शमन से स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है।

ग्रन्थितंत्र पर प्रभाव

शशांकासन 'एड्रिनल' को विशेष रूप से प्रभावित करता है। जिससे उसके स्राव नियंत्रित होते हैं। परिणामतः व्यक्ति का स्वभाव शांत एवं कोमल बनता है। भय में कमी आने से व्यक्ति निर्भय बनता है। मस्तक की ओर रक्त-प्रवाह अधिक होने से हाइपोथेलेमस प्रभावित होता है। इससे विवेक-शक्ति का विकास होता है। मानसिक शान्ति और भावों की निर्मलता को बढ़ाने में शशांकासन सहयोगी बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाभ

उच्च रक्तचाप (H.B.P.) सामान्य बनता है। क्रोध उपशमन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानसिक शान्ति के लिए उपयोगी है।

2. अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन

इस आसन को करते समय शरीर की स्थिति मत्स्य जैसी बनती है। इसलिए इसे मत्स्येन्द्रासन कहा गया है। पश्चिमोत्तानासन, हलासन आदि में पृष्ठ-रज्जु आगे की ओर मुड़ती है। चक्रासन, धनुरासन में यह इसके विपरीत मुड़ता है। मत्स्येन्द्रासन से पृष्ठ-रज्जु को केवल घुमाव मिलता है। इससे पृष्ठ-रज्जु में लचीलापन बना रहता है। साथ ही पेट के विभिन्न अवयवों पर अलग प्रकार से दबाव पड़ता है। बड़ी आंत के ऊपर के हिस्से पर एक ओर से खिंचाव पड़ने से मल आगे की ओर सरक जाता है, जिससे कब्ज दूर होती है।

विधि

आसन पर बैठकर दोनों पैरों को फैला दें। बाएं पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी को गुदा के पास, रिक्त स्थान पर स्थापित करें। यहां एड़ी का स्पर्श बना रहे। दाहिने पैर को बाएं पैर के ऊपर से ले जाकर, बाएं पैर के मुड़े हुए घुटने के पास भूमि पर पंजे को स्थापित करें। अब सीधे बैठी हुई स्थिति में, दाहिने घुटने के ऊपर पैर को स्थापित कर हाथ से इस पंजे को पकड़ें। दूसरे हाथ को पीठ के पीछे से ले जाकर (हथेली का पृष्ठ भाग पीठ को छूता हुआ, हथेली सामने की ओर रखते हुए) आगे की ओर अंगुलियों से नाभि का स्पर्श करें। कंधे और गर्दन को पृष्ठ रज्जु की ओर घुमाएं। दृष्टि कोहनी पर रहे। कुछ समय तक इस स्थिति में रुकें। इसके बाद दोनों पैरों को परस्पर बदलकर, दूसरी ओर से विपरीत क्रियाएं करते हुए यही प्रयोग करें। यह अर्ध मत्स्येन्द्रासन है।

समय और श्वास-क्रम

सीधे बैठते समय श्वास लें। एड़ी, गुदा के पास स्थापित करते समय श्वास छोड़ें। हाथ घुटने के ऊपर रखते समय श्वास लें। गर्दन, कन्धा और हाथ नाभि के पास स्पर्श करते समय श्वास छोड़ें। समय 1 से 3 मिनट तक क्रमशः बढ़ाएं। आसन की स्थिति में श्वास-प्रश्वास सामान्य रहेगा। विशेष अभ्यास के लिए प्रति सप्ताह 1-1 मिनट बढ़ाकर 10 मिनट तक अभ्यास बढ़ाया जा सकता है।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

अर्ध मत्स्येन्द्रासन स्वास्थ्य एवं साधना– दोनों दृष्टियों से उपयोगी है। इस आसन के प्रयोग से हाथ, पैर, पेट, सीना एवं गर्दन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। हाथ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

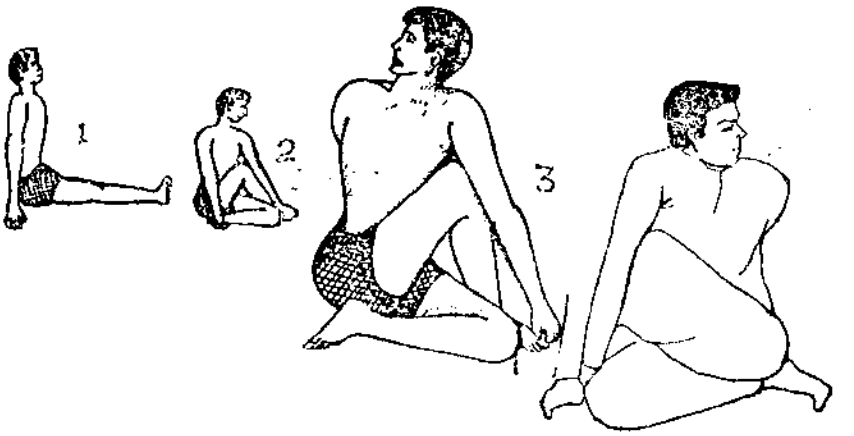

पैर की मांसपेशियां सुदृढ़ और लचीली बनती हैं। विपरीत दिशा में तान पड़ने से उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। पेट, सीना और गर्दन पर दोनों तरफ से खिंचाव पड़ता है जिससे पेट के विभिन्न अवयव– बड़ी आंत, छोटी आंत, यकृत, प्लीहा, आमाशय आदि स्वस्थ एवं सक्रिय होते हैं। इसी तरह फेफड़ों और गर्दन की मांसपेशियां शक्तिशाली बनती हैं। इस आसन से शरीर का ढांचा, मेरुदण्ड सुन्दर और लचीला बनता है। इससे नवीन स्फूर्ति और नव-जीवन का संचार होता है। जिस व्यक्ति को अपने अग्न्याशय (पेन्क्रियाज) को संतुलित बनाए रखना हो उनके लिए यह आसन बहुत उपयोगी है। इससे मधुमेह का निवारण होना माना जाता है।

ग्रंथितंत्र पर प्रभाव

अर्ध मत्स्येन्द्रासन से गोनाड्स, एड्रिनल, थाइमस, थाइराइड ग्रन्थियां विशेष रूप से प्रभावित होती हैं। पैर की एड़ी जिस रिक्त स्थान पर टिकती है वह वीर्य नाड़ी एवं मूत्र-प्रणाली को प्रभावित करती है परिणामतः ये स्वस्थ एवं सक्रिय बनती हैं। मूत्र-विकार नहीं होते। पेट और सीने के विशेष प्रकार से, परस्पर विपरीत दिशा में मुड़ने से एड्रिनल पर विशेष दबाव पड़ता है। जिससे एड्रीनल के स्राव संतुलित बनते हैं। थाइमस एवं थाइराइड ग्रन्थियां भी इस आसन से प्रभावित होती हैं। इससे मन एवं भावों की निर्मलता बढ़ती है।

लाभ

इस आसन से सीना, पसलियां, गर्दन, नाभि, बाहें, पेडू आदि भागों की विशेष रूप से अन्तर मालिश होती है। इससे व्यक्ति स्वस्थ बनता है। अर्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत्स्येन्द्रासन बैठकर किये जाने वाले आसनों में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य की साधना करने वालों के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है।

3. बद्धपद्मासन

पद्मासन की मुद्रा में बैठने के पश्चात् हाथों को पीठ के पीछे से लाकर बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे और दायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ने से जो मुद्रा बनती है, उसे बद्ध-पद्मासन कहा जाता है। इसमें पूरा शरीर दोनों हाथों से बंध जाता है। इसलिए इसे बद्ध-पद्मासन कहा जाता है।

विधि : पद्मासन के पश्चात् दाहिने हाथ को पीठ के पीछे से ले जाकर, बायीं पार्श्व से निकालते हुए दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ें। इसी प्रकार बायें हाथ को पीठ के पीछे से ले जाकर, दायीं पार्श्व से निकालते हुए बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें। पूरक कर अन्तर कुम्भक करें। इस स्थिति में सीना फैल जाएगा। आराम से जितना रुक सकते हैं रुकें। रेचन करें। बाह्य कुम्भक कर जितना रुक सकते हैं, रुकें। दृष्टि नासाग्र पर रखें। दीर्घकालीन अभ्यास के समय श्वास-प्रश्वास गहरा रहेगा।

समय और श्वास-प्रश्वास

बद्धपद्मासन में श्वास-प्रश्वास का क्रम इस प्रकार रखें– 5 सैकण्ड श्वास लेने में, 5 सैकण्ड श्वास भीतर रोकने में, 5 सैकण्ड श्वास छोड़ने में, 5 सैकण्ड श्वास बाहर रोकने में– इस क्रम से एक मिनट में इस आसन की 3 आवृत्तियां पूर्ण होती हैं। प्रतिदिन 3 मिनट तक आसनाभ्यास करें यानी कुल 9 आवृत्तियां 3 मिनट में होंगी। साधना की दृष्टि से दीर्घकालीन अभ्यास किया जा सकता है। अभ्यास की परिपक्वता के पश्चात् 15 मिनट से 30 मिनट तक का समय बढ़ाया जा सकता है।

4. योग मुद्रा

मन, वचन और काया की एकरूपता होने से इसे योग मुद्रा कहा गया है। इस मुद्रा से मन जागरूक योगी की तरह बनता है अत: इसे योग मुद्रा कहा गया है।

विधि– योग मुद्रा बद्धपद्मासन और पद्मासन दोनों स्थितियों में की जा सकती है। बद्ध-पद्मासन की स्थिति में श्वास का रेचन करते हुए दाहिने घुटने पर नाक का स्पर्श करें। श्वास भरकर मेरुदण्ड को सीधा करें। पुन: श्वास का रेचन कर नाक को बायें घुटने पर लगायें। पूरक करते हुए अर्थात् श्वास भरते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरुदण्ड सीधा करें। श्वास का रेचन करते हुए ललाट को भूमि से लगायें। श्वास भरते हुए बद्ध-पद्मासन की मूल मुद्रा में आ जायें। इस प्रकार 3 आवृत्तियां करें।

पद्मासन में योग मुद्रा– पद्मासन में ठहरें। हाथ की मुट्ठी को बांधकर शक्ति केन्द्र (रीढ़ के मूल में) स्थापित करें। दाहिने हाथ से बाएं हाथ की कलाई (मणिबन्ध) पकड़ें। श्वास का रेचन करते हुए शरीर को आगे झुकाएं। ललाट से भूमि का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ से बायें हाथ की कलाई पकड़ें। दोनों हाथों को तानकर ऊपर उठाएं। जितना तानकर सीधा कर सकते हों करें। श्वास गति सहज रहती है। श्वास भरते हुए शरीर व गर्दन को सीधा करें। हाथ को मूल में स्थापित करें। बायें हाथ से दायें हाथ की कलाई पकड़ें। श्वास को भरते हुए हाथों को ऊपर खिंचाव दें। पद्मासन में लम्बे समय तक ध्यान अथवा योग मुद्रा से रुकना हो तो रुका जा सकता है। यह मुद्रा मानसिक शान्ति और अस्थिरता के लिए उपयोगी है।

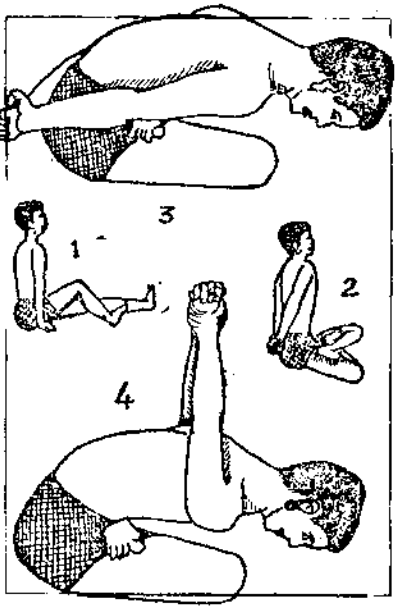

समय और श्वास-प्रश्वास– 5 सैकण्ड श्वास लेना, 5 सैकण्ड श्वास रोकना, 5 सैकण्ड श्वास छोड़ना, 5 सैकण्ड श्वास रोकना। इस प्रकार 3 मिनट प्रतिदिन अभ्यास करें।

योग मुद्रा का अभ्यास एक मिनट में 3 बार किया जा सकता है। लम्बे अभ्यास के समय श्वास-प्रश्वास दीर्घ और गहरा रहेगा।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

बद्ध पद्मासन और योगमुद्रा से शरीर का सन्तुलन और मुख मण्डल आभावान बनता है। शरीर का संहनन समचौरस, समान रूप से विकसित होता है। उससे सुन्दरता में अभिवृद्धि होती है। शरीर का कोई अंग अधिक चर्बी वाला होने से बदसूरत और बेढंगा दिखाई देता है तो इन दोनों आसनों के प्रयोग से पेट और कटि पर आई चर्बी कम होने लगती है। सीना सुदृढ़ और मेरुदण्ड लचीला होता है। मुख की आभा प्रदीप्त होती है। हाथों की शक्ति विकसित होती है। मस्तक में पर्याप्त मात्रा में रक्त पहुंचने से स्मरण-शक्ति विकसित होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थि-तन्त्र पर प्रभाव

योगमुद्रा से एड्रिनल और गोनाड्स प्रभावित होते हैं। पद्मासन के साथ बद्ध-पद्मासन की मुद्रा से रक्त-संचार व्यवस्थित होने लगता है। एड्रिनल व गोनाड्स के हार्मोन्स संतुलित होते हैं जिससे संवेगों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास होता है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित होने से अन्तर्दृष्टि के जागरण का अवसर उपलब्ध होता है। नाड़ी तन्त्र एवं पेट के विभिन्न अवयव स्वस्थ और शक्तिशाली बनते हैं। क्रोध की उपशान्ति के लिए योगमुद्रा उपयोगी है।

लाभ

पद्मासन में उल्लिखित लाभ इन आसनों से सहज उपलब्ध होते हैं। इनसे उदर-दोष की निवृत्ति, मेरुदण्ड की स्वस्थता, स्मरण-शक्ति का विकास होता है। मुख एवं मस्तिष्क के स्नायुओं की शक्ति विकसित होती है। मधुमेह, कब्ज, मंदाग्नि और कृमि विकास दूर होते हैं। कन्धे, हाथ एवं पैरों के जोड़ों के दोष दूर होते हैं। बद्ध-पद्मासन और योग मुद्रा साधना को विकसित करने वाले महत्वपूर्ण आसन हैं।

5. पश्चिमोत्तानासन

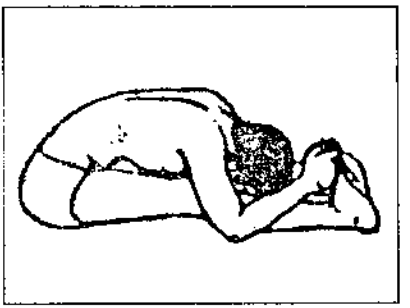

हथेलियों को घुटनों पर रखकर पैरों को सम्मुख समरेखा में सीधे फैलाएं। दोनों हाथों को ऊपर आकाश की ओर उठाते हुए पूरक करें। रेचक करते हुए हाथों की अंगुलियों से पांव के अंगुष्ठक को पकड़ें। दाहिने घुटने पर नाक का स्पर्श करें। पूरक करते हुए, गर्दन को ऊपर उठाकर सीधे ठहरें। रेचक करते हुए दोनों घुटनों के मध्य नाक स्पर्श करें। इस प्रकार दाएं-बाएं और मध्य तीन बार में पश्चिमोत्तानासन का क्रम सम्पन्न होता है। सहज श्वास की क्रिया में लम्बे समय तक भी पश्चिमोत्तानासन का अभ्यास किया जा सकता है।

लाभ– उदर-शुद्धि, मेरुदण्ड लचीला, पेट का मोटापा कम होता है। रंगण-बाव, कोष्ठबद्धता, मधुमेह, स्वप्न-दोष आदि रोग दूर होते हैं।

सावधानी– साइटिका, दीर्घकालिक जोड़ों के दर्द वाले रोगी इस आसन को न करें।

6. गोदुहासन

गाय का दोहन करते समय शरीर के अंगों की जो आकृति बनती है वही आकृति इस आसन में बनने से इसे गोदुहासन कहा गया है। भारतवर्ष एक कृषि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान देश है। यहां गोपालन की प्राचीन परम्परा रही है। गाय का दोहन करते समय शरीर की जो मुद्रा बनती है उससे भूमि का अत्यल्प स्पर्श होता है। इस आसन में पंजों के बल ठहरने से पंजे का केवल अग्रभाग ही भूमि का स्पर्श करता है, इससे भूमि का गुरुत्वाकर्षण शरीर को कम से कम प्रभावित करता है। शरीर में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता रहती है। अतः पृथ्वी का प्रभाव इस पर सर्वाधिक पड़ता है। साधना-भाव में शरीर से मुक्ति, प्रधान लक्ष्य रहता है। अतः शरीर से मुक्त होने का अभ्यास करने के लिए पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को दूर करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। भगवान महावीर को भी कैवल्य की प्राप्ति गोदुहासन में हुई थी। सारतः ज्ञान के विकास और अप्रमत्त बने रहने के लिए यह आसन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

विधि

भूमि पर बिछे आसन पर दोनों पंजों के बल बैठें। इस स्थिति में घुटने भूमि की ओर झुके रहेंगे। गाय दुहते समय, दूध दुहने वाले बर्तनों को दोनों घुटनों के मध्य रखने के स्थिति के समान, दोनों घुटनों के मध्य आधे से एक फुट का फासला बनाएं। इसी तरह दुहते समय मुट्ठियों की आकृति को ध्यान में रखते हुए, दोनों हाथों की मुट्ठियां बांधकर घुटनों के ऊपर रखें। दोनों अंगूठे अंगुलियों के भीतर रहें। यह उस स्थिति के समान होगा जब गाय को दुहते समय गाय का स्तन अंगूठे के मध्य रहते हैं, जिसको दबाते रहने से दूध बाहर निकलता है।

समय और श्वास-प्रश्वास

प्रतिदिन अभ्यास करते हुए आधे मिनट से पांच मिनट तक इसकी समयावधि बढ़ाई जा सकती है। आध्यात्मिक विकास एवं चैतन्य-जागरण की दृष्टि से आधा घण्टे से 3 घंटे तक भी अभ्यास किया जा सकता है।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

गोदुहासन की स्थिति में शरीर का पूरा वजन पंजों पर जाता है। उससे अंगूठों और अंगुलियों पर विशेष रूप से दबाव पड़ता है। शरीर में पैरों और हाथों की अंगुलियों की पौरें महत्त्वपूर्ण होती हैं। "एक्यूप्रेसर" चिकित्सा पद्धति भी इस तथ्यों को स्वीकार करती है। उसका मानना है कि इन पौरों को दबाने से शरीर में प्राण का प्रवाह सन्तुलित होता है। एक दृष्टि से इन्हें हमारे शरीर का इंडिकेटर (संकेतक) कहा जा सकता है। इनको दबाने से शरीर के किसी भी भाग में अवरुद्धप्राण सम्यक्तया पुनः प्रवाहित होने लगता है। योग के गन्तव्य से अंगूठे से कनिष्ठा (छोटी अंगुलि) तक के अंगुलियों के अग्र भागों में पांच तत्त्वों– अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी और जल को अवस्थित माना गया है। अतः इन सभी को परस्पर मिलाकर इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वों को सन्तुलित किया जाता है। इसी तरह पैरों की अंगुलियों पर विशेष दबाव डालने से प्राण का प्रवाह होने लगता है। इससे घुटनों, कटि, कन्धों एवं गर्दन में प्राण-प्रवाह संतुलित होता है तथा इससे सम्बद्ध दोषों को दूर किये जाने में सहायता मिलती है। उनकी सक्रियता में वृद्धि होती है। साथ ही सीने एवं पेट के अवयव भी इससे शक्तिशाली बनते हैं। विधायक भावों की वृद्धि होती है, मन एकाग्र, सुदृढ़ एवं संकल्पवान बनता है। शरीर स्वस्थ एवं सुन्दर बनता है।

लाभ : ग्रन्थितंत्र पर प्रभाव

पैरों के पंजों में अवस्थित ग्रंथितंत्र के सूचक प्रभावित होने से उनसे सम्बद्ध ग्रन्थियां भी प्रभावित होती हैं।

अन्य भाव

चित्त की स्थिरता, ज्ञान की निर्मलता तथा अपान वायु की शुद्धि होती है। पैर व स्नायुओं की दुर्बलता दूर होती है। कब्जी दूर होती है। भावना-शुद्धि एवं पाचनतंत्र सक्रियता की उपलब्धि होती है।

7. सिंहासन

आसन के प्रयोग से मुख की आकृति सिंह जैसी हो जाती है। इसलिए इसे सिंहासन कहा गया है। सिंह पशुओं में शक्तिशाली होता है। इसे जंगल का राजा भी कहते हैं। यह आसन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

विधि– घुटनों को मोड़कर, पंजों के बल बैठिए। (जिस प्रकार वंदना के समय बैठते हैं।) हथेलियों को जमीन पर टिकाएं। हाथों की अंगुलियां घुटनों के भीतर रहेगी। श्वास का रेचन मुख से करें। जिह्वा को बाहर निकालकर मुख को पूरा खोलें। आंखें दोनों भृटकुटियों के मध्य (दर्शन केन्द्र) केन्द्रित करें। जितना अधिक रेचन हो सके, रेचन करें। जितने समय तक कुम्भक कर सकें, गले के स्नायुओं को जितना खिंचाव दे सकें, दें। मुख मंडल, सीना रक्ताभ हो जाएगा। पेट की मांसपेशियां सिकुड़ेंगी। 'मूलबन्ध' स्वत: लग जाएगा। जब श्वास ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव हो तब धीरे-धीरे श्वास को नासिक से ग्रहण करें।

सिंहासन की यह मुद्रा पद्मासन करके भी की जाती है। पद्मासन लगाएं। हथेलियों को उसी प्रकार भूमि पर टिकाएं। शेष क्रियाएं पूर्ववत् करें।

श्वास और समय– श्वास को मुख से पूरा रेचन करें। फिर कुम्भक कर मुद्रा बनाएं। पूरक करें। रेचन कर, कुम्भक करें। आधा से एक मिनट एक बार के प्रयोग में समय लगेगा। इस तरह तीन बार करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वास्थ्य पर प्रभाव– आसन का सीधा प्रभाव मस्तिष्क, मुख और सीने पर होता है। मस्तिष्क शक्तिशाली और स्वस्थ बनता है। कार्य करने की क्षमता का विकास होता है। मुख रक्ताभ होता है। जिससे सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। अशुद्ध वायु के निष्कासन से फेफड़ों की शक्ति का विकास और रक्त शोधन होता है। सीने के विस्तार से शरीर की सुदृढ़ता में वृद्धि होती है। मोटापा कम होने से शरीर का समुचित विकास होने लगता है। पाचन-तंत्र पर विशेष प्रभाव पड़ने से भूख अच्छी लगने लगती है।

ग्रंथि तंत्र पर प्रभाव– सिंहासन से प्रभावित होने वाली ग्रंथियां हैं– हाइपोथेलेमस, थेलेमस, थायराइड, पेराथाइराइड, थायमस आदि। इनके प्रभाव से चिन्तन का विकास होता है। निर्णय शक्ति बढ़ती है। आवाज मधुर होती है। भाषा स्पष्ट और घोष वाली बनती है। दब्बूपन दूर होता है। स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित होने लगता है मूलबन्ध होने से अपान की विशुद्धि होने लगती है।

लाभ– सम्पूर्ण शरीर में सक्रियता का अनुभव होता है, प्राण-शक्ति बढ़ती है। स्वर-यंत्र सक्रिय बनने से उच्चारण की शुद्धि होती है। साधना के विकास में यह सहयोगी बनता है। मुख पर झुर्रियां नहीं पड़ती। मुहांसे दूर होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

8. उष्ट्रासन

"उष्ट्र"--रेगिस्तान में वाहन के रूप में उपयोग लिए जाने वाला प्राणी है। आसन की आकृति उष्ट्र की तरह होती है। इसलिए इसे उष्ट्रासन की संज्ञा से अभिहित किया गया है। पश्चिमोत्तानासन आदि आसनों से रीढ़ का झुकाव आगे की ओर होता है किन्तु उष्ट्रासन से उसके विपरीत खिंचाव होने से मेरुदण्ड के आस-पास की मांसपेशियां स्वस्थ होने लगती हैं।

विधि- घुटनों को मोड़कर पंजों के बल बैठें। दोनों घुटने बराबर रहेंगे। धड़ को सीधा रखें। गर्दन, मेरुदण्ड, सीने को जितना पीछे ले जा सकें, ले जाएं। दोनों हाथों की हथेलियों को एड़ियों पर टिकाएं। सीने और पेट को जितना फैला सकें फैलाएं।

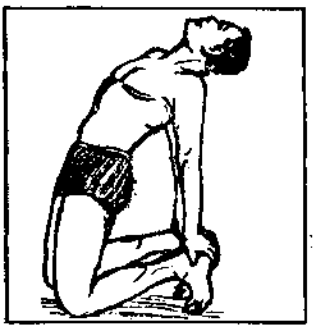

श्वास और समय- घुटनों पर हथेलियां टिकाते समय दीर्घ पूरक करें। और इस तरह दीर्घ रेचन करें। तीन मिनट तक दीर्घ पूरक और रेचन करते रहें।

श्वास पर प्रभाव- शरीर में मेरुदण्ड महत्वपूर्ण अंग है। उसमें लचीलापन आने से पूर्ण शरीर स्वस्थ और शक्तिशाली बनता है। शहरी चर्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शीघ्रता से कर्म निपटाने की प्रवृत्ति से मेरुदण्ड के मनके अपने स्थान से इधर-उधर हो जाते हैं। आजकल स्तनीय डिस्क की यह पीड़ा प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उष्ट्रासन के अभ्यास से मांसपेशियां सुदृढ़ और सुगठित बनती हैं। मेरुदंड की स्वस्थता शरीर के विकास का आधार है। पृष्ठ की मांसपेशियों पर आए अवरोध निकलने लगता है। बड़ी और छोटी आंत सक्रिय होती हैं। मल का निष्कासन अच्छी तरह होने लगता है। पाचन क्रिया अच्छी होने लगती है। यदि किसी का नाभि केन्द्र (धरण) ऊपर-नीचे हुआ हो तो वह अपने स्थान पर लौट आता है। मधुमेह की बीमारी को ठीक करती है। गर्दन के दोषों के दूर होने से गर्दन का दर्द दूर होता है। आंखों की रोशनी ठीक होती है। शरीर की सुन्दरता में अभिवृद्धि होती है। कटि भाग पतला होता है। पेट और मोटापा कम होता है, जिससे शरीर में कान्ति और स्फूर्ति बढ़ती है।

ग्रंथितंत्र पर प्रभाव- गोनाड्स, एड्रिनल, थाइमस, थाइराइड ग्रंथियां इससे विशेष रूप से प्रभावित होती हैं। जिससे मूत्र और मल धारण की क्षमता बढ़ती है। प्रोस्टेट पीड़ा कम होती है। थायमस से भाव विशुद्धि का अवकाश उपलब्ध होता है। व्यक्ति में मैत्री और करुणा विकसित होती है। थायराइड ग्रन्थि स्रावों में संतुलन पैदा करने में उष्ट्रासन उपयोगी है।

स्वास्थ्य केन्द्र, तैजस केन्द्र और विशुद्धि केन्द्र की सक्रियता से व्यक्तित्व के रूपान्तरण में सहयोग मिलता है।

लाभ- पाचन-क्रिया में सक्रियता, अजीर्ण और अपानवायु की शुद्धि होती है। मल निष्कासन में सहयोगी और पीठ के दर्द में लाभदायक है। धरण (नाभि केन्द्र) ठीक होता है। मधुमेह के लिए उपयोगी है। पैर और हाथ के स्नायु शक्तिशाली होते हैं। पैर की अंगुलियों पर दवाब पड़ने से शरीर का प्राणतंत्र सक्रिय होता है। आंखों के दोष दूर होते हैं। लीवर यकृत स्वस्थ बनता है

9. चक्रासन

यह आसन करते समय शरीर की स्थिति चक्र जैसी गोल हो जाती है। अत: इसे चक्रासन कहा गया है। चक्रासन से पूरे शरीर को मोड़कर हाथों और पैरों पर शरीर के वजन को तौलते हैं।

सावधानी- इस आसन को करते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता रहती है। प्रारम्भ में किसी सहयोगी के सहयोग से शरीर को धीरे-धीरे पीछे की ओर जाते हुए भूमि पर हथेलियों का स्पर्श करते हैं। पीछे जाते समय सहयोगी पीठ पर हाथ रखता हुआ पीछे भूमि की ओर जाने की सूचना देता रहता है जिससे चक्रासन करने में सहायता मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहयोगी न हो और अकेले ही आसन को करना हो तो पहले आसन पर पीठ के बल लेटें। पैरों को घुटनों से मोड़कर पंजों को नितम्ब के निकट ले जाएं। हाथों को कोहनियों से मोड़कर कंधों के निकट जमीन पर हथेलियों को स्थापित करें। इस प्रकार सिर से लेकर कमर तक का शरीर मुड़कर चक्र के आकार में आ जाएगा। गहरा और लम्बा श्वास लें। लौटने की स्थिति में अत्यन्त सजगता की आवश्यकता रहती है क्योंकि झटके के साथ लौटते समय मेरुदंड और वहां की मांसपेशियों में लचक आ सकती है, अतः आसन करते समय सजगता जरूरी है।

विधि- सीधे खड़े रहें। हाथों को आकाश की ओर फैलाएं। श्वास को पूरा भरें। शरीर को कमर से मोड़कर धीरे-धीरे पीछे ले जाएं। हथेलियां जमीन की ओर धीरे-धीरे जाएंगी। पीछे जाते समय डरना नहीं चाहिए। शरीर ज्यों-ज्यों पीछे जाता है सिर का पिछला भाग कंधों को स्पर्श करता रहेगा। ज्यों-ज्यों जमीन की ओर जाएंगे, हथेलियाँ जमीन पर टिक जाएगी और शरीर चक्र के आकर में आ जाएगा।

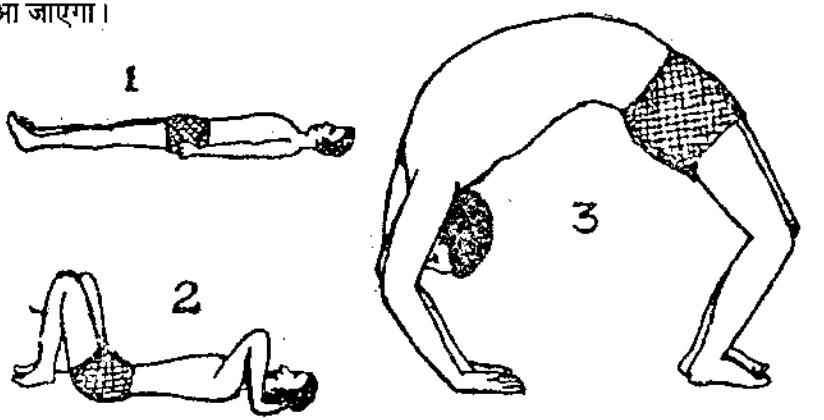

सरल विधि- पीठ के बल लेटें। श्वास भरकर दोनों ऐड़ियों को नितम्ब के पास स्थापित करें। दोनों हथेलियों को कान के पास जमीन पर टिकाएं। हथेलियां कन्धे की ओर रहे। श्वास छोड़ें। फिर श्वास भरते समय हाथ व पैर को जमीन पर रखते हुए शेष शरीर को धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाएं। गर्दन पीछे की ओर झुकी हुई रहेंगी। पूरा शरीर चक्राकार स्वरूप में आ जाएगा। कुछ समय तक ठहरें। फिर धीरे-धीरे वापस लाएं। थोड़ा विश्राम लेकर विपरीत आसन शशांकासन करें।

स्वास्थ्य पर प्रभाव- चक्रासन में मेरुदंड अर्द्धचन्द्राकार में परिवर्तित होता है। हाथ और पैर की मांसपेशियां सुदृढ़ बनती हैं। मेरुदंड के विपरीत स्थिति में आने से उसमें लचीलापन बढ़ता है। शारीरिक स्वास्थ्य में अभिवृद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। चक्रासन में पूरे शरीर की मांसपेशियों में खिंचाव आता है जिससे वे लचीली और मुलायम होती हैं। गर्दन, कंधों, कटिभाग के जोड़ों में लचक बढ़ती है। चक्रासन वजन को संतुलित बनाने वाला आसन है।

ग्रन्थितंत्र पर प्रभाव- चक्रासन से गोनाड्स, एड्रिनल, थायमस और थायरायड विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। स्वास्थ्य केन्द्र और तैजस केन्द्र को प्रभावित करने वाली दो ग्रन्थियां हैं-गोनाड्स और एड्रिनल। आसन करते समय इन ग्रंथियों के क्षेत्र पर दबाव पड़ता है। उसमें आए हुए तनाव विसर्जित होते हैं। ग्रंथियों की उत्तेजना में कमी आने से स्रावों के उत्पादन में कमी आएगी। स्रावों की कमी और संतुलन से व्यक्ति में अभय और जागरूकता का विकास होता है। इसी तरह थायमस और थायरायड ग्रन्थियों के संवादी हैं आनन्द केन्द्र और विशुद्धि केन्द्र। इस प्रकार ग्रन्थियों पर चक्रासन का प्रभाव पड़ता है।

लाभ- अंगुलियों, पंजे, हथेलियों, कलाई, कोहनी, बांहें और स्कंध को सुदृढ़ बनाता है। वजन उठाने की शक्ति विकसित होती है। भुजाओं की शक्ति विकसित होती है। स्कंध मजबूत होते हैं। हृदय, पसलियों व सीने को शक्ति मिलती है। हाथों में वृद्धावस्था से कम्पन आदि होने लगते हैं इससे यह अवस्था टल जाती है।

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यास तृतीय

अनुप्रेक्षाएं

1. मैत्री की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण ध्वनि 2 मिनट

2. कायोत्सर्ग 5 मिनट

3. सफेद रंग का श्वास लें। अनुभव करें--

श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। 3 मिनट

4. पूरे ललाट पर सफेद रंग का ध्यान करें। 3 मिनट

5. पूरे ललाट पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें-

'सब मेरे मित्र हैं। मैं सबके प्रति मैत्री का प्रयोग करूंगा'

-इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। 5 मिनट

अनुचिन्तन करें--

शत्रुता का भाव भय पैदा करता है और भय शरीर एवं मन को दुर्बल बनाता है, इसलिये मुझे मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए।

जैसे ही शत्रुता का भाव आता है प्रसन्नता गायब हो जाती है। अपनी प्रसन्नता को सुरक्षित रखने के लिए मुझे मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए। 10 मिनट

6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। 2 मिनट

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के अभ्यास के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

स्वयं सत्य खोजें : सबके साथ मैत्री करें

हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते हैं कि उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने भी कुछ किया है। सारा का सारा दोष हम दूसरों के सिर पर मंढ देते हैं--'पत्थर कितने उबड़-खाबड़ हैं, मुझे ठोकर लग गयी।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी, इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे, किन्तु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसलिए सिर में चोट लगी किन्तु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोड़ा नहीं, इसलिए चोट लगी, ऐसा कोई नहीं सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड़ डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया। हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते हैं। दूसरों में दोष देखते हैं और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं। परन्तु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है। इसलिए वह प्रयत्न में रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है--अपने कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्त्तव्य में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उठाया वह फूट गया। अब इस सचाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नहीं सोचेंगे। हम कहेंगे--पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता ? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरों के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है। किन्तु वास्तव में मित्रता है--सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना, किसी को किसी पर आरोपित न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है--आशातना। जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेष है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करें सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करें। यह सचाई है। इसे हम पकड़ें। इस सचाई को पकड़े बिना कोई साधना नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई है--कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से बड़े के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पड़ता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन भी कैसे सुरक्षित रह सकता है ? यह धारणा रूढ़ हो गयी है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने में गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए ? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। इस धारणा ने सारे व्यवहारों को अव्यवस्थित कर डाला है। आज सर्वत्र यह धारणा ही बन गयी कि छोटे के साथ तो कठोर व्यवहार ही करना चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी ? इस प्रकार की धारणाओं ने सामाजिक सम्पर्कों, सामाजिक संबंधों और मानवीय संबंधों में बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेम पूर्ण भावनाओं के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर व्यवहार से नहीं किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजों के द्वारा नयी सचाइयां सामने आयी हैं कि पवित्र और सद्भावना पूर्ण भावनाओं के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूल को और अधिक विकसित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावनापूर्ण चेतना के द्वारा क्या विकसित नहीं किया जा सकता ? क्या वह निरा पत्थर है ? पत्थर को भी पवित्र भावनाओं से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बड़ी चट्टान को उठाना होता है तब पांच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर, संकल्पशक्ति के सहारे उसे उठा देते हैं ।

विनम्रता, मृदुता, हर किसी को पिघाल देती है। आप किसी के प्रति सद्भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करें, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते हैं और लताएं अपनी दिशा बदल देती हैं। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए। किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नहीं मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयी और विनम्र स्वर में बोली--मुझे दुःख है कि तुझे काटना पड़ेगा। मुझे खेद है तू मुझे क्षमा करना। उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढ़ती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढ़ना प्रारम्भ कर दिया । जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है, तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु हमने यह रूढ़ धारणा बना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नहीं किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय संबंधों में कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला जा रहा है।

सरस जीवन की प्रकिया--मृदुता

जीवन की सफलता का सूत्र है--सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नहीं हो सकता । वह स्वयं भी सरस नहीं हो सकता और दूसरों में भी सरसता नहीं भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वयं सरस होता है और दूसरों में भी सरसता भरता है।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। मुनि भिक्षा लेकर आए। भिक्षा दिखाई। एक पात्र में चने की दाल और मूंग की दाल मिश्रित थी। आचार्य भिक्षु ने मुनि से कहा, दोनों दालों को मिलाकर क्यों लाये ? अलग-अलग पात्र में लाना चाहिए। मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया-- दाल दाल होती है। क्या अन्तर आता है? साथ ले आया। आचार्य भिक्षु ने कहा, 'चने की दाल बीमार को नहीं दी जा सकती। मूंग की दाल बीमार को दी जा सकती है। तुमने गलती की है।' आचार्य भिक्षु ने उसे उलाहना दिया।

मुनि को बात खटक गयी। वे भोजन न कर, सो गये। भिक्षु भोजन मंडली में बैठे। साधु को उपस्थित न देखकर पूछताछ की। पता चला कि वे सो रहे हैं। भिक्षु व्यवहार-पटु थे। मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मुनि के मन को पढ़ा और जोर से पुकारा 'अरे! सोते-सोते दोष मेरा देख रहा है या अपना ?' इतना सुनते ही मुनि का गुस्सा शांत हो गया। वे उठे, बाहर आए, भिक्षु को वंदना कर बोले, 'दोष तो अपना ही देख रहा था।' बस, सारा वातावरण सजीव हो गया।

आचार्य भिक्षु के शब्दों ने उनमें सरसता भर दी। मुनि सरसता से अभिभूत हो गए। सरसता वही भर सकता है जिसके जीवन-व्यवहार में सरसता हो। सरसहीन व्यक्ति का व्यवहार मृदु नहीं हो सकता। वह कभी दूसरों को सरस नहीं बना सकता। मैत्री सरसता का घटक है।

जीवन-विकास के सूत्रों की यह संक्षिप्त चर्चा है। जीवन को सफल बनाने के लिए हम जीवन को विस्तार दें, जीवन में छाया उपलब्ध करें, सौरभ और सरसता को प्राप्त करें। ऐसा होने पर जीवन-वृक्ष ऐसा सरस बन जाएगा कि वह आसपास को सुरभिमय बना सकेगा और प्रत्येक व्यक्ति रस से आप्लावित हो सकेगा।

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना

शक्ति के बिना मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री की आराधना का अर्थ है-- शक्ति की आराधना । सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती, मैत्री का भाव स्थायी नहीं हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के बिना कलुषता का निरसन भी नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नहीं होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

खमतखामणा का वास्तविक अर्थ

खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने, किन्तु तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री मत खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान् व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। वह इतना विराट् बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नहीं होता। भगवान् महावीर को देखें। अन्यान्य साधकों को देखें। वे सब अपनी साधना के द्वारा ही महान् बने थे।

इकोलाजी : अहिंसा-जगत् का विकास

आराधना का कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है--मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते हैं तब दृष्टि का रूपान्तरण होता है। हम तब सचमुच इकोलॉजी के सिद्धान्त की परिधि में आ जाते हैं। आज की इस नई शाखा का विकास जितना अहिंसा के जगत् में हुआ है, आज तो उसका पुनरावर्तन हो रहा है बहुत ही थोड़े अंशों में। परस्परावलम्बन, सहयोग और परस्पर-निर्भरता--ये सब प्रकृति के कण-कण से जुड़े हैं। ये सब अहिंसा के सिद्धांत में बहुत विकसित हुए हैं।

2. करुणा की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें। प्रत्येक श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। 3 मिनट
4. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें--

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें। फिर उसका मानसिक जप करें। 5 मिनट

5. अनुचिंतन करें--

क्रोध, अहंकार और लोभ के आवेग मनुष्य को क्रूर बनाते हैं। क्रूर मनुष्य दूसरों को सताता है, ठगता है, अप्रिय व्यवहार करता है। कोई नहीं चाहता मेरे साथ अप्रिय व्यवहार हो तो फिर मुझे दूसरों के प्रति अप्रिय व्यवहार क्यों करना चाहिए ? मुझे अच्छा जीवन जीने के लिए, सामुदायिक जीवन को शांतिमय बनाने के लिए, करुणा का विकास करना है। मैं संकल्प करता हूं कि मेरे करुणा का भाव पुष्ट होगा । 10 मिनट

6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग संपन्न करे। 2 मिनट

मनन और स्वाध्याय

(अनुप्रेक्षा के अभ्यास के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

क्रूरता की समस्या : करुणा का समाधान

क्रूरता का सबसे बड़ा कारण है--लोभ, धनार्जन की अति आकांक्षा या संग्रह की वृत्ति। प्रश्न है कि क्या क्रूरता को मिटाया जा सकता है ? क्या इसका विसर्जन किया जा सकता है? क्या इसका कोई उपाय है ? हम समस्या को जानते हैं, हमें उसके निराकरण को भी जानना होगा। समस्या का अन्त तब तक नहीं होता, जब तक हम उसके निराकरण का सही उपाय नहीं जानेंगे। समस्या है तो उसके निराकरण का सही उपाय भी है। उपाय वही होता है जो मूल को छूता है। सहायक कारण अनेक हो सकते हैं, पर उनसे मूल समस्या का अन्त नहीं होता। समस्या का अन्त तभी होता है जब सही उपाय हस्तगत हो जाता है।

रास्ते में प्यास से व्याकुल होने पर शिवाजी के गुरु रामदास ने प्यास मिटाने के लिए खेत से एक गन्ने का टुकड़ा तोड़ा। तोड़ते ही किसान ने रामदास को डण्डे से पीटा। गुरु को डण्डे से पीटे जाने पर शिवाजी का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन रामदास ने रहस्य को समझाते हुए कहा--'तुम्हें बात समझ में नहीं आयी। कोई गूढ़ रहस्य नहीं है। देखो, यह किसान गरीब है। यदि यह गरीबी से ग्रस्त नहीं होता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करता। इसने गरीबी के कारण ही ऐसा व्यवहार किया है। यदि इसकी अपराध वृत्ति को मिटाना है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी गरीबी को मिटाना होगा। इसे पांच बीघा जमीन और दे दो, फिर वह ऐसा व्यवहार कभी नहीं करेगा।'

यह है समस्या का समाधान और यह है समस्या का सम्यक् उपाय। हम मूल कारण की खोज नहीं करते और मूल कारण को खोजे बिना समस्या का भी समाधान नहीं हो सकता। क्रूरता की समस्या का मूल है अमानवीय दृष्टिकोण, फिर चाहे वह लोभ के रूप में अभिव्यक्त हो या संग्रहवृत्ति के रूप में विकसित हो। इसको मिटाने का एक मात्र उपाय है—मानवीय दृष्टिकोण का विकास। इसे ही प्राचीन भाषा में आत्मौपम्यदृष्टि कहा गया है। इसका अर्थ है प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझना। आधुनिक भाषा में यही है मानवीय दृष्टि। इसका फलित है कि प्रत्येक व्यक्ति में चेतना जागे कि सब मेरे जैसे ही मनुष्य हैं। हम सब एक ही हैं । मैं भी मनुष्य हूं । वह भी मनुष्य है। मुझे मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना चाहिए।

इस दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है आज सामाजिक जीवन में। जब तक इस दृष्टि का विकास नहीं होगा तब तक क्रूरता समाप्त नहीं होगी, व्यवहार नहीं बदलेगा । आदमी दूसरे के प्रति बहुत क्रूर व्यवहार कर लेता है। मिल-मालिक मजदूर के प्रति, सेठ कर्मचारी के प्रति, अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति क्रूर व्यवहार करता है। सर्वत्र क्रूर व्यवहार देखा जाता है। इसका कारण है--बड़प्पन और छूटपन का मनोभाव। यह मान लिया गया है कि एक बड़ा है, एक छोटा है। बडा छोटे के प्रति क्रूर व्यवहार कर सकता है, मानो कि यह मान्यता प्राप्त स्थिति है। यहां का आदमी पशुओं के प्रति भी क्रूर व्यवहार करता है। जिस गाय से दूध लेता है, आदमी उस को पीट देता है। ऐसा पीटता है कि गाय आगे-आगे दौड़ती है और आदमी उस पर लाठियां बरसाता हुआ पीछे-पीछे दौड़ता चला जाता है । जिस गाय से दूध लेता है उस गाय को पीटने से दूध कहां रहेगा ? दूध सूख जायेगा । दूध भी प्रेमपूर्ण व्यवहार किए बिना नहीं मिलता। जिन लोगों ने यह समझ लिया है कि गाय के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से अधिक दूध देगी, उन्होंने पशुओं के रहन-सहन की सुन्दर व्यवस्थाएं की हैं। उनके रहने के लिए मकान बनाये हैं। वहां पंखे चलते हैं। वहां कहीं-कहीं वातानुकूलित मकान हैं। रेडियो बजते हैं। संगीत की स्वर-लहरियां थिरकती हैं। इस वातावरण में रहने वाली गायें अधिक दूध देती हैं। जिन गायों के प्रति क्रूर व्यवहार होता है, जिनको पीटा जाता है, गालियां दी जाती हैं, तिरस्कार किया जाता है उनका दूध धीरे-धीरे सूख जाता है।

हर प्राणी प्रेमपूर्ण व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिकों ने वनस्पति-जगत् पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधों को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सींचा जाता है, वे पौधे अधिक विकसित होते हैं। जिन पौधों को उपेक्षा-वृत्ति से पानी सींचा जाता है, वे कुम्हला जाते हैं। पानी वही है, सींचने वाला भी वही है, कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं है, किन्तु भावनात्मक परिवर्तन के द्वारा एक दिशा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौधे बढ़ गए और दूसरी दिशा के पौधे मुरझा गए। जिनको आवेश में, क्रोध की स्थिति में पानी दिया गया, वे मुरझा गये और प्रेमपूर्ण भावना से सिंचन मिलने वाले पौधे बढ़ गए।

हर प्राणी से काम भी लेना चाहते हैं और क्रूरता भी करते चले जाते हैं। यह प्रतिकूल आचरण है। दुनिया का नियम है कि प्रेमपूर्ण व्यवहार से दूसरे से अधिक काम लिया जा सकता है, जीवन में सफल हुआ जा सकता है, अधिक सहयोग लिया जा सकता है, परन्तु अभी तक मानवीय दृष्टिकोण जितना विकसित होना चाहिए उतना विकसित नहीं हुआ है। इसमें दोषी सभी हैं। हम किसी एक को दोषी नहीं बता सकते। एक मिल-मालिक अपने मजदूरों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है तो मजदूर भी दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं। एक बड़ा अफसर अपने अधीनस्थ छोटे अफसरों के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है तो वे छोटे अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं। जिस किसी के पास थोड़ी भी सत्ता है, शक्ति है, वह क्रूरता का व्यवहार न करे, यह नहीं देखा जाता। सब दोषी हैं। कोई भी दोष-मुक्त नहीं है। सत्ता न मिले, कुर्सी न मिले, तब तक सब ठीक हैं, नम्र हैं। जब सत्ता हस्तगत हो जाती है, फिर न जाने क्यों सारा व्यवहार बदल जाता है, नम्रता समाप्त हो जाती है, क्रूरता का व्यवहार हो जाता है, बड़प्पन की भावना पनपती है और फिर वह सबको प्रतिद्विष्ट मानता है।

एक हाकिम था। उसके पास चारण का केस आया। हाकिम ने निर्णय सुना दिया। चारण को लगा कि न्याय नहीं हुआ। वह कवि तो था ही। उसने तत्काल एक कविता कह सुनाया--

'सुण हाकिम संग्राम! आंधो मत हो यार ।
औरां के दो चाहिजे, थारे चाहिजे चार ॥'

'हाकिम संग्रामसिंह तुम सत्ता में अंधे मत बनो! सुनो और व्यक्तियों के लिए दो आंखें पर्याप्त हैं पर तुम न्याय की कुर्सी पर बैठे हो, तुम्हारे चार आंखें चाहिएं। दो आंखें बाहर को देखने के लिए और दो भीतर को देखने के लिए।'

जब सत्ता आती है तब आदमी अन्धा हो जाता है। वह न्याय के स्थान पर अन्याय अधिक करता है। सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग न हो, धन और शक्ति का दुरुपयोग न हो मानना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है। तब समझना चाहिए कि करुणा की ज्योति, करुणा की दीपशिखा प्रज्वलित हुई है। यह होने पर ही अन्याय मिट सकता है। आदमी को आदमी समझकर न्यायपूर्ण व्यवहार हो सकता है। यह निश्चित है कि किसी के पास पैसा कम हो, किसी के पास पैसा अधिक हो, किसी के पास अधिकार अधिक हो और किसी के पास कम अधिकर हो, यह भेद बुद्धि और शक्ति के तारतम्य पर आधारित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह होता है। कभी ऐसा नहीं होता कि सबमें बुद्धि और शक्ति समान हो। तरतमता बनी रहती है, पर अन्ततः आदमी आदमी है यदि यह तथ्य अनुभूत होता है तो आदमी की संवेदनशीलता बढ़ती है और तब समस्याओं का समाधान हो सकता है।

सामाजिक स्वास्थ्य का सूत्र है-करुणा। जीवन में करुणा का विकास हो, संवेदनशीलता जागे और मनुष्य प्राणी-जगत् के प्रति करुणार्द्र बना रहे। ऐसा होने पर ही क्रूरता समाप्त हो सकती है।

करुणा का अजस्र स्रोत

वर्षा ने विदा ले ली। शरद् का प्रवेश द्वार खुल गया। हरियाली का विस्तार कम हो गया। पथ प्रशस्त हो गए। भगवान् महावीर अस्थिकग्राम से प्रस्थान कर मोराक सन्निवेश पहुंचे। बाहर के उद्यान में ठहरे।

उन सन्निवेश में अच्छंदक नामक एक तपस्वी रहते थे। वे ज्योतिष वशीकरण, मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं में कुशल थे। अच्छंदक की वहां बहुत प्रसिद्धि थी। जनता उसके चमत्कार से बहुत प्रभावित थी।

उद्यानपालक ने देखा कोई तपस्वी ध्यान किए खड़ा है। उसने दूसरे दिन फिर देखा कि तपस्वी वैसे ही खड़ा है तो उसके मन में श्रद्धा जाग गई। उसने सन्निवेश में लोगों को सूचना दी। लोग आने लगे। भगवान् ने ध्यान और मौन का क्रम नहीं तोड़ा। फिर भी लोग आते और कुछ समय उपासना कर चले जाते। वे भगवान् की ध्यान-मुद्रा पर मुग्ध हो गए। भगवान् की सन्निधि उनके शान्ति का स्रोत बन गई।

सन्निवेश की जनता का झुकाव भगवान् की ओर देख अच्छंदक विचलित हो उठा। उसने भगवान् को पराजित करने का उपाय सोचा। वह अपने समर्थकों को साथ ले भगवान् के सामने उपस्थित हो गया।

भगवान् आत्म-दर्शन की उस गहराई में निमग्न थे, जहां जय-पराजय का अस्तित्व ही नहीं है। अच्छंदक तपस्वी का मन जय-पराजय के झूले में झूल रहा था। वह बोला, तरुण तपस्वी मौन क्यों खड़े हो? यदि तुम ज्ञानी हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मेरे हाथ में यह तिनका है। यह अभी टूटेगा या नहीं टूटेगा ? इतना करने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ।

सिद्धार्थ भगवान् का भक्त था। वह कुछ दिनों से भगवान् की सन्निधि में रह रहा था। अतिशय ज्ञानी था। उसने कहा- अच्छंदक इतने सीधे प्रश्न का उत्तर पाने के लिए भगवान् का ध्यान भंग करने की क्या आवश्यकता है ? इसका सीधा-सा उत्तर है। वह मैं ही बता देता हूं। यह तिनका जड़ है इसमें अपना कर्तृत्व नहीं है। अतः तुम इसे तोड़ना चाहो तो टूट जाएगा और नहीं चाहो तो नहीं टूटेगा। उपस्थित जनता ने कहा, अच्छंदक इतनी सीधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात को भी नहीं जानता तब गूढ़ तत्त्व को क्या जानता होगा ? जन-मानस में उसके आदर की प्रतिमा खंडित हो गई। साथ-साथ उसके चिंतन की प्रतिमा भी खंडित हो गई। उसने सोचा था—महावीर कहेंगे कि तिनका टूट जाएगा तो मैं इसे नहीं तोडूंगा और वे कहेंगे कि नहीं टूटेगा तो मैं इसे तोड़ दूंगा। दोनों ओर उनकी पराजय होगी। किन्तु जो महावीर को पराजित करने चला था, वह जनता की संसद में स्वयं पराजित हो गया।

अच्छंदक अवसर की खोज में था। एक दिन उसने देखा, भगवान् अकेले खड़े हैं। वह भगवान् के निकट आकर बोला— 'भंते! आप सर्वत्र पूज्य हैं। आपका व्यक्तित्व विशाल है। मैं जानता हूं महान् व्यक्ति क्षुद्र व्यक्तियों को ढांकने के लिए अवतरित नहीं होते। मुझे आशा है कि भगवान् मेरी भावना का सम्मान करेंगे।'

इधर अच्छंदक अपने गांव की ओर लौटा, उधर भगवान् वाचाला की ओर चल पड़े। उनकी करुणा ने उन्हें एक क्षण भी वहां रुकने की स्वीकृति नहीं दी।

भगवान् महावीर करुणा के अजस्र स्रोत थे।

3. अभय की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. अनुभव करें-- अपने चारों ओर गुलाबी रंग के परमाणु फैले हुए हैं। गुलाब के फूल जैसा गुलाबी रंग का श्वास लें।
4. आनन्द केन्द्र पर गुलाबी रंग का ध्यान करें — 3 मिनट
5. दर्शन केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें--

- ✦ अभय का भाव पुष्ट हो रहा है।
- ✦ भय का भाव क्षीण हो रहा है।
- ✦ इस शब्दावली को नौ बार उच्चारण करें।

फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। — 5 मिनट

6. अनुचिन्तन करें--

- ✦ भय से विकसित शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं। नई शक्तियां विकसित नहीं हो पाती, इसलिए मुझे अभय होने का अभ्यास करना चाहिए।
- ✦ जो डरता है, उसे सभी डराते हैं।
- ✦ भय आदमी को कमजोर बनाता है।
- ✦ कमजोर आदमी को कोई सहयोग नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✦ शक्ति के विकास के लिए अभय की साधना करूं, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।
✦ मैं निश्चित ही भय से छुटकारा पा लूंगा। 10 मिनट

7. महाप्राण-ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें।

मनन और स्वाध्याय

(अनुप्रेक्षा के अभ्यास के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

अप्रमाद और अभय

जब अप्रमाद जागता है तब भय समाप्त हो जाता है। भगवान् महावीर का सूत्र है--**'सव्वओ पमत्तस्स भयं।' 'सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं।'** प्रमादी को भय होता है। अप्रमादी भयमुक्त होता है। जहां प्रमाद है वहां भय है। जहां अप्रमाद है वहां अभय है। मूर्च्छा टूटी, अप्रमाद आया और अभय घटित हुआ। आज का प्रत्येक आदमी भयभीत है। बड़ा-से-बड़ा व्यापारी भी भयमुक्त नहीं है। अध्यापक भी भयमुक्त नहीं है। वह भले ही दूसरों को भय की बात न कहे, पर भीतर ही भीतर वह भयाक्रान्त है कि कब कैसे विद्यार्थी उसकी पिटाई कर दे ? कब मिनिस्टर या अन्य शिक्षाधिकारी उस पर झूठे-सच्चे आरोप लगाकर निष्कासित कर दे ? सर्वत्र भय व्याप्त है, क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, विस्मृतियां हैं, असत्य है। प्रज्ञा सोई पड़ी है, केवल बुद्धि का जागरण हुआ है। बुद्धि भय को नहीं मिटा सकती। वह भय को सूक्ष्मता से पकड़ लेती है। बुद्धिमान आदमी भय को दूर से पकड़ लेता है। आज के वैज्ञानिक भयग्रस्त हैं। आबादी बढ़ रही है। वह दिन भी आ सकता है जिस दिन आदमी को खाने के लिए अनाज नहीं मिल सकेगा। आबादी की यही रफ्तार रही तो वह दिन भी दूर नहीं है जब आदमी को चलने के लिए रास्ता नहीं मिल पाएगा। उसे रहने के लिए मकान और खाने को रोटी नहीं मिल पाएगी। वैज्ञानिक इन सारी समस्याओं से भयभीत हैं। सामान्य आदमी के समक्ष यह भय नहीं है। वह इस विषय में जानता ही नहीं, सोचता ही नहीं, वैज्ञानिक जानता है, निष्कर्ष निकालता है। सौ वर्ष बाद कोयला और पैट्रोल समाप्त हो जाएंगे, ऊर्जा के सारे स्रोत समाप्त हो जाएंगे, उस समय विश्व की क्या स्थिति होगी ? यह भय वैज्ञानिक को है, औरों को नहीं। वे इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। बुद्धि जितनी प्रखर, तेज होगी उतना भय बढ़ेगा। बुद्धि का काम भय को मिटाना नहीं है। उसका काम है नए-नए भयों को उत्पन्न करना। अभय आता है प्रज्ञा से। जब प्रज्ञा जागती है, तब आदमी 'तथाता' बन जाता है। 'तथाता' का अर्थ है वर्तमान में जीना, जो प्राप्त है उसे स्वीकार कर लेना। घटना को घटना के रूप में स्वीकार कर लेना 'तथाता' है। उसके साथ भय को जोड़ना आवश्यक नहीं है। 'तथाता' आती है प्रज्ञा से। बाह्य विस्मृति और अन्तर्जागरण यह है 'तथाता'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभय की मुद्रा

अभय का भाव जब-जब जागता है, तब-तब अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्ष्य है--प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा। बिलकुल प्रसन्नता, कोई समस्या नजर नहीं आती। कोई तनाव नहीं होता। भीतर में बिलकुल शांति। जब भय की भावधारा होती है तो हमारा सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय होता है यानी पिंगला सक्रिय हो जाती है और जब अभय की भावधारा होती है तो पैरा-सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय हो जाता है, इड़ा नाड़ी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नहीं होती, शान्ति और सुख का अनुभव होता है। सब कुछ अच्छा लगता है।

प्रश्न है हम अधिक-से अधिक अभय की मुद्रा में कैसे रह सकें? अधिक-से-अधिक अभय की भावधारा को कैसे प्रवाहित कर सकें ? अधिक-से-अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सकें ? यह हमारे सामने प्रश्न है। हमने भय की भी चर्चा की और अभय की भी। भय हेय है। अभय उपादेय। हमें भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है। इसके लिए तीन साधन अपेक्षित हैं- उपाय, मार्ग और साधना। अभय का विकास उपाय के बिना संभव नहीं, मार्ग और साधना के बिना संभव नहीं। खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधना की।

एक उपाय है-अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शब्द की प्रणालियां हमारे शरीर के भीतर बनी हुई हैं। ये रास्ते, पगडंडियां, राजपथ हमारे शरीर में बने हुए हैं, जिनके माध्यम से तरंगें हमारे पूरे शरीर में व्याप्त हो जाती हैं और वे हमें प्रभावित करती हैं। तरंग का सिद्धांत बहुत व्यापक सिद्धांत है। 'वेव थ्योरी' का विकास हुआ तबसे नहीं, किन्तु ढाई हजार, तीन हजार वर्ष पहले से यह प्रकम्पन का सिद्धांत प्रस्थापित है कि संसार में सब प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सब कुछ तरंग ही तरंग है। भय की तरंग उठी और भय के प्रकम्पन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरंग को उठा सकें, अभय के प्रकम्पनों को पैदा कर सकें तो भय की तरंग वहीं समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त प्रतिपक्ष का सिद्धांत है। एक तरंग के द्वारा दूसरी तरंग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है और अच्छी तरंग को उठाया जा सकता है, बुरी को निरस्त किया जा सकता हे। बुरी तरंग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है। हमारे पुरुषार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते हैं और कैसे हमारा प्रयत्न होता है ? जिस व्यक्ति ने प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभभाव की तरंग के द्वारा अशुभ भाव की तरंगों को, विधायक तरंगों के द्वारा निषेधक तरंगों को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन में कोई बुरा विकल्प उठे, मन में बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की तरंग पैदा कर दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपराध को पकड़ने का वैज्ञानिक उपकरण

काव्य-शास्त्र में इस भाव-धारा का बहुत विशद विवेचन हुआ है। तीन भावधाराएं हैं---स्थायीभाव, सात्विकभाव और संचारीभाव। किस मुद्रा में कौन से भाव जन्म लेते हैं ? व्यक्ति किस रूप में प्रकट होता है ? यह सारा ज्ञात हो जाता है। श्रृंगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण-रस की दूसरी मुद्रा होती है, बीभत्स-रस की तीसरा मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शांत-रस की पांचवी मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राएं होती हैं। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावानुभूति और मुद्रा सब जुड़े हुए हैं। हमारी मुद्रा का संबंध भाव से जुड़ा हुआ है। भय की भावधारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है। डरा हुआ आदमी सिकुड़ जाता है। चेहरा सिकुड़ता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुड़ता भी है और फैलता भी है । भय से सिकुड़ता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख पुष्प की भांति खिल जाता है, भयभीत मुख बिलकुल सिकुड़ जाता है। ऐसा लगता है कि बिलकुल पतला-दुबला हो गया है। भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहर आकृति में जो परिवर्तन होते हैं वे हमारे सामने स्पष्ट होते हैं। अन्तर् के अवयवों में भी परिवर्तन होते हैं। हृदय की धड़कन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रन्थियां निष्क्रिय बन जाती हैं। मुख सूखने लग जाता है, आमाशय और आंतें सिकुड़ जाती हैं, भूख भी कम हो जाती है। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता है, उसकी भूख भी कम हो जाती है। त्वचा की संवाहिता में अन्तर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया, उसे डर है कि मेरा झूठ पकड़ा न जाए। अब न्याय करने वालों को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है ? आजकल कुछ यंत्रों का विकास हुआ है। अपराधी खड़ा है और यंत्र चल रहा है, गेल्वेनोमीटर की सूई घूम रही है। यंत्र लगा दिया गया है। अब उसके मन में है, कहीं पकड़ा न जाऊं । भय से उत्तेजना है। अन्तर् अवयवों में उत्तेजना पैदा हो गयी। वह गेल्वेनोमीटर बता देगा की यह झूठ बोल रहा है। वह बता देगा कि इसने अपराध किया है। यह सारा होता है त्वचा-संवाहिता के द्वारा। त्वचा-संवाहिता का मापन होता है और इस सचाई का पता चल जाता है। क्रोध का संवेग, भय का संवेग या दूसरे किसी प्रकार के संवेग की अवस्था में हमारी बाहर की मुद्रा भी भिन्न बनती है और भीतर की मुद्रा भी भिन्न बन जाती है। दोनों का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी एक दिन में शायद सैकड़ों-सैकड़ों मुद्राएं बना लेता है। यदि कोई सूक्ष्म यंत्र या ऐसा संवेदनशील कैमरा हो हाईप्रिसीजन का, तो प्रत्येक मुद्रा का भेद मापा जा सकता है। पांच मिनट पहिले जो मुद्रा थी, पांच मिनट बाद रहने वाली नहीं है । और इसी आधार पर मुखाकृति-विज्ञान का विकास हुआ है। आकृति-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की सारी चेष्टाओं को बताया जा सकता है, उसके भविष्य का भी निर्धारण किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय एक संवेग है, तीव्र संवेग है। जब भय की स्थिति होती है उस समय आदमी की मुद्रा दु:खद होती है और अशांति पैदा करने वाली होती है। डरे हुए आदमी के पास कोई दूसरा जाकर बैठेगा, उसके मन में भी अचानक बेचैनी पैदा हो जाएगी। यह क्यों हुआ ? कैसे हुआ ?

जागृति का मूल--अभय

प्रमाद भय है, अप्रमाद अभय है। भगवान् महावीर ने कहा--'**सव्वओ पमत्तस्य भयं**'--प्रमाद को चारों ओर से भय घेर लेता है। सर्वत्र भय ही भय है उसके लिए। उसका एक क्षण भी अभय की दशा में नहीं बीतता। उसका क्षण-क्षण भय में ही बीतता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता। उसे सबमें अविश्वास की गंध आती है। वह अपने धन की चाबी किसी को भी नहीं सौंपता। उसके मन में भय रहता है कि कहीं वह धन लेकर भाग न जाए ? बाप बेटे को भी नहीं सौंपेंगे क्योंकि आपको भय है कि धन की चाबी मिल जाने पर बेटा फिर आपको पूछेगा नहीं। उसे आपकी अपेक्षा नहीं रहेगी। आप अपनी पत्नी को भी नहीं सौंपेंगे क्योंकि आप सोचते हैं कि मां और बेटा--दोनों मिलकर मेरी फजीहत करेंगे। मेरी टिकट कटा देंगे। आप अन्तिम समय तक भी चाबी दूसरे को देना नहीं चाहेंगे क्योंकि आप में भय है। भय प्रमाद है।

कुछ लोग इसे जागरूकता भी कह देते हैं। परन्तु गहराई से सोचने पर प्रतीत होता है कि इस जागरूकता के पीछे भय काम करता है। यदि यह भय न हो कि ये बाद में मेरे साथ क्या करेंगे तो यह जागृति भी नहीं आती। इस जागृति का कारण भी भय है। कभी-कभी हम ऐसे कमरों में ठहरते हैं जहां अलमारियों में लाखों का धन पड़ा रहता है। न पहरेदार रहते हैं, न चौकीदार, केवल हम रहते हैं। मकान का मालिक सुख की नींद सोता है। वह जागरण नहीं करता, क्योंकि उसके मन में भय नहीं है कि मुनि उस धन को निकाल लेंगे। उसके मन में डर नहीं है । वह जागता नहीं, सुख से सोता है। जागना क्यों पड़ता है ? जागना तब पड़ता है जब पीछे भय हो। जहां भय नहीं है, वहां निश्चितता है।

जब भय की स्थिति आ गई हो तो उससे डरना नहीं चाहिए। पहले यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई खतरा सहसा उत्पन्न न हो। परन्तु जब खतरा पैदा हो ही गया तो व्यक्ति की प्राण-ऊर्जा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह निडर होकर उस खतरे का सामना कर सके। इस प्रकार करने से खतरा आता है और चला जाता है, व्यक्ति का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता। दुनिया में सब उसे सताते हैं जो कमजोर होता है, सशक्त को कोई नहीं सताता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभय की निष्पत्ति--वीतरागता

जब सहिष्णुता सधती है तब अभय घटित होता है। समूचे धर्म का रहस्य है अभय। धर्म की यात्रा का आदि-बिन्दु है अभय और अन्तिम बिन्दु है अभय। धर्म का अर्थ और इति अभय है। धर्म अभय से प्रारंभ होता है और अभय को निष्पन्न कर कृतकृत्य हो जाता है। वीतरागता का प्रारम्भ अभय से होता है और वीतरागता की पूर्णता भी अभय में होती है।

जो व्यक्ति भयमुक्त नहीं होता वह कभी धार्मिक नहीं बन सकता, कायोत्सर्ग नहीं कर सकता।

कायोत्सर्ग का अर्थ है--अभय।

कायोत्सर्ग का अर्थ है-शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना। अभय का यह पहला बिन्दु है।

शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना, सरल-सी बात लगती है, परन्तु यह इतनी सरल बात नहीं है। शरीर के प्रति बने हुए भय से छुटकारा पा लेना सरल बात नहीं है। 'ममेदं शरीरम्'-- यह शरीर मेरा है--जिस क्षण में यह स्वीकृति होती है, उसी क्षण में भय पैदा हो जाता है। यह भय की उत्पति का मूल कारण है। शरीर का ममत्व भय उत्पन्न करता है। ममत्व और भय दो नहीं हैं। ममत्व को छोड़ना भय-मुक्त होना है और भय-मुक्त होने का अर्थ है ममत्वहीन होना।

लक्ष्य की निश्चिंतता से जैसे आत्म-बल बढ़ता है, वैसे निर्भयता भी बढ़ती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति बढ़ती है। अहिंसा के मार्ग में सिर्फ अंधेरे का डर ही बाधक नहीं बनता, और भी बाधक बनते हैं। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने-अनजाने अनेक डर सताने लग जाते हैं, तब अहिंसा से डिगने का रास्ता बनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नहीं डिगता। वह जानता है--ऐश्वर्य जाए तो चला जाए, मैं उसके पीछे नहीं हूं। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मौत के लिए तथा औरों के लिए है। मैं सच बोलूंगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच बोलूंगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच रहूंगा। फिर चाहे कुछ भी क्यों न सहना पड़े। अहिंसक को धमकियां और बन्दर घुड़कियां भी सहनी पड़ती है। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नहीं घबराता। इन सब बातों से भी एक बात और बड़ी है। वह है--कल्पना का भय। जब यह भावना बन जाती है--अगर मैं यों चलूंगा तो अकेला रह जाऊंगा, कोई भी मेरा साथ नहीं देगा, यह अहिंसा के मार्ग में कांटा है। अहिंसक को अकेलेपन का डर नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य सही है, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन दुनिया उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य भिक्षु भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरों के आक्षेप, असहयोग आदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिंसा के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

भय भय को उत्पन्न करता है, अभय अभय को। सदृश की उत्पत्ति का जैविक सिद्धांत मनुष्य की मानसिक वृत्तियों पर भी घटित होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से संवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव--ये दोनों हाइपोथेलेमस से पैदा होते हैं। ये दोनों इमोशनल हैं। हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं जहां से नाना प्रकार की प्रवृत्तियों का संचालन होता है। संवेग का संचालन शरीर से होता है। सारे संवेग हाइपोथेलेमस में पैदा होते हैं। भय का भी यही स्थान है।

भय बहुत बड़ा संवेग है। इससे छुटकारा पाना बहुत आवश्यक है। अभय के द्वारा ही भय को समाप्त किया जा सकता है।

4. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण-ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें--प्रत्येक श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। — 3 मिनट
4. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें — 3 मिनट
5. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें--
   - ✦ सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है।
   - ✦ मानसिक संतुलन बढ़ रहा है ।

   इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर उसका नौ बार मानसिक जप करें। — 5 मिनट
6. अनुचिन्तन करें--

शारीरिक संवेदन--ऋतु जनित संवेदन, रोग-जनित संवेदन,
मानसिक संवेदन- सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता,
भावात्मक संवेदन--विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव,
विरोधी रुचि

- ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो मेरी शक्तियां क्षीण होंगी । जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, उतनी ही मेरी शक्तियां बढ़ेंगी, इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र हैं । — 10 मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय और मनन

अनुप्रेक्षा के अभ्यास के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।

कष्ट-सहिष्णुता

कष्ट-सहिष्णुता के बिना जीवन में उदात्त कर्म की साधना नहीं की जा सकती । सारी उदात्तताएं, विशिष्टताएं, कष्ट-सहिष्णुताएं एक साथ जुड़ी हुई हैं। इसलिए कहा गया - **'परीसहे जिणंतस्स.....!'** जो परिषहों (कष्टों) को सहन करता है, कष्ट-सहिष्णु होता है, वह उन्नति के शिखर को छू लेता है।

दो प्रकार के जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। एक है कष्ट-सहिष्णु जीवन की व्याख्या और दूसरी है आरामतलब जीवन की व्याख्या । जिस व्यक्ति को जीवन में सफल होना है, जो कुछ होना चाहता है, वह कभी आरामतलबी की दिशा में नहीं जाना चाहता।

साधक को कष्ट-सहिष्णु बनना ही चाहिए। ध्यान की साधना करने वालों को, अभ्यास करने वालों को कष्ट से विचलित नहीं होना चाहिए । शिविर में कष्ट सहने का भी प्रशिक्षण होना चाहिए । जहां दो सौ व्यक्ति हो, वहां यदा-कदा अनेक प्रकार की कठिनाइयां आ सकती हैं । यदि व्यवस्थापक वर्ग कठिनाइयां नहीं आने देते तो यह उनकी व्यवस्था-निपुणता है। किन्तु कष्ट सहने का अवसर भी आना चाहिए । तभी साधकों की कसौटी हो सकती है। जैसे व्यवस्थापकों की कसौटी है कि व्यवस्था को कितनी निपुणता से बनाए रखते हैं, वैसे ही साधकों की यह कसौटी है कि व्यवस्था में कहीं न्यूनता होने पर भी वे कैसे उनको सहन करते हैं। प्रेक्षा-ध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते समय यह संकल्प किया जाता है कि मैं प्रतिक्रियाविरति का अभ्यास करूंगा । क्या कष्टों को सहन न करने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया नहीं करेगा ? जो सहन करना नहीं जानता, वह प्रतिक्रिया से बच ही नहीं सकता। उसके मन में पग-पग पर प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया से वही व्यक्ति बच सकता है, जो कष्ट-सहिष्णु है, जिसमें सहिष्णुता का विकास हुआ है।

हमारी चेतना की बड़ी शक्ति है--सहिष्णुता। यह वह प्रज्वलित अग्नि है, लौ है, जिसके द्वारा जीवन आलोकित होता है। जिसमें कष्टों को सहन करने की चेतना नहीं जागती, उसके जीवन तले प्रकाश नहीं हो सकता। आग के जले बिना प्रकाश सम्भव नहीं होता । सारा अन्धकारमय बना रहता है। जिसे प्रकाशी होना है, अपने जीवन को प्रकाश से भरना है, उसे कष्टसहिष्णु बनना ही होगा। कष्ट-सहिष्णुता के साथ-साथ मनोबल का भी विकास करना होता है ? स्वतः होता है। यह युक्तिकृत मनोबल है, युक्ति के द्वारा, सहिष्णुता के द्वारा मनोबल को बढ़ाना है। एक साथ अधिक कष्टों को सहन करना कठिन होता है, किन्तु धीरे-धीरे आदमी को कष्ट-सहिष्णु बनने का अभ्यास करना ही चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर की सहिष्णुता के सूत्र

आयारो के नवें अध्याय में भगवान् महावीर की कष्ट-सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए निम्न सूत्रों में कहा गया है–

✦ लाढ देश में भगवान् को कुत्ते काटने आते। कुछ लोग कुत्तों को हटाते। कुछ लोग उन्हें काटने के लिए प्रेरित करते। उस प्रदेश में घूमने वाले श्रमण लाठी रखते, फिर भी उन्हें कुत्ते काट खाते। भगवान् के पास न लाठी थी, न कोई बचाव। अपने आत्मबल के सहारे वहां परिव्रजन कर रहे थे।

✦ भगवान् को लोग गालियां देते। भगवान् उन्हें कर्मक्षय का हेतु मानकर सह लेते।

✦ लाढ देश में कुछ लोग भगवान् को दण्ड, मुष्टि, भाले, फलक, ढेले और कपाल से आहत करते थे।

✦ कुछ लोग भगवान् के शरीर का मांस काट डालते।

✦ कुछ लोग भगवान् पर थूक देते।

✦ कुछ लोग भगवान् पर धूल डाल देते।

✦ कुछ लोग मखौल करते और भगवान् को उठाकर नीचे गिरा देते।

✦ भगवान् आसन लगाकर ध्यान करते। कुछ लोगों को बड़ा विचित्र लगता। वे आकर भगवान् का आसन भंग कर देते।

✦ भगवान् इन सबको वैसे सहन करते मानो शरीर से उनका कोई सम्बन्ध न हो।

परिवर्तन की प्रक्रिया– सहिष्णुता

परिवर्तन की प्रक्रिया का सूत्र है– सहिष्णुता, सहन करना। परिवर्तन के लिए बहुत जरूरी है– सहन करना। जो सहन करना नहीं जानता वह बदल नहीं सकता। पहले ही घबराता है कि मैं यह काम करता हूं, लोग क्या कहेंगे ? पड़ोसी क्या कहेंगे ? साथी क्या कहेंगे ? वहीं गति समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति बदलना चाहते हैं, वे इस बात को सर्वथा समाप्त कर दें कि कौन क्या कहेगा। कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे क्या करना है ? केवल यही सम्बन्ध रखना है।

आचार्यवर बहुत बार कहते हैं कि यदि हम यह देखते रहते कि लोग क्या कहेंगे तो कुछ भी नहीं कर पाते। जहां थे, वहीं रह जाते। सारा जो विकास हुआ है, इस आधार पर हुआ है कि क्या कहेंगे, इस बात का मन में डर नहीं है, केवल एक चिन्तन है कि क्या होना चाहिए। जो होना चाहिए वह किया गया, इसलिए आज हमारी यह स्थिति बन गई। डरे ही रहते तो यह स्थिति नहीं बनती।

हमारी सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। सहिष्णुता का अर्थ है– सर्दी को सहना, गर्मी को सहना। सर्दी मौसम की भी आती है और सर्दी भावना की भी आती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्मी मौसम की भी आती है और गर्मी भावना की भी आती है। अनुकूल कष्ट का नाम है सर्दी और प्रतिकूल कष्ट का नाम है गर्मी। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर से सर्दी और गर्मी को नहीं सहा, वह कच्चा आदमी रह गया। जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक जगत् में अनुकूलता को नहीं सहा, प्रतिकूलता को नहीं सहा, वह साधना के क्षेत्र में कच्चा आदमी रह गया। जब चाहो तब उसे दु:खी बना सकते हो। कच्चे आदमी को दु:ख दिया जा सकता है। जो पक जाता है उसे दु:ख देना बड़ा कठिन होता है। जब तक मिट्टी का घड़ा कच्चा है, पक नहीं जाता, तब तक काम का नहीं होता। न पानी रखा जा सकता और न और कुछ रखा जा सकता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कच्चे पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। भरोसा पैदा होता है पक जाने पर। मनुष्य भी जब तक कच्चा होता है तब तक उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। साधना की आंच में अनुकूलता और प्रतिकूलता को झेलते-झेलते जो पक जाता है वह विश्वास करने योग्य बनता है, अन्यथा सत्तर वर्ष का आदमी भी अविश्वसनीय ही रहता है। बड़ी उम्र हो जाने से कोई विश्वासपात्र नहीं बन जाता। एक छोटी उम्र का आदमी भी विश्वासपात्र बन जाता है, यदि वह पक जाता है। यदि नहीं पकता है तो जीवन में बड़े खतरे रहते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया है– पक जाना। पकने के लिए दो आंचों से गुजरना पड़ता है। एक अनुकूलता की आंच और दूसरी प्रतिकूलता की आंच। प्रतिकूलता की आंच को सहना कठिन काम है तो अनुकूलता की आंच को सहना कठिनतम काम है। जितना खतरा अनुकूलता से होता है, उतना खतरा प्रतिकूलता से नहीं होता।

ध्यान के द्वारा इन दोनों स्थितियों का पार पाया जा सकता है, अनुशासन स्थापित किया जा सकता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने चन्द्र स्वर का प्रयोग करता है। वह पकता है। श्वास के साथ बहुत सारे रासायनिक तत्त्व होते हैं। वे बाहन का काम कर सकते हैं। माध्यम बन सकते हैं। किसी विचार को पहुंचाना है, किसी स्थिति को सहना है तो श्वास-संयम के बिना वह सहज-सरल नहीं होगा। यदि हमने श्वास को साध लिया, दीर्घ-श्वास का और समताल-श्वास का प्रयोग करना सीख लिया तो अनुकूल स्थिति और प्रतिकूल स्थिति को भी झेल सकते हैं। प्रतिकूल स्थिति को झेलना पड़ता है। सामने प्रतिकूल स्थिति आती है और मस्तिष्क में गर्मी छा जाती है। सामने प्रतिकूल स्थिति आती है और मस्तिष्क में गर्मी छा जाती है। उत्तेजना आती है, तब पीनियल और पिच्यूटरी में भयंकर गर्मी पैदा हो जाती है। ये सारे स्थान बहुत सक्रिय हो जाते हैं। उत्तेजना की अवस्था में तो वह झेलना पड़ता है। यदि उस समय हमारे श्वास का अभ्यास अच्छा होता है, तो लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कोई भी प्रतिकूलता मन में आ रही है, मन में पारा गर्म हो रहा है, उत्तेजना भभक रही है, तत्काल समताल-श्वास का प्रयोग शुरू करें, ऐसा लगेगा आग और पानी दो हैं बीच में कोई बर्तन आ गया। आग जल रही है, पानी डालो, आग बुझेगी, पानी फालतू चला जाएगा। आग जल रही है, बर्तन रखकर उसमें पानी डालो, पानी गर्म हो जाएगा, काम का बन जाएगा। पानी काम का भी बन सकता है, आंच को सहकर, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग में गिरकर पानी फालतू भी हो सकता है। श्वास की क्रिया एक ऐसा बर्तन है। अगर इसका उपयोग किया जाए तो आंच भी लगेगी और जो कुछ आएगा वह फालतू नहीं लगेगा, उसका भी उपयोग हो जाएगा। जो शक्ति क्रोध के द्वारा खर्च होती थी वह शक्ति बच जाएगी और काम की शक्ति बन जाएगी। जितने आवेग, आवेश और वासनाएं हैं, वे सारे-के-सारे प्राण की शक्ति को खर्च करते चले जाते हैं।

आग भी उपयोगी है और पानी भी उपयोगी है। आग में पानी डालो, आग बुझ जाएगी और पानी फालतू चला जाएगा। अगर हम आग और पानी के बीच में समताल-श्वास का बर्तन रखना सीख जायें तो पानी भी खराब नहीं होगा, काम का बन जाएगा। आग भी नहीं बुझेगी और हम उसे बहुत से काम में ले पाएंगे।

सहिष्णुता का प्रयोग, सहन करने का प्रयोग, श्वास के बिना सम्भव नहीं होता।

मनोबल की शिक्षा– सहिष्णुता

एक बहुत बड़ी शक्ति है– सहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइयां झेलते हैं, वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

यह सब जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा संपन्न हो सकता है। यह विद्याशाखीय शिक्षा के द्वारा कभी नहीं हो सकता। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबको पढ़ लो, किन्तु सहिष्णुता की शक्ति नहीं जाग पाएगी, समता का विकास नहीं हो पाएगा। विद्या की एक शाखा– 'जीवन-विज्ञान' ही ऐसा माध्यम बन सकती है जो आदमी की आन्तरिक शक्तियों को जगाकर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग सुन्दर बना सकती है। आज तक इस शाखा की उपेक्षा होती रही है, हो रही है। जब तक वह उपेक्षा अपेक्षा में नहीं बदलेगी, उसका विकास नहीं होगा, तब तक कष्ट-सहिष्णुता या समता का भाव नहीं आ पाएगा, मनोबल का विकास नहीं हो सकेगा। मनोबल जो विकसित होता है, टूट जाता है। परिस्थिति आती है और आदमी अधीर हो जाता है। उसमें सहने की ताकत नहीं रहती।

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह संयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनायें घटित होती हैं। दुर्घटनायें होती हैं। अनेक व्यक्ति मर जाते हैं। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितियां पैदा होती हैं। आदमी में उन्हें झेलने की शक्ति नहीं रहती। इस स्थिति में क्या संभव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे ? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोड़नी होगी, और वह वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढ़ाने की शिक्षा।

सहिष्णुता का अभाव

आज का मनुष्य इतना असहिष्णु है कि वह कुछ भी सहन नहीं कर सकता। आज के युग की यह भयंकर बीमारी है। वह किसी भी घटना को सहन नहीं कर पाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीटर और कूलर क्यों चले ? जब मनुष्य ऋतु के प्रभाव को सहन करने में असमर्थ हो गया तब इनका आविष्कार हुआ। ऋतु के प्रभाव को सहने की क्षमता आदमी में कम हो गई है। आज जब कुछ समय के लिए बिजली चली जाती है तब आदमी परेशान हो जाता है। गर्मी है, पंखा चाहिए। सर्दी है, हीटर चाहिए। पुराने जमाने के मकान देखें। उनके दरवाजे भी छोटे होते और खिड़कियां विशेष होती ही नहीं और यदि कोई होती तो वे भी छोटी ही होतीं। आज तो शायद पशु भी उन स्थानों में नहीं रखे जा सकते। कुछ असर पशुओं में भी आया है आदमियों का। वे भी खुला स्थान पसन्द करते हैं। उन्हें भी मुक्त स्थान चाहिए। किन्तु आश्चर्य होता है कि लोग उन मकानों में कैसे रहते थे ?

आचार्य भिक्षु ने सिरियारी गांव में पक्की हाट में चातुर्मास-काल बिताया। अभी भी वह हाट प्रायः मूल की स्थिति में मौजूद है। उस हाट में आज कोई भी साधु चातुर्मास तो क्या एक दिन भी रहना नहीं चाहेगा। वह पूरा दिन नए स्थान की खोजबीन में बिता देगा, पर हाट में नहीं रह सकेगा। इसका क्या कारण है ? कारण बहुत स्पष्ट है कि उस जमाने के लोग बहुत शक्तिशाली और सहनशील थे। वे हर घटना को सह लेते थे। जैसे-जैसे सुविधाओं का विकास हुआ है, मनुष्य की सहनशक्ति कम हुई है। आज सुविधाओं के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। प्रतिदिन साधनों की नई-नई खोजें हो रही हैं। इसे हम विकास की संज्ञा देते हैं। मैं भी अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य ने इस क्षेत्र में विकास नहीं किया है। उसने विकास किया है और आज भी वह नए-नए आयाम खोज रहा है। किन्तु यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि पदार्थ-जगत् में मनुष्य ने विकास किया है और आंतरिक चेतना के जगत् में, जहां सहिष्णुता का विकास था, उसे खोया है। आज कितना अधैर्य है। असहिष्णुता अधीरता को जन्म देती है। आज मानो कि मनुष्य में धृति है ही नहीं, ऐसा लगता है। यदि मालिक नौकर को दो कड़े शब्द कह देता है तो नौकर तत्काल कहता है—यह लो तुम्हारी नौकरी। मैं तो चला। मालिक सोचता है नौकर चला गया तो क्या होगा ? वह स्वयं नौकर से कहता है— 'चलो, आगे से कुछ नहीं कहूंगा।' सारा चक्का उल्टा घूम गया। प्राचीन काल में मालिक नौकर को कितना अनुशासन में रखता था और नौकर स्वामी का कितना विनय करता था। नौकर कितना सहिष्णु होता था। आज पिता पुत्र को कुछ भी कहने से पूर्व दस बार सोचता है कि इस बात का पुत्र पर क्या असर होगा ? कहीं वह कुपित होकर घर से चला न जाए। आत्महत्या न कर ले। कभी-कभी वह पूरी बात कह भी नहीं पाता, अधूरी बात कह कर ही विराम कर लेता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति अधीर है। अधीरता सीमा को लांघ चुकी है। मनुष्य ने प्रकृति की सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता को ही नहीं गंवाया है, उसने सार्वभौम सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता भी खोयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज असहिष्णुता चरम सीमा तक पहुंच चुकी है। दो भाई हैं। दो मित्र हैं। तब तक भाईचारा और मित्रता निभती है जब तक आपस में कुछ कहा सुना नहीं जाता। मन के प्रतिकूल कहते ही भाईचारा टूट जाता है। मित्रता समाप्त हो जाती है। शिष्य गुरु के प्रति विनीत होता है, समर्पित होता है। विनय और समर्पण तब तक अखण्ड रहती है जब तक गुरु शिष्य को कुछ कठोर शब्द नहीं कहते और शिष्य का स्वार्थ संपादित होता रहता है। कुछ कहा, कुछ ताप दिया कि शिष्य मोम की तरह पिघलकर बिखर जाएगा, टूट जाएगा।

अनुशासन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक सहिष्णुता का विकास नहीं होता। हम अनुशासन लाने का बहुत प्रयत्न करते हैं। हम चाहते हैं कि अनुशासन का विकास हो, विद्यार्थी और पुलिसकर्मी में अनुशासन आए, मजदूर और कर्मचारी में अनुशासन आए। हर क्षेत्र में अनुशासन बढ़े। सब चाहते हैं, किन्तु वे इस आधारभूत तत्त्व को भूल जाते हैं कि सहिष्णुता की शक्ति का विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। इसलिए हमारा सारा प्रयत्न सहिष्णुता की शक्ति को विकसित करने के लिए होना चाहिए। तब अनुशासन स्वयं फलित होगा।

5. संकल्प-शक्ति की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राणध्वनि 2 मिनट

2. कायोत्सर्ग 5 मिनट

3. तैजस केन्द्र पर अरुण (बाल-सूर्य जैसे) रंग का ध्यान

(क) अनुभव करें– अपने चारों ओर अरुण रंग के परमाणु फैले हुए हैं। उगते हुए (बाल) सूर्य जैसे अरुण रंग का श्वास लें। अनुभव करें– प्रत्येक श्वास के साथ अरुण रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। 3 मिनट

(ख) अब अपने चित्त को तैजस केन्द्र पर केन्द्रित करें और वहां पर अरुण रंग का ध्यान करें। 3 मिनट

4. विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान–

अपने चित्त को विशुद्धि केन्द्र (कण्ठ के मध्य भाग) पर केन्द्रित करें। आगे से पीछे सुषुम्ना-शीर्ष तक चित्त के प्रकाश को फैलाएं। पूरे भाग में होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। बीच-बीच में श्वास-संयम का प्रयोग करें। 3 मिनट

5. तैजस केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें–

"मेरी संकल्प-शक्ति का विकास हो रहा है।"– इस शब्दावली का नौ बार मानसिक जप करें। 3 मिनट

6. अनुचिन्तन करें

"दृढ़ निश्चय के बिना कोई व्यक्ति सफल नहीं हो सकता।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सफलता का सूत्र है--'जिस प्रशस्त कार्य को करना हो, पहले उसका संकल्प करो--दृढ़ निश्चय करो। फिर उस पर ध्यान केन्द्रित करो। सफलता अपने आप वरण करेगी।'

'अनिश्चय में रहना विफलता को निमंत्रण देना है।'

7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। 2 मिनट

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

संकल्प शक्ति

मनुष्य बदलता है, चेतना बदलती है। उसका एक शक्तिशाली माध्यम है--संकल्प-शक्ति । आज तक जो विकास हुआ है उसमें संकल्प शक्ति का बड़ा योगदान रहा है। आदिकाल से आज तक मनुष्य ने जितनी घाटियां पार की हैं, जो नहीं था उसे प्राप्त किया है, जितना विकास किया है, उसमें संकल्प-शक्ति का बड़ा योगदान रहा है। संकल्प-शक्ति के सहारे वह बदलता गया, बदलता गया, उसके शरीर का आकार बदला है, प्रकार बदला है, इन्द्रियां बदली हैं, चेतना बदली है। पूरा विकास होता गया है। इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति--ये तीन हमारी बड़ी शक्तियां हैं। ये तीन मनुष्य की दुर्लभ विशेषताएं हैं और इन शक्तियों के आधार पर ही आज के विकास के बिन्दु पर पहुंचे हैं। संकल्प-शक्ति हमारी बहुत बड़ी शक्ति है।

संकल्प-शक्ति का अर्थ है--कल्पना करना और उस कल्पना को भावना का रूप देना, दृढ़ निश्चय करना। जब हमारी कल्पना उठती है और वह कल्पना दृढ़ निश्चय में बदल जाती है, तो हमारी कल्पना संकल्प-शक्ति बन जाती है। पहले-पहल कल्पना उठती है, ऐसा हो सकता है, ऐसा होना चाहिए। यह हमारी कल्पना है। कल्पना में इतनी ताकत नहीं होती है। उसमें इतना बल नहीं होता । जब कल्पना को पुट लगती है, उसकी ताकत बढ़ जाती है।

दूसरी बात है--व्रत की शक्ति का विकास। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व था। हर धर्म ने व्रत की शक्ति का विकास किया था। व्रतों का बड़ा महत्त्व हुआ। सबने व्रतों का विधान किया और सब लोग व्रतों को स्वीकार करते। यहां दीक्षा शब्द बहुत प्रचलित रहा । दीक्षा का अर्थ ही था--व्रतों का स्वीकार । यज्ञोपवीत से लेकर विभिन्न संस्कारों में, संन्यास में, मुनित्व में, कहीं भी कोई जाये, व्रत का विधान उसके लिए होता था। आज वह व्रत का विधान भी छूट गया। व्रत की शक्ति भी कम हो गई।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए तीसरा उपाय है--नियमितता। आप छोटा-सा प्रयोग करें । आपका इष्ट मंत्र अलग-अलग हो सकता है। मैं आपको कोई मंत्र नहीं बताऊंगा। जो आपका इष्ट हो और जिस पर आपका विश्वास हो, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप एक निश्चित स्थान में, निश्चित समय में प्रतिदिन जाप करें। एक वर्ष प्रयोग करके देखें कि आपकी संकल्प-शक्ति कितनी बढ़ जाती है। ठीक वही समय और वही स्थान। निश्चित देश और निश्चित काल। उसका प्रयोग करें तो स्वयं अनुभव होगा कि मेरी आन्तरिक शक्ति, क्षमता और संकल्प-शक्ति कितनी बढ़ गई। जो सोचता हूं वही कर लेता हूं, यह वचन-सिद्धि का बहुत बड़ा उपाय है। वचन-सिद्धि का अर्थ है कि मुंह से जो बात निकल जाती है वह बात हो जाती है। यह वचन-सिद्धि का बहुत सुन्दर उपाय है कि तीन वर्ष तक कोई आदमी एक निश्चित समय पर अपने इष्ट मंत्र का जप करे तो उसकी वचन-शक्ति में परिवर्तन आ जायेगा।

हमारी चेतना बदलती है, भीतर से कुछ बदलता है, ऐसा परिवर्तन महसूस होता है। देश और काल की नियमितता से भी परिवर्तन घटित होता है। ठीक समय पर काम करना और उसी समय वही काम करना जो जिस समय करना है।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए तीन बातें बहुत आवश्यक हैं--इन्द्रिय-विजय, कष्ट-सहिष्णुता और मन की एकाग्रता । जिस व्यक्ति में ये तीन बातें नहीं होतीं, उसकी संकल्प-शक्ति टूट जाती है। एक आदमी संकल्प करता है कि मैं ऐसा नहीं करूंगा, नहीं करूंगा। पर इन्द्रियों पर काबू नहीं। कोई चीज सामने आयी और तत्काल संकल्प टूट जाता है। बीमार आदमी सोचता है कि इस चीज से मुझे बड़ा कष्ट हुआ, कल यह मैं नहीं पीऊंगा, नहीं खाऊंगा। किन्तु सामने आया तो कल की बात ही रह गई, आज की बात नहीं बनी। क्योंकि इन्द्रियों पर संयम नहीं है। संकल्प-शक्ति के विकास के लिए प्रथम शर्त है--इन्द्रियों का संयम।

दूसरी बात है--कष्ट-सहिष्णुता। थोड़ा-सा कष्ट आया और संकल्प टूट गया। कष्ट-सहिष्णुता जिसमें नहीं होती, उसकी संकल्प-शक्ति मजबूत नहीं होती।

तीसरी बात है--मन की अचपलता। संकल्प किया, पर मन इतना चपल होता है कि मन में तरंग उठी और बात समाप्त। मन की चपलता होती है, तो संकल्प-शक्ति विकसित नहीं होती।

ये तीन बातें होती हैं तो संकल्प-शक्ति का विकास हो सकता है और बहुत अच्छा हो सकता है।

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए एक और महत्वपूर्ण प्रयोग है--(Suggestion या Auto-Suggestion) का। बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। पश्चिम के लोगों ने एक चिकित्सा की प्रणाली का विकास किया है--आटोजेनिक चिकित्सा-पद्धति । आटोजेनिक चिकित्सा-पद्धति में स्वत: प्रभाव डालने वाली बात होती है। वे कल्पना करते हैं और कल्पना के सहारे वैसा अनुभव करते हैं। यह आटोजेनिक प्रणाली, इसे योग की भाषा में भावनात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। हमारे यहां भावना का प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलता था कि हम वैसा अनुभव करें। यह हाथ है। आप भावना का प्रयोग करें कि यह ऊपर उठ रहा है। अपने आप उठेगा और आपके सिर पर लग जायेगा, आप उठाने का प्रयास नहीं करेंगे। आप भावना करें कि हाथ भारी हो गया है। आपका हाथ बहुत भारी बन जाएगा। कल्पना करें कि हाथ हल्का हो गया है, हल्का हो जाएगा। आप भावना करें कि हाथ ठंडा हो रहा है, ठंडा हो जाएगा। भावना करें कि हाथ गर्म हो रहा है, हाथ गर्म हो जाएगा। भावना हमारी चेतना को और वातावरण को बदलती है। यह ठीक भावना का प्रयोग है—आटोजेनिक चिकित्सा-पद्धति । इस पद्धति के द्वारा रोगी अपने आप अपने को स्वस्थ करता है। दूसरे मार्गदर्शक की बहुत जरूरत नहीं होती। मात्र वह तो कहीं-कहीं सुझाव देता है। रोगी स्वयं अपनी चिकित्सा कर लेता है।

युद्ध के मैदान में सेनाएं खड़ी हैं। दोनों पक्षों की सेनाएं शस्त्रास्त्रों से लैस है। जन-बल और शस्त्रबल प्रबल होने पर भी वह सेना हार जाती है, जिसमें आत्मबल नहीं होता। रावण की बहुरूपिणी विद्या राम और लक्ष्मण के बाणों की बौछार के सामने टिक नहीं सकी। क्योंकि आत्मबल के अभाव में विद्या का बल व्यर्थ हो जाता है। विद्या, कला, मंत्र, तंत्र और दैवी-शक्ति आत्मशक्ति की तुलना में अकिंचित्कर है। इसलिए हर साधक के मन में यह भरोसा होना चाहिए कि इच्छाओं से भी अनन्तगुणित शक्ति उसकी अपनी आत्मा में है।

तीर्थंकरों ने कहा है कि सही दृष्टिकोण से की गई क्रिया ही सफल होती है। दृष्टिकोण गलत है तो प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती। क्योंकि दृष्टि सही न होने से व्यक्ति की आस्था गड़बड़ा जाती है। आस्था का सूत्र हाथ में है तो जीवन की पतंग को आकाश में बहुत ऊपर तक चढ़ाया जा सकता है। आस्था की डोर हाथ से निकल जाने का अर्थ है अपने जीवन पर अपना नियंत्रण खो देना । नियंत्रण की क्षमता का विकास वह व्यक्ति कर सकता है, जिसका संकल्प प्रबल होता है। शिथिल संकल्प वाला व्यक्ति इच्छा की दासता का प्रतीक है।

जिस साधक का संकल्प-बल पुष्ट होता है, इच्छा-शक्ति नियंत्रित होती है, वह पदार्थ जगत् को अपने अस्तित्व पर हावी नहीं होने देता। वह जानता है कि उसके जीवन में इच्छा-स्रोत बह रहा है, निरन्तर बह रहा है। उस बहाव का संबंध बाहर से कम और भीतर से अधिक है। बाहरी प्रभाव तो मात्र निमित्त है। उसके कारण इच्छाएं व्यक्त होती हैं। इसलिए अवचेतन के जिस तल पर इच्छा की उत्पत्ति होती है, उसी तल पर उसे नियंत्रित करने की अपेक्षा है, अनुशासित करने की अपेक्षा है। नियन्त्रण की शक्ति किसमें नहीं है ? मेरे अभिमत से हर व्यक्ति निरोध की शक्ति से संपन्न है। उस शक्ति के उपयोग की क्षमता विकसित हो जाए, तो फिर यह विवशता सामने नहीं आएगी कि अनन्त इच्छाओं पर अनुशासन कैसे किया जाए ? जिस व्यक्ति को अपने आप पर अनुशासन करने की कला सीखनी है, उसे प्रथम सोपान पर इच्छाओं का नियमन करना ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राम और रावण के युद्ध की घटना से आप परिचित हैं। कहां रावण की सेना और शस्त्र-बल ? कहां वनवासी राम की बानरी सेना ? पर राम के पास असत् को अस्वीकारने का बल था, संकल्प का बल था। संकल्प-बल के सहारे लंकादहन हुआ, राक्षसों की धज्जियां उड़ा दी गई और वहां राम-राज्य स्थापित हो गया। अस्वीकार की यह शक्ति अपने विरोधी जनों के प्रति ही नहीं, पूज्यजनों के प्रति भी होनी चाहिए ।

शहंशाह अकबर का नाम आपने सुना होगा। वे अपनी माता के बड़े भक्त थे। वे सब कुछ कर सकते थे, पर मां की बात नहीं टाल सकते थे। मां की सुविधा के लिए वे बड़े से बड़ा खतरा भी उठा लेते थे। एक बार उन्हें लाहौर और आगरे के बीच कोई नदी पार करनी पड़ी। उस समय उन्होंने अपनी मां की पालकी अपने कंधों पर उठाई थी। अपनी माता के वचनों को वे ब्रह्मवाक्य मानते थे। ऐसे मातृभक्त अकबर ने भी एक बार मां की बात माने से इन्कार कर दिया, यह उनकी अस्वीकार की शक्ति का द्योतक है।

बात यह हुई कि एक बार पुर्तगालियों ने मुगलों के एक जहाज को अपने अधिकार में ले लिया। उसमें उन्हें कुरान शरीफ की एक प्रति मिली। कुछ ईसाई पुर्तगालियों के मन में दुर्भावना जागी और उन्होंने उसको एक कुत्ते के गले में बांधकर शहर में घुमाया। यह खबर सुनते ही अकबर की मां आग-बबूला हो गई और प्रतिशोध-भावना से प्रेरित होकर बोली--बाइबिल की प्रति को गधे के गले में बांधकर उस पर थूको और उसे शहर में घूमाओ।

अकबर मां का आदेश सुनकर बोला—मां कांटे से कांटा निकालने की बात तो समझ में आती है, पर जुल्म का बदला जुल्म से लेना, इस बात से मैं सहमत नहीं हूं। कुछ मनचले लोगों ने कुरान शरीफ के प्रति दुर्भावनापूर्ण व्यवहार किया, इसमें बाईबिल का क्या अपराध है ? अपनी माता के अनुचित आदेश को अस्वीकार कर बादशाह ने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

आचार्य भिक्षु अपने दीक्षा-गुरु के अनन्य भक्त थे। उनके साथ उनका गहरा तादात्म्य जुड़ा हुआ था। पर जिस क्षण उनकी समझ में आ गया कि गुरु की हर बात ठीक नहीं है, वे उनसे बंधे नहीं रह सके। भयंकर मुसीबतों की संभावना स्पष्ट थी, फिर भी वे गुरु को छोड़कर चले गए। आचार्य भिक्षु के उस अस्वीकार का परिणाम था--एक धर्म-क्रांति। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अस्वीकार की शक्ति जागृत होने के बाद हमारा मन कुछ भी नहीं कर सकता। न हम अपने मन को बुरा-भला कहें और न ही उससे हार स्वीकार करें। ऐसा होने से ही मानसिक अनुशासन विकसित हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. आत्म-तुला की अनुप्रेक्षा

प्रयोग विधि

1. महाप्राण ध्वनि 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग 5 मिनट
3. शांति केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करें--

(क) अनुभव करें-- अपने चारों ओर सफेद रंग के परमाणु फैले हुए हैं। सफेद रंग का श्वास लें। अनुभव करें--प्रत्येक श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। 3 मिनट

(ख) अब अपने चित्त को शान्ति-केन्द्र पर केन्द्रित करें। और वहां पर अरुण रंग का ध्यान करें। 3 मिनट

4. शान्ति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर आत्मतुला की अनुपेक्षा करें--

वह तू ही है जिसे तू तिरस्कृत करना चाहता है।
वह तू ही है जिसे तू संताप देना चाहता है।
वह तू ही है जिसे तू मारना चाहता है
--इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें।
फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। 10 मिनट

5. अनुचिन्तन करें--

तिरस्कार किसी को भी पसंद नहीं है।
संताप किसी को भी प्रिय नहीं है।
कोई भी मरना नहीं चाहता।
"क्या विषमता-पूर्ण व्यवहार करना सामाजिक जीवन के प्रति अन्याय नहीं है ?"
"क्या क्रिया की प्रतिक्रिया नहीं होती ? यदि होती है, तो मुझे विषमतापूर्ण व्यवहार से बचना है।" 10 मिनट

6. महाप्राणध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें 2 मिनट

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

तराजू के दो पल्ले

तुला प्रतिष्ठित है। वह तौलने वाला बहुत बड़ा है, जो दूसरों को तौल सके। तराजू के साथ समता की बात जुड़ी हुई है, न्याय की बात जुड़ी हुई है। तराजू के दोनों पल्ले समान होने चाहिए। समता के लिए तराजू की उपमा प्रयुक्त हुई है और न्याय के लिए भी तराजू की उपमा प्रयुक्त होती रही है। यद्यपि हमारे कवियों ने तुला में भी दोष देखा है- हे तुला ! तुम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणिक हो, सबको ठीक मापती हो, फिर भी तुम न्याय नहीं करती, क्योंकि जो भारी है उसे नीचे ले जाती हो और जो हल्का है उसे ऊपर उठा देती हो।

प्रामाणिक पद गही तुला, यह तुम करत अन्याय।
अध पद देत गरिष्ठ को, लघु उन्नत पद पाय॥

आत्मतुला

भगवान महावीर ने आत्मतुला के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

महावीर ने वनस्पति और मनुष्य की जो समानताएं प्रस्तुत की हैं, उन्हें आज विज्ञान प्रमाणित कर चुका है। महावीर की भाषा में मनुष्य और वनस्पति की समानता का रूप यह है–

मनुष्य	वनस्पति
मनुष्य जन्मता है	वनस्पति भी जन्मती है
मनुष्य बढ़ता है	वनस्पति भी बढ़ती है
मनुष्य चैतन्ययुक्त है	वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है
मनुष्य छिन्न होने पर क्लान्त होता है	वनस्पति भी छिन्न होने पर क्लान्त होती है
मनुष्य आहार करता है	वनस्पति भी आहार करती है
मनुष्य अनित्य है	वनस्पति भी अनित्य है
मनुष्य अशाश्वत है	वनस्पति भी अशाश्वत है
मनुष्य उपचित और अपचित होता है	वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है
मनुष्य विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है	वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है

अभय का अवदान

महावीर ने कहा–सब जीवों को अपने समान समझो । वनस्पति के संदर्भ में भी उनका यही प्रतिपादन था–'तुम देखो वनस्पति दूसरे जीवों की अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट है। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु आदि के जीवों को समझना कुछ कठिन है किन्तु वनस्पतिकाय को समझना आसान है। तुम इसे समझो, इस पर मनन करो। मनन कर अभय-दान दो।'

'जिससे तुम्हें जीवन मिल रहा है, उसे भी तुम भय दे रहे हो। तुम उसे सताना छोड़ दो। यह सत्य है--तुम्हारी आवश्यकताएं उस पर निर्भर है। तुम खाए बिना नहीं रह सकते किन्तु तुम कम से कम उसे अनावश्यक मत सताओ। मन में यह भावना रखो--यह हमारा उपकार करने वाला जगत् है। उसके प्रति तुम्हारा जो क्रूर व्यवहार होता है, उसके लिए क्षमा-याचना करो। तुम्हें आवश्यकतावश किसी पेड़ की टहनी को काटना पड़ा है, किसी वनस्पति को खाना पड़ा है, तो तुम उसके प्रति मन में क्षमा-याचना करो। तुम्हारे मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में यह भाव जागे--विवशता के कारण मैं वनस्पति-जगत् का उपयोग कर रहा हूं' मेरी विवशता के लिए वह मुझे क्षमा करे। यह भाव कृतज्ञता का भाव होगा।

महवत्त्पूर्ण स्वीकृति

गुरु-धारणा करते समय एक जैन श्रावक यह नियम स्वीकार करता है--मैं बड़े वृक्ष को नहीं काटूंगा। यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। विश्नोई समाज ने पेड़ों के लिए जो काम किया है, वह बहुत अद्‌भुत है। विश्नोई समाज में यह मान्यता प्रचलित है--एक पेड़ को काटना दस लड़कों को मारने के समान है। विश्नोई समाज के पुरखों ने पेड़ों की सुरक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। जब जोधपुर के राजा ने पेड़ कटवाने शुरू किए तब विश्नोई समाज के लोगों ने सत्याग्रह कर दिया। उन्होंने कहा--पहले हम मरेंगे फिर पेड़ कटेंगे। पेड़ को विनाश से बचाने के लिए अनेक लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

हम इस सचाई को समझें--जितने पेड़ कटेंगे उतना ही मनुष्य का जीवन असुरक्षित बनेगा। पेड़ काटने का अर्थ है--हिंसा और अपने सहयोगी का विनाश। पेड़ काटने से हिंसा तो होती है किन्तु उसके साथ-साथ जीवन को भी खतरा पैदा हो जाता है। वनस्पति और मनुष्य--दोनों का अस्तित्व इतना जुड़ा हुआ है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आज मनुष्य इस सचाई को अनदेखी कर रहा है। वह लोभ के कारण बिना सोचे-समझे वनस्पति जगत् के साथ घोर अन्याय और क्रूरता का व्यवहार करता चला जा रहा है और यही उसके लिए समस्या का कारण बन रहा है ।

क्रूरता की पृष्ठभूमि

शक्तिशाली आदमी कमजोर को मारता है, यह एक सिद्धान्त-सा बन रहा है। मनुष्य को सोचने की शक्ति मिली है किन्तु वह प्राणियों के साथ जो अन्याय कर रहा है क्या वह संगत है ? मनुष्य के शौक ने कितनी क्रूरता को जन्म दिया है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। थोड़े से आराम, बड़प्पन और सौन्दर्य के लिए कितना अन्याय किया जा रहा है। लोग कहते हैं- आतंकवाद बढ़ रहा है। आदमी को तिनके की तरह मारा जा रहा है। यदि आदमी के चरित्र को देखें तो और क्या परिणाम आ सकता है ? यह एक चक्र है। यदि हजार आदमी क्रूरता करेंगे तो लाखों आदमी क्रूर बन जाएंगे। क्रूरता के पीछे क्या है ? इस पर हम ध्यान केन्द्रित करें। उसकी पृष्ठभूमि में है--रुपया, आराम, सुन्दर दीखने की प्रवृत्ति और बड़प्पन की भावना। समाचार-पत्र में पढ़ा--कस्तूरी मृग समाप्त होते चले जा रहे हैं। पश्चिमी देशों में इसकी मांग बहुत बढ़ गई है। अब इसका उपयोग शस्त्रों में होने लगा है, इसीलिए इसका मूल्य बढ़ गया है। मृगों को मारने वाले अवैध तरीके से मारने लगे हैं। कस्तूरी मृग का अस्तित्व ही विलुप्त-सा हो गया है। शिकारी के लिए यह एक व्यवसाय है। रुपये के लोभ ने, प्रसाधन और सौन्दर्य के लोभ ने जिस क्रूरता को जन्म दिया है, वह दिल को दहलाने वाली है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जटिल है लोभ की वृत्ति

मुवक्किल वकील से बोला–मेरा केस बड़ा जटिल था और झूठा भी था पर आपने अपनी होशियारी से मुझे जिता दिया मैं किन शब्दों में आपकी प्रशंसा करूं ? मुझे कोई शब्द नहीं मिल रहा है। वकील बोला- कोई शब्द ढूंढने की जरूरत नहीं है केवल एक शब्द जान लो– रुपया।

आज हाथियों को मारा जा रहा है। हाथी-दांत बेचने पर भी सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। चाम के लिए बाघों-चीतों को मारना शुरू कर दिया गया है। जिस प्राणी से भी पैसे मिलते हैं, उसे मारा जा रहा है किन्तु यह बात नई नहीं है।

हम आयारो का पढ़ें। किन-किन कारणों से जीव मारे जाते हैं, उनका विशद वर्णन आयारो में है–

"कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण, हस्ति-दंत, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ व्यक्ति प्रयोजनवश प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा की थी, यह स्मृति कर प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ व्यक्ति ये (मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा कर रहे हैं यह सोचकर प्राणियों का वध करते हैं।

"कुछ व्यक्ति (ये मेरे या मेरे स्वजन वर्ग की) हिंसा करेंगे, इस संभावना से प्राणियों का वध करते हैं।"

क्या करुणा जागेगी ?

प्रश्न है क्या मनुष्य की वृत्तियां बदलेंगी ? क्रूरता कम होगी ? क्या करुणा जागेगी ? ऐसा लगता है, तब तक करुणा को जगाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता जब तक लोभ को कम करने का प्रयत्न सफल न हो जाए। प्रेक्षाध्यान-शिविर के दौरान एक प्रश्न प्रस्तुत हुआ–क्रोध को कम करने के लिए ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है। भयवृत्ति को कम करने के लिए आनन्द केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है। लोभ की वृत्ति को मिटाने के लिए किस केन्द्र पर ध्यान करवाना चाहिए ? मैंने कहा– इस विषय में मैं स्वयं उलझन में हूं। अन्य वृत्तियों को बदलने के सूत्र तो हाथ लग गए हैं, पर लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र अभी पकड़ में नहीं आया है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहां है दिल और दिमाग ?

सबसे ज्यादा जटिल है यह लोभ की वृत्ति। सारी समस्याएं इससे पैदा हुई हैं। कैसे बदला जाए इसे ? इसी वृत्ति के कारण आदमी मंद और अज्ञानी बन रहा है। जो आदमी लोभी है, प्रसाधन चाहता है, आराम चाहता है, वह पढ़ा हुआ व्यक्ति भी मंद है। सर्दी के दिनों में दक्षिण दिशा में प्रस्थित सूरज भी मंद बन जाता है। कवि ने बहुत सुन्दर कल्पना प्रस्तुत की है–

दक्षिणाशा प्रवृत्तस्य, प्रसारितकरस्य च ।
तेजःतेजस्विनस्तस्य, हीयतेऽन्यस्य का कथा ॥

जो लाभ की आशा में चला गया, लोभ की दिशा में चला गया, धन की दिशा में चला गया, वह मंद बन गया। लोभ की दिशा में प्रस्थित व्यक्ति अज्ञानी बन जाता है, उसका सोचने का दृष्टिकोण बदल जाता है, दिल और दिमाग बदल जाता है।

अमेरिका में आज भी एक बड़ी विचित्र घटना घट रही है। एक व्यक्ति हुआ था, बैंजामिन फ्रेंकलिन। वह प्रेस चलाता था। उसके पास बीस डॉलर कम पड़ रहे थे। उसने मित्र से सहायता मांगी। मित्र ने उसे बीस डॉलर दे दिए। उसका काम चल पड़ा। उसने मित्र के बीस डॉलर वापस देने चाहे। मित्र ने कहा–मैंने तो वापस लेने के लिए नहीं दिए थे। यदि तुम देना चाहते हो तो ऐसा करो, इन्हें अपने पास रखो, कोई जरूरतमंद आए तो उसे दे देना और उसे यह कह देना जब तक जरूरत हो तब तक वह इन्हें काम में ले। उसके बाद वे बीस डालर किसी तीसरे जरूरतमंद को ही दे दे।

कल्पना-सूत्र

कल्पना करें–दो जीव हैं। एक व्यक्ति स्वयं है और एक दूसरा आदमी है। व्यक्ति पहले अपने आप को देखे। वह सोचे–मुझे किसी ने गाली दी तो मुझ पर क्या प्रतिक्रिया हुई ? मेरा मन कैसा बना ? मेरे मन में क्या भावना आई ? गाली की अपने भीतर क्या प्रतिक्रिया हुई ? वह उसका निरीक्षण करे। उसी व्यक्ति ने सामने वाले व्यक्ति को गाली दी। वह देखे–इस व्यक्ति के भीतर क्या प्रतिक्रिया हो रही है ? जो अपने भीतर प्रतिक्रिया हुई क्या वैसी ही दूसरे के भीतर प्रतिक्रिया हुई ? या अन्य प्रकार की प्रतिक्रिया हुई ? व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया को पढ़े और उसके संदर्भ में पुनः अपने आपको देखे, देखता चला जाय।

भगवान् महावीर ने आत्म-तुला के सिद्धान्त का व्यवहार के संदर्भ में प्रतिपादन किया। जैन श्रावक की आचार-संहिता आत्म-तुला के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है। श्रावक की आचार-संहिता का एक नियम है–मैं अपने आश्रित प्राणी की आजीविका का विच्छेद नहीं करूंगा। चाहे वह नौकर है, कर्मचारी है या पशु है। जो आश्रित है, वह उसकी आजीविका का विच्छेद नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोषण-परिहार का सिद्धांत

आज शोषण की समस्या गंभीर है। यह स्वर उभर रहा है—शोषण नहीं होना चाहिए, श्रम का उचित मूल्य मिलना चाहिए। यदि हम अतीत को पढ़ें तो हमारा निष्कर्ष होगा—शोषण का विरोध सबसे पहले भगवान् महावीर ने किया। महावीर ने कहा—किसी के भक्तपान का विच्छेदन मत करो। जो व्यक्ति जिसे पाने का हकदार है, उसे तुम मत छीनो। वह श्रम करता है और तुम उसका हक छीन लेते हो, यह न्याय नहीं है। शोषण के परिहार का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है आत्म-तुला का सिद्धांत । किसी की आजीविका मत छीनो, किसी का शोषण मत करो। यदि इस सिद्धान्त पर अमल होता तो हड़तालें नहीं होतीं, मिलें बन्द नहीं होतीं। अहिंसा के माध्यम से मानवीय चेतना को जगाने का जितना काम महावीर ने किया उतना किसी ने किया या नहीं, यह भी अनुसंधान का विषय है। आचारांग सूत्र में अहिंसक समाज-रचना के सूत्र भरे पड़े हैं। क्रान्ति सूत्र है आचारांग। उसका एक सूत्र है—आदमी तराजू के एक पल्ले में अपने को बिठाए, दूसरे पल्ले में सामने वाले प्राणी को बिठाए और दोनों को समदृष्टि से तौले, आत्म-तुला की अन्वेषणा करे। महावीर के शब्दों में यही सच्ची खोज और अन्वेषणा है।

7. अहिंसा-अणुव्रत की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अहिंसा अणुव्रत की अनुप्रेक्षा करें-
   - ✦ "मैं किसी भी निरापराध प्राणी की हत्या नहीं करूंगा।"
   - ✦ "मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा।"
   - ✦ "मैं हिंसात्मक उपद्रवों में भाग नहीं लूंगा।"

   इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। — 10 मिनट
4. अनुचिन्तन करें-

"नैतिकता सामाजिक जीवन का अनिवार्य तत्व है। नैतिकता का विकास करने के लिए व्रत अथवा नियंत्रण की क्षमता का विकास आवश्यक है।

"नियंत्रण के अभाव में अनावश्यक हिंसा से बचा नहीं जा सकता।

"जिसकी नियंत्रण की क्षमता मजबूत होती है, वह व्यक्ति और समाज शक्तिशाली बनता है।

"जिसकी नियंत्रण की क्षमता कमजोर होती है, वह व्यक्ति और समाज कमजोर बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मैं नियंत्रण की क्षमता का विकास करूंगा, जिससे मैं अनावश्यक हिंसा से बच सकता हूं।" 10 मिनट

5. महाप्राण-ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें 2 मिनट

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

अहिंसा की संभावना

क्या अहिंसा-प्रधान धर्म समाज के लिए उपयोगी हो सकता है? समाज का आधार है—आर्थिक संघटन—अर्थ और पदार्थ। सामाजिक प्राणी के लिए यह कैसे संभव हो सकता है कि वह खेती, व्यवसाय का अर्जन न करे और यह भी कैसे संभव हो सकता है कि वह अपने अधिकृत पदार्थों या अधिकारों की सुरक्षा न करे। अर्थ और पदार्थ का अर्जन और संरक्षण हिंसा के बिना नहीं हो सकता? ये वे प्रश्न हैं जिनका अहिंसा को सबसे पहले सामना करना पड़ता है किन्तु इस मामले में अहिंसा पराजित नहीं है। जैन तीर्थंकरों ने उसका प्रारम्भ आवश्यकता के स्तर पर नहीं किया किन्तु संकल्प के स्तर पर किया। उन्होंने कहा कि तुम अहिंसा का प्रारम्भ उस बिन्दु पर करो जहां तुम्हारे जीवन की अनिवार्यताओं में बाधा न आये और तुम क्रूर व आक्रामक भी न बनो। आवश्यकता और क्रूरता एक नहीं है। इस विश्लेषण ने अहिंसा का पथ प्रशस्त कर दिया। मनुष्य के लिए यह संभावना उत्पन्न कर दी कि तुम घर में रहते हुए भी अहिंसक बन सकते हो। इस व्यावहारिक मार्ग से मनुष्य को मनुष्य बनने का अवसर मिला और उसकी सामाजिकता भी कुण्ठित नहीं हुई। उसे धार्मिक बनने का मौका मिला और उसके व्यवहार का भी लोप नहीं हुआ।

कुछ लोगों का अभिमत है कि अहिंसा ने सामाजिक व्यक्ति को कायर बना दिया। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। मेरी दृष्टि में उसने मनुष्य को कोमल बना दिया। उसकी क्रूरता का परिमार्जन कर दिया। यदि मनुष्य जंगली जानवर की भांति एक-दूसरे पर झपटता रहे तो अहिंसा की संभावना ही नहीं होती। समाज के लिए अहिंसा अत्यन्त उपयोगी है। मैं यह नहीं कहता कि समाज में उसका उपयोग असीम है, फिर भी जिस सीमा तक उसकी उपयोगिता है उसे हम क्यों नहीं स्वीकार करें?

मैं हिंसा और संग्रह को भिन्न नहीं मानता। ये दोनों एक ही वस्त्र के दो छोर हैं। आप संग्रह करें और हिंसा से बचना चाहें, यह कैसे संभव हो सकता है? हिंसा का सूत्र है—जितना संग्रह, उतनी हिंसा। और अहिंसा का सूत्र है—जितना असंग्रह, उतनी अहिंसा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का पराक्रम

कुछ लोग सोचते हैं कि अहिंसा ने समाज को कायर बनाया, फिर सामाजिक स्तर पर उसके उपयोग का आग्रह क्यों ? मुझे लगता है कि यह सोचना नितांत भ्रांतिपूर्ण है। अहिंसा और कायरता में कोई संबंध नहीं है। भीरू आदमी अहिंसक नहीं हो सकता । जो आदमी मौत से डरता है, वह अहिंसक नहीं हो सकता। अहिंसक वह होता है जो अभय है और जिसे मौत का भय नहीं सताता । फिर यह कैसे माना जाए कि अहिंसा व्यक्ति या समाज को कायर बनाती है। यह भ्रम इसलिए उत्पन्न हुआ कि सही अर्थ में अहिंसा में विश्वास नहीं करने वाले धार्मिकों ने अपनी दुर्बलता को अहिंसा की ओट में पाला-पोसा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उग्र हिंसावादी अहिंसा की अनुपयोगिता प्रमाणित करने के लिए यह प्रचारित करते हैं कि अहिंसा समाज को कायर बनाती है।

हिन्दुस्तानी इतिहास में मौर्य और गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहा जाता है। उस युग में सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्राट् अशोक जैसे व्यक्तियों ने अहिंसा को वह प्रतिष्ठा दी, जो कि साधारण व्यक्ति दे नहीं सकता। हम इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला देते हैं कि हिन्दुस्तान पारस्परिक घृणा और जातीय संघर्ष से कायर बना, पारस्परिक फूट और पारस्परिक आक्रमण से कायर बना और इन्हीं कारणें से वह परतंत्र बना । कहां वह मौर्य युग का बृहत्तर भारत और कहां विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद का परतंत्र भारत। भारत की परतन्त्रता कायरता से आयी और वह कायरता सामाजिक शक्ति के विघटन से आयी। एक संस्कृति में पले लोगों में फूट के बीज बोकर क्या कोई भी राज-नेता या धर्मनेता समाज या राष्ट्र को शक्तिशाली बनाये रख सकता है ? कभी नहीं रख सकता। हमें स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन करना चाहिए। जो विद्वान् हिन्दुस्तान की परतन्त्रता के लिए अहिंसा को दोषी ठहराते हैं, वे सचमुच स्वप्नलोक में हैं। यह तथ्य जितना सैद्धान्तिक है, उतना ही ऐतिहासिक है कि मारने वाला उतना वीर नहीं होता जितना कि मरने से नहीं डरने वाला होता है। दूसरी बात यह है कि जैनों और बौद्धों का हिन्दुस्तानी राजनीति पर लम्बी अवधि तक प्रभुत्व रहा। उन्होंने राष्ट्र की सुरक्षा और उसका विस्तार किया। जिस समय हिन्दुस्तान परतंत्र हुआ उस समय उस पर जैनों और बौद्धों का प्रभुत्व नहीं था । परतंत्र हिन्दुस्तान के अनेक राज्यों में जैन लोग दण्डनायक और सेनानायक रहे और उन्होंने अपने राज्य को अनेक आघातों से उबारा। इसलिए इस आरोप में सचाई प्रतीत नहीं होती कि अहिंसा समाज को कायर बनाती है।

अहिंसा

धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा का सबसे पहला स्थान है। अन्य व्रत तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी का प्राण न लेना मात्र ही अहिंसा नहीं है, अहिंसा है स्वयं का हिंसा से बचना। पग-पग पर जागरूक रहना कि मुझसे किसी प्रकार की हिंसा न हो जाय। अपने-आपको बचाने के लिए तो सभी सचेष्ट रहते हैं, पर हिंसा से अपने-आपको बचाने वाले विरले ही मिलेंगे। सब्जी छीलने वाला व्यक्ति भी खयाल रखता है कि कहीं हाथ न कट जाय। पर कौन ध्यान रखता है कि चलते-फिरते, उठते-बैठते मुझसे किसी प्रकार की हिंसा न हो जाए, मैं हिंसा का भागी न बन जाऊं।

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। चींटी तक मरने का अंदेशा पाते ही भाग खड़ी होती है। उसे जीवन प्रिय है। उसे क्या, सभी को जीवन प्रिय है।

किसी को मत मारिये, मत सताइये। प्रत्येक प्रवृत्ति में 'उपयोग' करिये। उपयोग रखिये। 'उपयोग' (सावधानी) रखने से कितने ही पापों से बचा जा सकता है। उपयोग परम-धर्म है। एक साधु उपयोगपूर्वक देख-देखकर चलता है। वह हिंसा से हर वक्त सचेष्ट रहता है। ऐसी हालत में यदि संयोगवश कोई जीव पांव के नीचे आकर दब भी गया तो वह उसके लिए हिंसक नहीं होगा। लेकिन एक साधु असावधानी से चलता है, इस स्थिति में कोई जीव न भी मरा तो भी वह हिंसक है। क्योंकि वह अहिंसा के प्रति लापरवाह है। उसने इसका खयाल नहीं रखा कि मुझसे किसी प्राणी का नाश न हो जाय। अतः इस मानव-जीवन का उपयोग करने के लिए त्रस तथा स्थावर सभी प्रकार के जीवों के प्रति समभाव रखना जरूरी है। एक गृहस्थ को अपने आवश्यक कार्यों के लिए हिंसा करनी पड़ती है। पर वह उसे हिंसा समझे, उसके लिए अनुताप करे और निरर्थक हिंसा से बचने का प्रयत्न करे तो वह अहिंसा की ओर गति कर सकता है।

8. सत्य-अणुव्रत की अनुप्रेक्षा

9. अचौर्य- अणुव्रत की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

(प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा का पुनराभ्यास करें।)

1. महाप्राण-ध्वनि — 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग — 5 मिनट
3. सफेद रंग का श्वास लें, अनुभव करें, श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। — 3 मिनट
4. ज्योति-केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करें। — 3 मिनट
5. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें- "मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।" इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार जप करें। — 10 मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. अनुचिन्तन करें–

"अप्रामाणिकता एक असाधारण आवेग है। यह बहुत बड़ी बुराई है। जो भावना से अपरिपक्व होता है, वही अप्रामाणिक व्यवहार करता है।"

"मैं अप्रामाणिकता की वृत्ति पर विजय पा सकता हूं। जिस क्षण अप्रामाणिक व्यवहार करने की बात मन में आएगी, उसी समय उसे बदल दूंगा।"

"मैं अपने आपको प्रामाणिकता की भावना से भावित करता रहूंगा। कोई भी परिस्थिति मुझे अप्रामाणिक नहीं बना सकती।"

"मेरे अपने विवेक को काम में लूंगा। आवेगों के आधार पर काम नहीं करूंगा।"

"मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं निरन्तर प्रामाणिकता का विकास करूंगा।"

10 मिनट

7. महाप्राण–ध्वनि के साथ प्रयोग संपन्न करें 2 मिनट

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

सत्य क्या है ?

दृष्टि और प्रतिपादन दो प्रकार के होते हैं–यथार्थ और अयथार्थ। जो तथ्य जिस रूप में है उसे उसी रूप में देखना और प्रतिपादित करना यथार्थ है। तथ्य के विपरीत दर्शन और प्रतिपादन अयथार्थ हो जाता है। सत्य का अर्थ है–यथार्थ का दर्शन और प्रतिपादन।

यथार्थ का दर्शन–यह दृष्टिकोण का सत्य है या सत्य का दृष्टिकोण है। यथार्थ का प्रतिपादन वाणी का सत्य है। सत्य का महाव्रत चरित्र का पक्ष है, व्यवहार का पक्ष है। सत्य का महाव्रती दूसरे को वही बात कहता है, जो यथार्थ होती है और यथार्थ भी अहिंसा धर्म के अनुकूल होती है।

सत्य का ऋजुता के साथ गहरा संबंध है। जो व्यक्ति ऋजु नहीं होता, वह सत्य का प्रतिपालन नहीं कर सकता। इस संदर्भ में सत्य का संबंध केवल वाणी से ही नहीं होता किन्तु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से हो जाता है। इस आधार पर सत्य की परिभाषा यह हो जाती है–

सत्य	असत्य
काया की ऋजुता	काया की वक्रता
वाणी की ऋजुता	वाणी की वक्रता
भाव की ऋजुता	भाव की वक्रता
संवादी-प्रवृत्ति (कथनी-करनी की समानता)	विसंवादी प्रवृत्ति (कथनी-करनी का विरोध)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन चारों अंगों का समग्रता से अनुशीलन करना ही सत्य का महाव्रत है। असत्य और मायाचार का निकट का संबंध है। जो कुशल मायावी नहीं होता, वह कुशल असत्य भाषी भी नहीं होता। सत्य में कोई छिपाव नहीं होता। असत्य-भाषी को बहुत छिपाना पड़ता है। उसे एक बड़ा-सा मायाजाल बिछाना पड़ता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने असत्य के लिए बार-बार 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया।

जिस प्रवृत्ति में माया है, दूसरों को ठगने की मनोवृत्ति है और असत्य है—यथार्थ को उलटने का प्रयत्न है, वहां हिंसा कैसे नहीं होगी? यह समूचा प्रयत्न हिंसा का प्रयत्न है? इसलिए असत्य बोलना हिंसा से भिन्न वस्तु नहीं है।

सत्य का उद्घाटन

यथार्थ घटना को उलटकर कहना जैसे असत्य है, वैसे ही अज्ञात सत्य का निरसन करना भी असत्य है। सत्य एक विशाल समुद्र की भांति हमारे सामने है। हम उसके तट पर खड़े हैं। उसका दृष्ट भाग अदृष्ट भाग की अपेक्षा बहुत ही थोड़ा है। जो दृष्ट है, आंखों के सामने है, उसी को पूर्ण मानकर अदृष्ट या परोक्ष के अस्तित्व को नकारने या निरस्त करने का प्रयत्न क्या असत्य नहीं है? एकांगी दृष्टिकोण सदा असत्य होता है, फिर चाहे उसके द्वारा किसी वस्तु का समर्थन करें अथवा खण्डन करें।

हमारा ज्ञान सीमित और परोक्ष है। इस स्थिति में अज्ञात का अस्वीकार कर क्या हम सत्य के साथ न्याय कर सकते हैं? जब कभी जिस किसी व्यक्ति ने अपने अल्प-ज्ञान के आधार पर सत्य का दरवाजा बन्द किया है, उसने अपने आपको असत्य की कारा में बन्दी बनाया है।

सत्य का शोधक बहुत ही विनम्र होता है। उसमें अज्ञात या अनुभूत के प्रति अभिनिवेश नहीं होता। वह सत्य की खिड़की को हमेशा खुला रखता है। क्या आज का कोई व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि मैंने सब कुछ जान लिया। यदि कोई जानने वाला हो तो उसकी बात किसे मान्य नहीं होगी? यदि कोई वैसा व्यक्ति नहीं है तो वह कैसे यह दावा कर सकता है कि मैं सोचता हूं उससे भिन्न जो है वह सारा-का-सारा झूठ का पुलिन्दा है। बहुत सारे लोग इस भाषा में सोचते हैं। लगता है कि उनका सत्य में रस नहीं है। उनका रस खण्डन और मण्डन से जुड़ा हुआ है। जिस व्यक्ति का रस खण्डन-मण्डन से जुड़ जाता है, सत्य उससे दूर भाग जाता है। सत्य की उपलब्धि के लिए बहुत शान्त, बहुत एकाग्र और बहुत ऋजु होना जरूरी है। ऐसा व्यक्ति आग्रह और अभिनिवेश से दूर रहकर सत्य के विशाल द्वार को उद्घाटित कर लेता है।

सत्य का अणुव्रत

कुछ विचारकों का अभिमत है कि सत्य का अणुव्रत नहीं हो सकता। उसे टुकड़ों में बांटा नहीं जा सकता। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है, किन्तु असत्य जीवन की अनिवार्यता नहीं है अत: उसका अणुव्रत नहीं हो सकता।

महाव्रत और अणुव्रत का विभाग केवल अनिवार्यता के आधार पर ही नहीं होता। प्रमाद भी उसके विभाजन का मुख्य हेतु है। हर आदमी के लिए यह संभव नहीं कि वह सतत जागरूक रहे। जो सतत जागरूक नहीं रहता, वह पूर्णत: सत्यवादी भी नहीं हो सकता। जहां प्रमाद आता है, वहां असत्य आ ही जाता है। आदमी मजाक में झूठ बोल लेता है। वह झूठ बोलने के उद्देश्य से झूठ नहीं है, फिर भी झूठ तो है ही।

असत्य बोलने का दूसरा हेतु अशक्यता है। हर व्यक्ति में एक साथ इतनी क्षमता विकसित नहीं होती कि वह एक ही चरण में असत्य बोलना छोड़ दे। जिनमें इस प्रकार की क्षमता विकसित नहीं होती, वे असत्य-परिहार का क्रमिक अभ्यास करते हैं। पहले अमुक-अमुक प्रकार का असत्य बोलना छोड़ते हैं। फिर उससे सूक्ष्म असत्य बोलना छोड़ते हैं। फिर सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वे पूर्णत: सत्यवादी हो जाते हैं। यह क्रमिक अभ्यास की प्रक्रिया ही तो अणुव्रत है। यह प्रमाद से अप्रमाद की ओर जाने का उपक्रम है। यह अशक्यता से शक्यता को विकसित करने का उपक्रम है। वास्तव में यह सत्य का विभाजन नहीं किन्तु उसका क्रमिक विकास और अभ्यास है।

सत्य का व्रत लेने वाला सम्पूर्ण सत्य का व्रत ले यही इष्ट है किन्तु जो ऐसा न कर सके वह कम-से-कम संकल्पपूर्वक असत्य बोलना अवश्य छोड़े। फिर धीमे-धीमे प्रमाद और अशक्यता जनित असत्य बोलना भी छोड़े। इस प्रकार असत्य से सत्य की ओर गति सुलभ हो जाती है।

सत्य और ऋजुता दोनों साथ-साथ चलते हैं। ऋजुता का विकास हुए बिना सत्य का विकास नहीं हो सकता। मानसिक ऋजुता संकल्प-मात्र से एक ही क्षण में प्राप्त होने जैसी वस्तु नहीं है। उसकी क्रमिक साधना है और वह दीर्घकालीन है। उसकी साधना ही वास्तव में सत्य की साधना है, इस वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर ही भगवान् महावीर ने सत्य के अणुव्रत का प्रतिपादन किया था।

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

अचौर्य की दिशा

हर वस्तु का अस्तित्व नैसर्गिक है। किन्तु उसका मूल्य उपयोगिता पर निर्भर है। वास्तव में वस्तु का उपयोग ही मूल्य है। समाज-रचना के आरम्भकाल में प्रश्न रहा कि वस्तु का उपयोग कौन करे ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामित्व की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था ने जन्म लिया। जो वस्तु जिसके स्वामित्व में हो, वह उसका उपयोग करने का अधिकारी है। दूसरा व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर सकता । क्योंकि व्यक्तिगत अधिकार में होने वाली वस्तु का जो चाहे वह उपयोग नहीं कर सकता।

इस व्यक्तिगत स्वत्व और व्यक्तिगत उपयोग की व्यवस्था को समाज ने मान्यता दी। कुछ लोग इस व्यवस्था का अतिक्रमण भी करते थे । वे दूसरों के अधिकार में होने वाली वस्तु को उठा लेते, अपने अधिकार में ले लेते और उसका उपयोग करते। इस प्रवृत्ति को चोरी की संज्ञा मिली और इसे बहुत ही हेय कार्य समझा गया ।

दूसरे की वस्तु को उठा लेना उसके अधिकार का हनन है। दूसरे की वस्तु को उठाने वाला उसके मन को चोट पहुंचाता है, इसलिए चोरी हिंसा होने के कारण यह धार्मिक दृष्टि द्वारा भी त्याज्य है। अपने अधिकार और अपनी सीमा में रहना, यह धर्म की दिशा में जाने का प्रयत्न है। दूसरे के अधिकार का अपहरण और उसकी सीमा में जाने का प्रयत्न धर्म की प्रतिकूल दिशा है। इसीलिए हर धर्म के प्रवर्तक ने चोरी का निषेध कर अचौर्य-व्रत की स्थापना की। जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित व्रत-व्यवस्था में अचौर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पांच महाव्रतों में तीसरा महाव्रत अचौर्य है और पांच अणुव्रतों में अचौर्य तीसरा अणुव्रत है।

व्रती मनुष्य दूसरे के स्वत्व का अपहरण नहीं करता, क्योंकि उसमें आत्मौपम्य का भाव प्रखर होता है। वह अपने मन की वृत्तियों की दूसरों की मानसिक वृत्तियों से तुलना करता है। वह जिन प्रवृत्तियों को अपने लिए इष्ट नहीं समझता, अपने अधिकार या स्वत्व का अपहरण स्वयं को प्रिय नहीं है, तब दूसरों को वह कैसे प्रिय हो सकता है? इस आत्म-तुला के आधार पर वह अचौर्य की दिशा में प्रयाण करता है।

अप्रामाणिकता का उत्स

जिस दिन मनुष्य में अनधिकृत वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई, उसी दिन उसमें अप्रामाणिकता का बीज अंकुरित हो गया। प्रामाणिकता का अर्थ है—अधिकृत का ग्रहण और अनधिकृत का प्रत्याख्यान। आकांक्षाशील मनुष्य इस मर्यादा को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह अप्रामाणिक हो जाता है।

अप्रामाणिकता अपने आप में चोरी है। वह वाणी की भी होती है, चिन्तन और कर्म की भी होती है। संस्कृत साहित्य में प्रामाणिक व्यक्ति को महात्मा और अप्रामाणिक व्यक्ति को दुरात्मा माना गया है। एक कवि ने लिखा है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

–जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में एकता होती है, सामंजस्य होता है, वह महान् आत्मा है। जिस व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में विसंगति या विसंवाद होता है, वह दुरात्मा है।

मन, वाणी और कर्म की संगति प्रामाणिकता है और उनकी विसंगति अप्रामाणिकता है। प्रामाणिकता अचौर्य है और अप्रामाणिकता चोरी है। हमारे तत्त्व-चिंतकों ने कभी-कभी प्रामाणिकता की बहुत कड़ी कसौटी प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है–

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति॥

–जितने से पेट भरे उतना ही मनुष्य के लिए अधिकृत है। उतना ही उसका स्वत्व है। शेष उसका नहीं है, दूसरों का है। जो व्यक्ति उससे अधिक अपने अधिकार में लेना चाहता है, वह चोर है, दण्ड का अधिकारी है।

प्रामाणिकता या अचौर्य की यह परिभाषा बहुत ही अन्तिम कोटि की परिभाषा है। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधिक संग्रह की दिशा में गतिशील मनुष्य, प्रामाणिक व्यक्ति अधिक संग्रह नहीं कर सकता।

प्रामाणिकता का आचरण

स्वामी विवेकानन्द अमरीका गये। उसने किसी अमरीकन ने पूछा– "महात्मा गांधी की विशेषता क्या है ? क्या वे बहुत बड़े धनपति हैं या सत्ताधीश हैं ?"

विवेकानन्द ने मुस्कराकर कहा– "वे धन और सत्ता दोनों से अकिंचन हैं।"

"तो फिर उनकी क्या विशेषता है ?" उस व्यक्ति ने पूछा।

विवेकानन्द ने कहा– महात्मा गांधी में तीन विशेषताएं उन्हें भारतीय धर्म से प्राप्त हुई हैं। वे ये हैं–

1. प्रामाणिकता
2. सत्याग्रह
3. सादगी

इन तीनों में पहली विशेषता प्रामाणिकता है। हर व्यक्ति, समाज या देश के चरित्र की ऊंचाई का मानदण्ड प्रामाणिकता से होता है। हिन्दुस्तान अपने अतीत में इस मानदण्ड से बहुत उन्नत रहा। लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले की घटना है– एक साहूकार मकान बनवा रहा था। उसकी नींव खुद रही थी। मजदूरों ने आश्चर्य के साथ देखा कि नींव की खुदाई में कोई चीज चमक रही है। उन्होंने थोड़ी खुदाई और की तथा साफ-साफ देखा कि एक बड़े पात्र में स्वर्ण-मुद्राएं भरी पड़ी हैं। वे तत्काल दौड़े और मुख्य चेजारे (गृह-शिल्पी) के पास पहुंचे। स्वर्ण-मुद्रा के पात्र की बात उसे बतलाई। उसने गृहस्वामी से कहा और गृहस्वामी ने राजा से। मजदूर चाहते, तो उस पात्र को हड़प लेते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और चेजारा चाहता, तो दोनों मिलकर हड़प लेते। सेठ चाहता तो तीनों मिलकर बांट लेते। राजा तक बात पहुंचती ही नहीं। राजा चाहता, तो अकेला ही उस पर अधिकार कर लेता और किसी को कुछ नहीं देता। किन्तु मजदूरों ने कहा– "इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। इस पर गृह-शिल्पी का अधिकार हो सकता है।"

गृह-शिल्पी ने कहा– "इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह भूमि मकान-मालिक की है। इस पर उसी का अधिकार हो सकता है।"

गृहस्वामी ने कहा– "भूमि से निकली हुई चीज पर राजा का ही अधिकार हो सकता है।"

राजा ने भी उस पर अपना अधिकार स्वीकार नहीं किया। क्योंकि उसकी खुदाई बहुत गहरी नहीं थी और वह व्यक्तिगत भूमि थी। फलतः कोई भी उसे लेने को तैयार नहीं हुआ।

प्रामाणिकता के आचरण का यह कितना बड़ा उदाहरण है ! "जिस पर मेरा अधिकार नहीं, उसे में नहीं ले सकता", यह कहकर स्वर्ण-मुद्राओं को ठुकराने वाले मजदूर, गृह-शिल्पी, साहूकार और राजा इसी भारत की मिट्टी में उत्पन्न हुए थे।

10. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण-ध्वनि 2 मिनट
2. कायोत्सग 5 मिनट
3. शांति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की अनुप्रेक्षा करें–

"मैं ब्रह्मचर्य तथा इन्द्रिय-संयम का क्रमिक विकास करूंगा।"

इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। 10 मिनट

"पवित्रता मानव-जीवन का उच्च तत्त्व है। पवित्रता के विकास के लिए इन्द्रिय-संयम का विकास आवश्यक है।

"इन्द्रिय संयम के अभाव में काम-वासना के अतिरेक से बचा नहीं जा सकता।

"जिसकी संयम की शक्ति दृढ़ होती है, वह अपने चरित्र को अक्षुण्ण रख सकता है।

"जिसकी संयम की शक्ति कमजोर होती है, उसका चरित्र गिर जाता है।

"मैं संयम की शक्ति का विकास करूंगा। जिससे मैं काम-वासना के अतिरेक से बच सकता हूं।" 10 मिनट

5. महाप्राणध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। 2 मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है।)

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

इंद्रिय और मन के विकेन्द्रित होने का अर्थ है– मनुष्य की शक्ति का विकेन्द्रित होना। उनके केन्द्रित होने का अर्थ है– शक्ति का केन्द्रित होना। पदार्थ या व्यक्ति के प्रति हमारी आसक्ति होती है, तब शक्ति पर आवरण आता है। उनके प्रति अनासक्ति होते ही वह आवरण हट जाता है। ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा फल है –अनासक्ति या अनासक्ति का बहुत बड़ा फल है– ब्रह्मचर्य। जैसे-जैसे अनासक्ति विकसित होती है वैसे-वैसे ब्रह्मचर्य विकसित होता है और जैसे-जैसे ब्रह्मचर्य विकसित होता है वैसे-वैसे अनासक्ति विकसित होती है।

मन जितना कामवासना में उलझता है, उतना ही उसका संकल्प दुर्बल होता है। वह जितना स्थिर-शांत रहता है, उतना ही संकल्प प्रबल होता है।

वीर्य क्षीण होने से चित्त की चंचलता बढ़ती है और जब वह ओजरूप में बदल जाता है तब चित्त स्थिर और शांत होता है। धृति, तितिक्षा, शांति, मैत्री और प्रतिभा की कुशाग्रीयता– ये स्थिर-शांत चित्त में ही जन्म लेते हैं। उदाहरण के रूप में कुछ नाम पहले प्रस्तुत किये जा चुके हैं। उसी श्रृंखला में आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शंकर और स्वामी दयानन्द के नाम उल्लिखित किए जा सकते हैं।

शारीरिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का कम महत्त्व नहीं है। भोग-काल में श्वास की गति सामान्य स्थिति से चौगुनी हो जाती है। उससे स्वास्थ्य और दीर्घायु दोनों प्रभावित होते हैं। इसलिए आयुर्वेद में अब्रह्मचर्य को अनायुष्य और ब्रह्मचर्य को आयुष्य कहा गया है। वर्तमान चिकित्सक पचास वर्ष की आयु के बाद ब्रह्मचारी रहने में अधिक लाभ की संभवना का निरूपण करते हैं। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में पचास पर्ष के बाद वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया गया है। उसके पीछे भी संभव है यह दृष्टि रही हो।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से ब्रह्मचर्य का महत्त्व असंदिग्ध है, भगवान महावीर ने इसे संभवत: सर्वाधिक महत्त्व दया है। भगवान् ने कहा–

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा॥

–"जो मनुष्य स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियां वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती हैं जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसी बड़ी नदी।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य की शक्ति

कई प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें यह वासना जागती ही नहीं। यह तो बहुत आगे की भूमिका है। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है किन्तु सताती नहीं और एक वृत्ति वह होती है, वासना जागती है और निरन्तर सताती रहती है।

अति-कामुकता, कामुकता और अकामुकता– ये तीन अवस्थाएं बन जाती हैं। गृहस्थ के लिए अकामुकता वाली बात तो होती नहीं। वह कोई संन्यासी तो नहीं जो बिलकुल काम का सम्पर्क न करे। अब शेष दो वृत्तियां बचती हैं। एक तो काम का सेवन करता है और वासना उसे विवश कर देती है, उसे सताती है। वह सताए नहीं। व्यक्ति नियमन कर सके, इतनी क्षमता तो हर व्यक्ति में जागनी चाहिए। उस पर हमारा नियंत्रण रहे, हम उसके नियंत्रण में न जाएं। साधना का रहस्य यही है कि वृत्तियां हम पर हावी न हों, वे हमारी स्वामी न बनें। इतना ही तो करना है, बस। आप वीतराग की दृष्टि से कभी न सोचें कि ध्यान करेंगे तो संसार कैसे चलेगा ? सब ब्रह्मचारी हो जाएंगे, यह भी अतिकल्पना की बात होगी। यह कभी संभव नहीं है। और बड़े-बड़े संन्यासियों के लिए भी कितनी कठिनाई की बात होगी, यह भी जानते हैं। इस बात की तो आप चिंता न करें। यह सोचें कि यह बड़ी जटिल वृत्ति है, इस पर नियंत्रण करने की थोड़ी-सी भी वृत्ति जाग जाए। नियंत्रण में दो बाते हैं– एक नियंत्रण होता है दमन से, एक नियंत्रण होता है उदात्तीकरण से। दमन से और अधिक प्रतिक्रिया होती है और पागलपन वाली बात तब आती है जब आदमी वृत्ति को जबरदस्ती रोकता है, नियंत्रण करता है, दमन करता चला जाता है। दमन की प्रतिक्रिया-स्वरूप चित्त में क्षोभ पैदा होता है, एक प्रकार का पागलपन भी आ जाता है। पूरा नहीं तो आधा पागल बन जाता है। जो लोग शादी नहीं करते, उन्हें विक्षिप्तावस्था में हमने देखा है। यह स्थिति आ जाती है। अतिनियंत्रण के द्वारा। मैं जिस नियमन की बात कर रहा हूं वह जबरदस्ती दबाना नहीं है, किन्तु उस वृत्ति का उदात्तीकरण करना है। उस वृत्ति को इतना विशाल बना दिया जाता है व्यापक प्रयोग के द्वारा कि जिससे सताने की बात समाप्त हो जाती है। इसमें दमन नहीं होता, जबरदस्ती नहीं रोका जाता, किन्तु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे वे हार्मोन्स कम स्रावित होते हैं और अपना कम प्रभाव जताते हैं। यह सारा साधना के द्वारा संभव होता है और इसमें चैतन्य-केन्द्रों का ध्यान बहुत सहयोगी बनता है।

निष्कर्ष की भाषा में ब्रह्मचर्य का अर्थ है– सब इन्द्रियों का संयम और मन का संयम। जो व्यक्ति जननेन्द्रिय का संयम करना चाहता है उसे विशेष ध्यान देना होगा रसनेन्द्रिय के संयम पर। इसलिए उस स्थान का नाम भी प्रेक्षाध्यान में है-- स्वास्थ्य केन्द्र। यानी वह स्वास्थ्य का केन्द्र है। आदमी उतना ही मन से और भावना से स्वस्थ होगा जितना कि स्वास्थ्य केन्द्र उसका अधिक नियमित होगा, वश में होगा, सधा हुआ होगा। जीभ पर संयम करना, जीभ को स्थिर करना, जीभ को शिथिल करना और मौन करना– ये सब उसमें सहायक बनते हैं, इन सबसे सहायता मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य की तीन अवस्थाएं हैं–

1. पूर्ण ब्रह्मचर्य।
2. सीमित ब्रह्मचर्य।
3. अब्रह्मचर्य– उच्छृंखलता।

ये तीन मार्ग हैं। एक मार्ग को तो छोड़ना है। उच्छृंखलता को छोड़ना है। दो मार्ग शेष रह जाते हैं। वह अपनी शक्ति पर निर्भर है। जिसको यह लगे कि मैं पूरे ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता हूं तो सबसे अच्छी बात है। जिसको लगे कि यह संभव नहीं है तो फिर सीमित ब्रह्मचर्य की बात हो सकती है। इसे कहा जाता है अणुव्रत की भाषा में 'स्वदार-सन्तोष'– अपनी पत्नी में सन्तोष करना। न वेश्यागमन, न परस्त्रीगमन, न कन्यागमन। इनका बिलकुल परित्याग करना। यह एक प्रकार से सीमित ब्रह्मचर्य हो गया।

जब हमारा दृष्टिकोण साफ हो जाता है और जब हम स्वास्थ्य की दृष्टि से – शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से– विचार करते हैं तो इन दोनों में से एक रास्ते का चुनाव तो हो सकता है, किन्तु तीसरे रास्ते का चुनाव तो सर्वथा नहीं हो सकता। वह हमारे लिए सर्वथा वर्जनीय होता है।

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य के इन पहलुओं पर शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से तथा सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं किया, वे ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत गलतियां और भ्रान्तियां पालते हैं। शारीरिक दृष्टि से जैसे मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि यदि आदमी काम-भोग का सेवन नहीं करता है तो भी शरीर स्वस्थ नहीं रहता। यह एक बड़ी भ्रान्ति है। जो लोग ब्रह्मचारी रहते हैं वे बहुत स्वस्थ रह सकते हैं। पर ठीक यही बात है कि उसके साथ मानसिक स्तर पर विचार करना होगा कि शरीर से तो वह अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर रहा है, पर मन से निरन्तर उसका सेवन कर रहा है तो वह शरीर से बच रहा है, किन्तु मन बिलकुल खुला है, तो पागलपन जरूर आ जाएगा, कठिनाई पैदा होगी उसके साथ-साथ। जब शारीरिक संयम करना है तो पहले मानसिक संयम करने की बात सीखनी होगी कि मन से कैसे सयंम करें। और मन से संयम करने की बात सीखनी है तो आध्यात्मिक संयम की बात सीखनी होगी कि भीतर के स्रावों को, भीतर के रसायनों को कैसे नियंत्रित कर सकें एवं विद्युत-प्रवाहों को कैसे संतुलित कर सकें। यह साधना करनी होगी। आध्यात्मिक साधना होगी तो मानसिक साधना होगी और मानसिक साधना होगी तो शारीरिक साधना होगी।

ब्रह्मचर्य के द्वारा उपलब्ध होती है– सहिष्णुता की शक्ति, बुद्धि को प्रखरता यानी सूक्ष्म-सत्य तक पहुंचने की शक्ति। ब्रह्मचारी में इतना धैर्य होगा कि वह हर बात को सहन कर लेगा, वह अधीर नहीं बनेगा। धीर की परिभाषा करते हुए कवि कहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है– विकारहेतौ सति विक्रियंते येषां न चेतांसि त एव धीरा– विकार का निमित्त होने पर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता वह धीर होता है। यही धृति है। ब्रह्मचर्य के द्वारा धृति का विकास होता है, मनोबल का विकास होता है। लोग आश्चर्य करते हैं कि गांधी का एक मुट्ठी भर हड्डी का शरीर था। इतना दुबला-पतला, सुन्दर भी नहीं थे, चमकता हुआ चेहरा भी नहीं था किन्तु मनोबल इतना था कि बड़ी-से-बड़ी सत्ता के सामने कभी झुकने या डरने की बात नहीं आती थी। जहां मरने की बात होती वे सबसे आगे होते, कभी मन में यह भय नहीं होता कि मैं मारा जाऊंगा। ब्रह्मचर्य से आत्म-विश्वास, मनोबल पैदा होता है। यह हमारी सूक्ष्मशक्ति है ब्रह्मचर्य की। इसके द्वारा आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। उसका शरीर से कोई बहुत संबंध नहीं है, गहरा सम्बन्ध नहीं होगा, नाड़ी-संस्थान बहुत मजबूत रहेगा। स्नायुशक्ति मजबूत रहेगी। मस्तिष्क की शक्ति मजबूत रहेगी और बहुत सक्रियता रहेगी। उसका संबंध आन्तरिक शक्तियों के विकास से अधिक है, शारीरिक शक्तियों के विकास से कम है।

11. अपरिग्रह अणुव्रत की अनुप्रेक्षा

प्रयोग-विधि

1. महाप्राण ध्वनि 2 मिनट
2. कायोत्सर्ग 5 मिनट
3. विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अपरिग्रह अणुव्रत की अनुप्रेक्षा करें–

"मैं व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा करूंगा।"

–इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर उसका नौ बार मानसिक जप करें। 10 मिनट

4. अनुचिन्तन करें–

"नैतिकता के विकास के लिए इच्छाओं का अल्पीकरण आवश्यक है। असीमित इच्छाएं ही अतृप्ति एवं अशांति का मूल कारण है। मुझे इच्छाओं के अल्पीकरण की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए जिससे मैं जीवन में आन्तरिक शांति और सुख का अनुभव कर सकूं।"

"असीमित अर्थ-संग्रह और भोगोपभोग अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं। इससे समाज में विषमता पैदा होती है। व्यक्ति क्रूर आचरण और पाशवीय व्यवहार करने पर ऊतारू हो जाता है। मैं अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में संतुष्ट रहकर अपना जीवन बिताने का प्रयत्न करूंगा।"

"मुझे नैतिकता का जीवन जीना है, इसलिए यह आवश्यक है कि मैं परिग्रह-वृत्ति का नियंत्रण करूं।" 10 मिनट

5. महाप्राण-ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। 2 मिनट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय और मनन

(अनुप्रेक्षा के बाद स्वाध्याय और मनन आवश्यक है)

अपरिग्रह और विसर्जन

ममत्व या मूर्च्छा आन्तरिक परिग्रह है और वस्तु बाह्य परिग्रह। इन दोनों में निकट का संबंध है। मूर्च्छा को छोड़ने वाला बाह्य वस्तु को छोड़ता है और बाह्य वस्तु को छोड़ने वाला यदि मूर्च्छा को छोड़े तो उसे छोड़ने का अर्थ शून्य हो जाता है। समग्र आकार में मूर्च्छा और वस्तु दोनों का विसर्जन अपरिग्रह बनता है।

परिग्रह-विसर्जन की प्राचीन परम्परा यह रही है कि जो पास में होता है, उससे अधिक संग्रह न करने का व्रत स्वीकार किया जाता। सम्प्रति इस परम्परा में कुछ परिवर्तन आया है। कुछ लोग, जिनके पास एक लाख रुपया है, एक करोड़ से अधिक परिग्रह न रखने का व्रत लेते हैं। यह पद्धति गम्भीरता से सोचने पर अर्थवान् नहीं लगती। परिग्रह-विसर्जन का फलित संयम होना चाहिए और उसकी भूमिका व्यावहारिक तथा स्पष्ट होनी चाहिए।

कुछ लोग वार्षिक आय में से परिग्रह का विसर्जन करते हैं और कुछ लोग अपनी संगृहीत पूंजी में से भी विसर्जन कर देते हैं। विसर्जन के अनेक रूप हो सकते हैं। अर्थार्जन में अप्रामाणिक व्यवहार न करना, अशुद्ध साधनों को काम में न लेना भी इच्छा का विसर्जन है और जो इच्छा का विसर्जन है वह परिग्रह का ही विसर्जन है।

कभी-कभी प्रश्न आता है कि हम लोग अर्जन भी करते रहें और विसर्जन भी करते चले जाएं, यह क्या है ? यदि विसर्जन ही करना है तो फिर अर्जन क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर अपने आप में ही ढूंढा जा सकता है। जिन्हें लगे कि हमारे लिए अर्जन आवश्यक नहीं है, उन्हें विसर्जन करने के लिए अर्जन की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। जो लोग अर्जन को आवश्यक मानते हैं, उन्हें विसर्जन की बात को कभी नहीं भूलना चाहिए। जहां अर्जन के साथ विसर्जन की क्षमता उत्पन्न नहीं होती, वहां संग्रह और उसका मोह तीव्र हो जाता है, इसलिए जो अर्जन को न छोड़ सके, उसे विसर्जन का अभ्यास- अपनी आय में से कुछ-न-कुछ छोड़ने का संकल्प या संयम- अवश्य करना चाहिए जिससे उसकी मूर्च्छा सघन न हो। यह विसर्जन मूर्च्छा को बीच-बीच में भंग करते रहने की प्रक्रिया है, प्राप्त को त्यागते रहने का प्रयत्न है। ऐसा करने वाला किसी दूसरे के लिए नहीं करता, किन्तु अपनी मूर्च्छा को ही सघन या एकाधिकार प्राप्त न होने देने के लिए करता है।

यह विसर्जन की परम्परा यदि व्यापक हो जाए, तो अहिंसा और अपरिग्रह के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रांति का सूत्रपात हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह का मूल

मनुष्य में जिजीविषा है– जीने की इच्छा है और उसमें कामना है। इन दोनों की पूर्ति के लिए वस्तुएं आवश्यक होती हैं। आगे चलकर आवश्यकता स्वयं कामना बन जाती है। कामना में विलीन हो जाती है। इस पृष्ठभूमि पर परिग्रह या संग्रह का जन्म होता है।

संग्रह या परिग्रह हिंसा से भिन्न नहीं है। जहां संग्रह है, वहां, निश्चित हिंसा है। जहां परिग्रह है, वहां निश्चित हिंसा है। परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है, किन्तु इतना बड़ा रूप है कि उसका अस्तित्व बहुत शक्तिशाली हो गया है। इसीलिए हिंसा और परिग्रह एक युगल बना हुआ है। भगवान् महावीर ने कहा है– जो व्यक्ति हिंसा और परिग्रह को नहीं छोड़ सकता वह धर्म नहीं सुन पाता, सम्यग्दृष्टि नहीं होता और धर्म का आचरण नहीं कर पाता। इस सिद्धांत में बहुत सचाई है। परिग्रह का आशय समझने पर वह स्वयं प्रकट हो जाता है।

परिग्रह का मूल कहां है ? यह खोज लम्बे समय तक चलती रहती है। भिन्न-भिन्न तत्त्ववेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। भगवान् महावीर का विचार है कि परिग्रह का मूल मूर्च्छा है, आसक्ति है। वस्तु परिग्रह हो सकती है किन्तु वह परिग्रह का मूल नहीं है। वह मूर्च्छा से जुड़कर ही परिग्रह बनती है। मूर्च्छा अपने-आप में परिग्रह है चाहे वस्तु हो या न हो। वस्तु अपने-आप में परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा द्वारा संगृहीत होकर परिग्रह बनती है। मूर्च्छा के होने पर संगृहीत वस्तु भी परिग्रह बनती है इसलिए परिग्रह के दो आकार बन जाते हैं– भीतरी और बाहरी। मूर्च्छा भीतरी परिग्रह है और मूर्च्छा द्वारा संगृहीत वस्तु बाहरी परिग्रह है।

साधारणतया परिग्रह छोड़ने में वस्तु छोड़ने को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि प्राथमिकता दी जानी चाहिए मूर्च्छा छोड़ने को। वस्तु छूटती है और मूर्च्छा नहीं छूटती है, कोरा बाहरी आकार कम होता है। मूर्च्छा छूटती है और बाहरी वस्तु नहीं छूटती, फिर भी परिग्रह छूट जाता है। सच्चाई यह है कि मूर्च्छा के छूटने पर वस्तु का संग्रह हो ही नहीं सकता। जीवन चलाने भर कुछ लिया जा सकता है किन्तु संग्रह या संचय जैसी वृत्ति को उभरने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। कठिनाई यह है कि बहुत सारे लोग मूल रोग की चिकित्सा नहीं करते। चिकित्सा करते हैं उसके परिणाम की। वस्तु-संग्रह की चिकित्सा मूल रोग की चिकित्सा नहीं है। यह बहुत स्थूल बात है और समाजवाद इस स्थूल बात को ही महत्त्व दे रहा है। धर्म के लिए यह अनादृत नहीं है किन्तु पर्याप्त भी नहीं है, इसलिए वह मूर्च्छा-रोग की चिकित्सा पर अधिक बल देता है, आसक्ति की ग्रंथि को खोलने का अधिक प्रयत्न करता है। उसके खुल जाने पर संग्रह का इलाज अपने-आप हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह की चेतना का विकास

जहां देह है वहां वस्तु का उपभोग होता ही है। देह छूटता नहीं है और वस्तु का उपभोग किए बिना वह रहता नहीं है इसलिए वस्तु का उपभोग अनिवार्य हो जाता है। यदि वस्तु और उसका उपभोग ही परिग्रह हो तो कोई अपरिग्रह हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि केवल वस्तु पास में न होने या न रखने मात्र से कोई अपरिग्रही नहीं होता। अपरिग्रही वह होता है जिसमें अपरिग्रह की चेतना विकसित हो जाती है।

अपरिग्रह की चेतना का विकास एकत्व की भावना उदित होने पर होता है। जो व्यक्ति वस्तुओं के संयोग और वियोग के सिद्धांत को जानता है, वह जानता है कि आत्मा अकेली है, उसके अधिकार में जितने पदार्थ हैं वे सब संयुक्त हैं, एकत्र किए हुए हैं, संगृहीत हैं, उससे भिन्न हैं और निश्चित रूप से एक दिन वियुक्त हो जाने वाले हैं। **'संयोगा विप्रयोगान्ता:'**– संयोग की अन्तिम परिणति वियोग है। यह ध्रुव सत्य है। इस एकत्व भावना से ममकार का विसर्जन और अपरिग्रह की चेतना फलित होती है।

एक भिखारी के पास कुछ भी नहीं है और एक चक्रवर्ती के पास बहुत कुछ है। भगवान् महावीर से पूछा गया– "भंते! क्या वह भिखारी अपरिग्रही है और क्या वह चक्रवर्ती बहुपरिग्रही है ?" महावीर ने कहा– "आकांक्षा की दृष्टि से भिखारी और चक्रवर्ती दोनों परिग्रही हैं। भिखारी के पास वस्तुएं नहीं हैं पर उन्हें पाने की आकांक्षा चक्रवर्ती से कम नहीं है। अपरिग्रही वह होता है जिसकी आकांक्षा विसर्जित हो जाती है।" महावीर ने उस व्यक्ति को त्यागी नहीं कहा जो विवशता में पदार्थों का उपभोग नहीं कर पा रहा हो –

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

–जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियों और पलंगों को परवश होने से (या उनके अभाव में) सेवन नहीं करता वह त्यागी नहीं कहलाता।

जिस व्यक्ति में त्याग की चेतना निर्मित हो जाती है, वही सही अर्थ में त्यागी होता है–

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

–त्यागी वह कहलाता है जो कांत और प्रियभोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है।

त्यागी ही ब्रह्मचारी होता है और त्यागी ही अपरिग्रही। सत्य यह है कि मूर्च्छा भंग होने पर चेतना जागृत हो जाती है। वह सर्वात्मना प्रकाशित हो जाती है। फिर उसके खण्ड नहीं किए जा सकते। चेतना का एक कोना जागृत और एक सुप्त–यह विभाजन नहीं किया जा सकता। उसमें हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इनमें से एक भी नहीं टिक पाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह और त्याग

संग्रह का अर्थ है– धर्म का नाश और पाप का पोषण।

धर्म कहता है– पूंजी अनर्थ का मूल है। अन्याय का अखाड़ा है। धर्म की धन से नहीं पटती। धर्म और धन में आपस में पूर्व-पश्चिम का विरोध है। धर्मक्षेत्र में धनी और धन की आशा रखने वाले दरिद्र का महत्त्व नहीं। वहां महत्त्व है अपरिग्रही और त्यागी का। इसीलिए दरिद्र और त्यागी अकिंचन होते हुए भी एक नहीं होते।

दान करने के लिए भी संग्रह की भावना नहीं होनी चाहिए। दुनिया किसी के दान की भूखी नहीं, उसे संग्रह पर रोष है। यदि पूंजीपति इसे नहीं समझ पाये तो चालू वेग न अणुबम से रुकेगा, न अस्त्र-शस्त्रों के वितरण से।

भारतीय तत्त्ववेत्ता हजारों वर्ष पहले इसके मूल तक पहुंच चुके। उन्होंने बताया कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता का विकास इसलिए नहीं होता है कि मनुष्य के हृदय में 'मूर्च्छा' है, बाहरी वस्तुओं के प्रति ममता है, आकर्षण है। बाहरी वस्तुएं दुःख नहीं देतीं, दुःख देता है उनके प्रति होने वाला आकर्षण। जब तक इच्छाओं को सीमित करने की बात का यथेष्ट प्रचार नहीं होगा, तब तक पूर्ति के साधनों का समाजीकरण केवल बाह्य उपचार होगा। व्यक्ति की स्थिति राष्ट्र ले लेगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषक बन जायेगा। समस्या का ठीक समाधान नहीं हो सकेगा।

मूर्च्छा से संग्रह होता है, संग्रह से श्रम में कमी होती है, वैषम्य बढ़ता है। ऐसी स्थिति में समतावाद का सूत्र है– मूर्च्छा का त्याग। यदि दुनिया वास्तव में युद्ध से डरती है, तो वह इस पथ पर आए। दरिद्र और पूंजीपति दोनों त्याग की प्रशस्त भूमिका पर आरोहण करें।

चतुर्थ अभ्यास

रंगों का ध्यान

1. शांति-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान

शांति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। वहां पर मयूर की गर्दन की भांति नीले रंग का ध्यान करें। अनुभव करें "मेरे भीतर विधायक भाव का विकास हो रहा है।" 5 मिनट

2. दर्शन-केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान

दर्शन केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। वहां पर चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें। अनुभव करें, "मेरी आध्यात्मिक चेतना का विकास हो रहा भाव-नियंत्रण की क्षमता का विकास हो रहा है।" 5 मिनट

❑ ❑ ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org